2022

वर्ष – 11, अंक – 11 ISSN - 0975-2560 पंजीयन क्र. 04/14/01/08825/06

पारमिता

2022

सम्पादक

प्रो. श्रीकान्त मिश्र

दर्शन परिषद् (मध्यप्रदेश एवं छत्तीसगढ़)

कार्यसमिति

डॉ. राकेश सोनी
अध्यक्ष
दर्शन विभाग
इ.गाँ. जनजातीय राष्ट्रीय विश्वविद्यालय,
अमरकंटक (म.प्र.)

प्रो. श्रीकान्त मिश्र
महासचिव
दर्शन विभाग
अ.प्र. सिंह विश्वविद्यालय,
रीवा (म.प्र.)

डॉ. रंजना शर्मा
उपाध्यक्ष
दर्शन विभाग
दुर्गा महाविद्यालय, रायपुर (छ.ग.)

डॉ. ज्योत्स्ना द्विवेदी
कोषाध्यक्ष
शास. केदारनाथ महाविद्यालय
मऊगंज, रीवा (म.प्र.)

डॉ. सत्यप्रकाश पाण्डेय
सहसचिव
दर्शन विभाग
शास.अटल बिहारी बाजपेयी
महाविद्यालय, इन्दौर (म.प्र.)

डॉ. तिखे शाम गणपत
सहसचिव
साँची युनिवर्सिटी ऑफ बौद्ध
इण्डिक स्टडीज, बारला
रायसेन (म.प्र.)

श्री भगवानदास नामदेव
सहसचिव
दर्शन विभाग
महाराजा छत्रसाल बुंदेलखण्ड
विश्वविद्यालय, छतरपुर (म.प्र.)

सम्पादक मण्डल

1. डॉ. प्रदीप खरे, भोपाल
2. डॉ. विवेक पाण्डेय, वाराणसी
3. डॉ. अवनीश चन्द पाण्डेय, बलिया
4. डॉ. सिन्धु पौडियाल, त्रिपुरा
5. डॉ. देवदास साकेत, रीवा
6. डॉ. सूर्यप्रकाश द्विवेदी, रीवा
7. डॉ. रश्मि पटेल, जबलपुर
8. डॉ. रश्मि सिंह परिहार, रीवा
9. डॉ. ज्योति चौधरी, इन्दौर

परामर्शदात्री समिति

1. प्रो. रजनीश कुमार शुक्ल, वाराणसी
2. प्रो. श्रीप्रकाश पाण्डेय, वाराणसी
3. प्रो. सच्चिदानन्द मिश्र, वाराणसी
4. प्रो. हरिशंकर उपाध्याय, प्रयागराज
5. प्रो. ऋषिकान्त पाण्डेय, प्रयागराज

पारमिता

वर्ष – 11, अंक – 11

सम्पादक

प्रो.श्रीकान्त मिश्र

दर्शन परिषद् (मध्यप्रदेश एवं छत्तीसगढ़)

पारमिता

वर्ष – 11, अंक – 11

प्रकाशक : दर्शन परिषद् (मध्यप्रदेश एवं छत्तीसगढ़)

सर्वाधिकार : दर्शन परिषद् (मध्यप्रदेश एवं छत्तीसगढ़)

प्रकाशन वर्ष : 2022

मुद्रक : अनिल प्रिंटर्स एण्ड स्टेशनर्स
विवेकानन्द नगर, रीवा (म.प्र.)

नोट : शोध पत्रिका में प्रकाशित शोध–पत्र के लिए लेखक स्वयं उत्तरदायी होंगे। लेखक के विचारों से परिषद् की सहमति अनिवार्य नहीं है।

अनुक्रमणिका

1.	भारतीय ज्ञान परम्परा और राष्ट्रीय शिक्षा नीति	प्रो.रवीन्द्रनाथ तिवारी	06
2.	सम्पोष्य विकास का वैदिक उत्स	प्रो.जे.एस.दुबे	09
3.	रामचरित मानस की वैज्ञानिकता निर्माण से निर्वाण तक	डॉ.प्रदीप कुमार खरे	13
4.	अद्वैत वेदान्त दर्शन : एक सम्यक् दृष्टि	प्रो.श्रीकान्त मिश्र	16
5.	आधुनिक दार्शनिक शिक्षा पर प्रश्न	डॉ.ज्योत्स्ना द्विवेदी	20
6.	धर्मों का मिलन–यान : हिंसात्मक युद्ध या अहिंसात्मक संवाद व इसके मुद्दे	डॉ.अवनीश चन्द पाण्डेय	23
7.	शिक्षा एवं राष्ट्रीय चेतना	डॉ.जाहिरा खातून	34
8.	नई शिक्षा नीति में भारतीय मूल्य व्यवस्था	डॉ.प्रवीण जोशी	43
9.	योग शिक्षा की चुनौतियां और नई शिक्षा नीति	डॉ.अल्पी सिंह	47
10.	शिक्षा एवं दर्शन–राधाकृष्णन के दृष्टिकोण से	डॉ.बबिता सिंह	51
11.	मूल्य शिक्षा एवं दर्शन	डॉ.देवदास साकेत	54
12.	New Education Policy 2020:A mirror image of Aurbindo's Education Philosophy	Dr.Shama A. Baig	58
13.	अष्टांग योग द्वारा युवा वर्ग में स्वस्थ मानसिकता का विकास	स्वाति त्रिपाठी	62
14.	मनोदैहिक बीमारियों के उपचार में योग भूमिका	डॉ.रचना जैन	67
15.	भारत की संत परम्परा का दर्शनिक विश्लेषण	संजय कुमार शुक्ला	74
16.	सच्चिदानंद ब्रह्म और आनन्द विद्या	डॉ.सविता गुप्ता सागर	80
17.	कबीर दर्शन में धर्म का वास्तविक स्वरुप	डॉ.रंजना शर्मा	85
18.	सूफी दर्शन एवं भक्ति	डॉ.बी.नंदा जागृति	90
19.	कबीरदास का समाज दर्शन	डॉ.भवानी प्रधान	96
20.	संतों की दृष्टि में धर्म	डॉ.रोशनी मिश्रा	100
21.	भारतीय संत परम्परा का दार्शनिक दृष्टिकोण	डॉ.अभिजीत जोशी	104
22.	भारतीय संत परम्परा और तुलसीदास जी की समन्वयात्मक तत्वदृष्टि : एक विमर्श	डॉ.नवीन दीक्षित	111
23.	भारतीय चिंतन परम्परा में कबीर की वैचारिकी	डॉ.नरेन्द्र कुमार बौद्ध	114
24.	संत गुरु घासीदास का दर्शन	मनीष कुमार कुर्रे	120
25.	भारत की संत परम्परा का दर्शनिक दृष्टिकोण संतो की दृष्टि में समाज	चैतराम यादव	126
26.	भक्ति कालीन काव्य में सूफी काव्य दर्शन जायसी के संदर्भ में	डॉ.बी.एन.जागृत	129

27.	भारतीय शिक्षा व्यवस्था के दार्शनिक आयामों का विश्लेषण	डॉ.सिन्धु पौडियाल	132
28.	आधुनिककाल में वैदिक शिक्षा की प्रासंगिकता	डॉ.ज्योति चौधरी	137
29.	गांधी जी की बुनियादी शिक्षा नीति दर्शन	डॉ.तेजराम पाल	144
30.	प्राचीन भारतीय शिक्षा पद्धति की प्रासंगिता	डॉ.श्रुति मीमांसा पाल	149
31.	शिक्षा एवं दर्शन	डॉ.तृप्ति तिवारी	154
32.	मानवीय मूल्यों के संदर्भ में योगदर्शन की प्रासंगिकता	डॉ.सूर्य प्रकाश द्विवेदी	158
33.	नई शिक्षा नीति एवं प्राचीन भारत में शिक्षा व्यवस्था	डॉ.किरण बढेरिया	162
34.	आधुनिक काल में श्रीमद्भगवद्गीता शिक्षा की प्रासंगिकता	डॉ.रश्मि पटेल	164
35.	भारत में नई शिक्षा नीति का स्वरूप	डॉ. राकेश कवचे	168

*****

भारतीय ज्ञान परम्परा और राष्ट्रीय शिक्षा नीति

प्रो.रवीन्द्रनाथ तिवारी
विभागाध्यक्ष भू–विज्ञान
शास.आदर्श विज्ञान महाविद्यालय,
रीवा (म.प्र.)

भारतीय ज्ञान परम्परा अद्वितीय ज्ञान और प्रज्ञा का प्रतीक है जिसमें ज्ञान और विज्ञान, लौकिक और पारलौकिक, कर्म और धर्म तथा भोग और त्याग का अद्भुत समन्वय है। ऋग्वेद के समय से ही शिक्षा प्रणाली जीवन के नैतिक, भौतिक, आध्यात्मिक और बौद्धिक मूल्यों पर केन्द्रि होकर विनम्रता, सत्यता, अनुशासन, आत्मनिर्भरता और सभी के लिए सम्मान जैसे मूल्यों पर जोर देती थी। वेदों में विद्या को मनुष्यता की श्रेष्ठता का आधार स्वीकार किया गया था।[1] छात्रों को मानव, प्राणियों एवं प्रकृति के मध्य संतुलन को बनाए रखना सिखाया जाता था। शिक्षण और सीखने के लिए वेद और उपनिषद् के सिद्धांतों का अनुपालन जिससे व्यक्ति स्वयं, परिवार और समाज के प्रति कर्तव्यों को पूरा कर सके, इस प्रकार जीवन के सभी पक्ष इस प्रणाली में सम्मिलित थे। शिक्षा प्रणाली ने सीखने और शारीरिक विकास दोनों पर ध्यान केन्द्रित किया। कर्म वही है जो बंधनों से मुक्त करे और विद्या वही है जो मुक्ति का मार्ग दिखाए। इसके अतिरिक्त जो भी कर्म है वह सब निपुणता देने वाले मात्र हैं।[2] शिक्षा के इस संकल्प को भारतीय परम्परा में अंगीकृत कर तदनुरूप ही विश्वविद्यालयों और गुरुकुलों में शिक्षा दी जाती थी। घर, मंदिर, पाठशाला तथा गुरुकुल में संस्कार युक्त स्वदेशी शिक्षा दी जाती थी। उच्च ज्ञान के लिए छात्र विहार और विश्वविद्यालयों में जाते थे तथा शिक्षा अधिकतर मौखिक था, छात्रों को कक्षा में जो विषय पढ़ाया जाता था उसको वो याद कर मनन करते थे।

प्राचीनकाल की शिक्षा प्रणाली ज्ञान, परम्पराएं और प्रथाएं मानवता को प्रोत्साहित करती थीं। पुराण में ज्ञान को अप्रतिम माना गया है।[3] भारत के तक्षशिला, नालंदा, विक्रमशिला, वल्लभी, उज्जयिनी, काशी आदि विश्वप्रसिद्ध शिक्षा एवं शोध के प्रमुख केन्द्र थे तथा यहां कई देशों के शिक्षार्थी ज्ञानार्जन के लिए आते थे। वैदिक काल में महिलाओं की शिक्षा के क्षेत्र में उल्लेखनीय प्रसिद्धि थी जिसमें मैत्रेयी, ऋतम्भरा, अपाला, गार्गी और लोपामुद्रा आदि जैसे नाम प्रमुख थे। बौधायन, कात्यायन, आर्यभट्ट, चरक, कणाद, वाराहमिहिर, नागार्जुन, अगस्त्य, भर्तहरि, शंकराचार्य, स्वामी विवेकानन्द जैसे अनेकानेक महापुरुषों ने भारत भूमि पर जन्म लेकर अपनी मेधा से विश्व में भारतीय ज्ञान परम्परा के समृद्धि हेतु अतुल्य योगदान दिया है।

गुरुकुल शिक्षा के प्रमुख आधार स्तम्भ थे। शिक्षार्थी अठारह विधाओं, छः वेदांग, चार वेद (ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्वेद), चार उपवेद (आयुर्वेद, धनुर्वेद, गन्धर्व वेद, शिल्पवेद) मीमांसा, न्याय, पुराण तथा धर्मशास्त्र का अर्जन गुरु के निर्देशन में ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए अनुष्ठानपूर्वक अभ्यास कर सम्पादन करते थे जिससे आजीविका निर्वहन में कोई परेशानी नहीं होती थी तथा प्रौढ़ावस्था तक आते–आते अपने विषय के निपुण ज्ञाता बन जाते थे। त्याग, वृत्तिसम्पन्न तथा धन की तृष्णा से परे आचार्य ही भारतीय शिक्षा पद्धति में शिक्षक माना गया है। शिक्षा को व्यवसाय और धनार्जन का साधन नहीं माना जाता था। वायु पुराण में उल्लेख है कि गुरु रूपी तीर्थ से सिद्धि प्राप्त होती है तथा वह सभी तीर्थों से श्रेष्ठ है। प्राचीन भारतीय सनातन ज्ञान परम्परा अति समृद्धि थी तथा इसका उद्देश्य धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष को समाहित करते हुए व्यक्ति के सम्पूर्ण व्यक्तित्व को विकसित करना

था। जब सारा विश्व अज्ञान रूपी अंधकार में भटकता था तब सम्पूर्ण भारत के मनीषी उच्चतम ज्ञान का प्रसार करके मानव को पशुता से मुक्त कर श्रेष्ठ संस्कारो से युक्त कर सम्पूर्ण मानव बनाते थे।

प्राचीन और सनातन भारतीय ज्ञान और विचार की समृद्ध परम्परा के आलोक में राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020 तैयार की गई है। ज्ञान, प्रज्ञा और सत्य की खोज को भारतीय विचार परम्परा दर्शन में सदा सर्वोच्च लक्ष्य माना जाता था। प्राचीन भारत मे शिक्षा का लक्ष्य सांसारिक जीवन अथवा स्कूल के बाद के जीवन की तैयारी के रूप में ज्ञान अर्जन नही बल्कि पूर्ण आत्म ज्ञान और मुक्ति के रूप में माना गया था। भारत द्वारा 2015 मे अपनाये गए सतत् विकास एजेंडा 2030 के लक्ष्य चार में परिलक्षित वैश्विक शिक्षा विकास योजना के अनुसार विश्व के 2030 तक सभी के लिए समावेशी और समान गुणवत्तायुक्त शिक्षा सुनिश्चित करने और जीवन पर्यन्त शिक्षा के अवसरों को बढ़ावा दिए जाने का लक्ष्य है। इस हेतु सम्पूर्ण शिक्षा प्रणाली को समर्थन और अधिगम को बढ़ावा देने के लिए पुनर्गठित करने की आवश्यकता होगी ताकि सतत् विकास के लिए 2030 एजेंडा के सभी महत्वपूर्ण लक्ष्य प्राप्त किया जा सके। राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020 के अनुसार 2040 तक भारत के लिए एक ऐसी शिक्षा प्रणाली का लक्ष्य होगा जो कि किसी से पीछे नहीं है। ऐसी शिक्षा व्यवस्था जहां किसी भी सामाजिक और आर्थिक पृष्ठभूमि से सम्बधित शिक्षार्थियों को समान रूप से सर्वोच्च गुणवत्ता की शिक्षा उपलब्ध हो सकेगी। यह 21वीं सदी के पहली शिक्षा नीति है जिसका लक्ष्य हमारे देश के विकास के लिए अनिवार्य आवश्यकताओं को पूरा करना है तथा भारत की परम्परा और सांस्कृतिक मूल्यों के आधार को बरकरार रखते हुए 21वीं सदी की शिक्षा के लिए आकांक्षात्मक लक्ष्यों को प्राप्त करना है। अनुसंधान एवं ज्ञान के परिदृश्य मे पूरा विश्व तेजी के दौर से गुजर रहा है। मानविकी और कला की मांग बढ़ेगी क्योंकि भारत एक विकसित देश बनने के साथ–साथ दुनिया की तीन सबसे बड़ी अर्थव्यवस्थाओं में से एक बनने के साथ–साथ आत्मनिर्भरता की ओर अग्रसर है। वर्तमान में सीखने के परिणामों और जो आवश्यक है उनके मध्य की खाई को, प्रारम्भिक बाल्यावस्था से देखभाल और उच्चतर शिक्षा के माध्यम से शिक्षा में उच्चतम गुणवत्ता, इक्विटी और सिस्टम में अखण्डता लाने वाले प्रमुख सुधारों से पूर्ण किया जा सकता है।

शिक्षा व्यवस्था में किए जा रहे बुनियादी बदलाव के केन्द्र मे निश्चित तौर पर शिक्षक होने चाहिए। यह नीति निश्चित तौर पर प्रत्येक स्तर पर शिक्षकों को समाज के सर्वाधिक सम्माननीय और श्रेष्ठ सदस्य के रूप में पुन स्थान देने में सहायक होगी। शिक्षा की नागरिकों को हमारी अगली पीढ़ी को सही मायने में आकार देती है। इस नीति द्वारा शिक्षकों को सक्षम बनाने के लिए हर सम्भव कदम उठाए जाने की योजना है जिससे कि वे अपने कार्य को प्रभावी रूप से कर सकें। हर स्तर पर शिक्षण के पेशे में सबसे होनहार लोगों का चयन करने की योजना है। जिसके लिए उनकी आजीविका, सम्मान, मान मर्यादा और स्वायत्तता सुनिश्चित हो सकेगी। साथ ही तंत्र में गुणवत्ता नियंत्रण और जबाबदेही के बुनियादी प्रक्रियाएं भी स्थापित होनी है। इस नीति का उद्देश्य ऐसे अच्छे इंसानों का विकास करना है जिनमें करुणा और सहानुभूति, साहस और लचीलापन, वैज्ञानिक चिंतन और रचनात्मकता, कल्पना शक्ति, नैतिक मूल्य का समावेश हो तथा संविधान द्वारा परिकल्पित, समावेशी और बहुलतावादी समाज के निर्माण मे बेहतर तरीके से योगदान कर सकें।

भारतीय भाषाओं को महत्व देते हुए अभियांत्रिकी, चिकित्सा और व्यवसायिक पाठ्यक्रमों सहित लगभग सभी पाठ्यक्रमों में भारतीय भाषा का विकल्प रखा गया है। शिक्षकों और अभिभावकों को हर बच्चे की विशिष्ट क्षमताओं की स्वीकृति, पहचान और उनके विकास हेतु संवेदनशील बनाने की योजना इस शिक्षा नीति के माध्यम से करने का प्रयास किया गया है। अकादमिक और अन्य क्षमताओं में

सर्वांगीण विकास पर पूरा ध्यान देने का उल्लेख है। बुनियादी साक्षरता और संख्या ज्ञान को सर्वाधिक प्राथमिकता दी गई है जिससे कि सभी बच्चे कक्षा तीन तक साक्षरता और संख्या ज्ञान विषयों को सीखने के मूलभूत कौशलों को प्राप्त कर सकेंगे। रटकर परीक्षा पास करने वाली पद्धति को इस शिक्षा नीति में नकारा गया है और अवधारणात्मक समझ पर जोर देने वाली शिक्षा को विकसित करने की योजना बनाने का प्रयास किया गया है जिससे तार्किक निर्णय लेने और नवाचार को प्रोत्साहित करने के लिए रचनात्मक और तार्किक सोच वाली शिक्षा विकसित किया जा सके। सहानुभूति, दूसरों के लिए सम्मान, शिष्टचार, लोकतांत्रिक भावना, सेवा की भावना, सार्वजनिक सम्पत्ति के लिए सम्मान, वैज्ञानिक चिंतन, स्वतंत्रता, जिम्मेदारी, बहुलतावाद, समानता और न्याय को विद्यार्थियों मे बनाये रखने के लिए नैतिकता, मानवीय और संवैधानिक मूल्य पर आधारित बनाने की राष्ट्रीय शिक्षा नीति में निहित योजना बहुत ही प्रभावशाली होगी। अध्ययन, अध्यापन के कार्य के भाषा की शक्ति को प्रोत्साहित किया जायेगा। छात्रों के सतत् मूल्यांकन पर काफी जोर दिया गया है और साथ ही साथ तकनीकी के यथासम्भव उपयोग का भी उल्लेख है। यह सुनिश्चित करने के लिए सभी छात्र शिक्षा प्रणाली में सफलता हासिल कर सकें, पूर्ण समता और समावेशन निर्णय की आधारशिला रखी जायेगी।

राष्ट्रीय शिक्षा नीति में उच्च शिक्षा के क्षेत्र में आमूलचूल परिवर्तन की बात कही गई है जिसमें बहुविषयक विश्वविद्यालयों की स्थापना तथा अन्तर्विषयक शोध प्रमुख हैं। उच्चतर शिक्षा में तीन प्रकार के संस्थान होंगे – शोध गहन विश्वविद्यालय, शिक्षण गहन विश्वविद्यालय एवं स्वायत्त डिग्री देने वाला महाविद्यालय। इसके अतिरिक्त विद्यार्थियों के अनुभव में वृद्धि के लिए पाठ्यचयन, राष्ट्रीय अनुसंधान फाउण्डेशन की स्थापना, शैक्षणिक और प्रशासनिक स्वायत्तता वाले उच्चतर शिक्षा के सभी एकल नियामक द्वारा लचीला लेकिन स्थायित्व प्रदान करने वाले विनियम का गठन इत्यादि। डिग्री कार्यक्रमों में महत्वपूर्ण बदलाव किये जायेंगे जिसें 1 वर्ष पूर्ण करने पर सार्टिफिकेट, 2 वर्ष पर डिप्लोमा एवं 3 वर्ष पर डिग्री की उपाधि दी जायेगी। 4 वर्ष के स्नातक पाठ्यक्रम पूर्ण करने पर 1 वर्ष के पश्चात स्नातकोत्तर की डिग्री दी जायेगी। अकादमिक क्रेडिट बैंक की स्थापना अतिमहत्वपूर्ण कदम है। वर्ष 2035 तक उच्चतर शिक्षा में सकल नामांकन अनुपात 50 प्रतिशत करने का लक्ष्य है। सभी उच्चतर शिक्षा संस्थान 2030 तक बहुविषयक संस्थान बनाने की योजना तथा 2040 तक सभी वर्तमान उच्चतर शिक्षण संस्थान का उद्देश्य अपने आपको बहुविषयक संस्थान के रुप में स्थापित करना होगा।

भारत को वैश्विक ज्ञान की महाशक्ति बनाकर एक जीवंत और न्याय संगत समाज में बदलने के लिए प्रत्यक्ष रूप से सहयोग करेगी। इस नीति में परिकल्पित है कि हमारे संस्थानों की पाठयचर्या और शिक्षा विधि छात्रों मे अपने मौलिक दायित्व और संवैधानिक मूल्यों को देश के साथ जुड़ाव और बदलते विश्व मे नागरिक की भूमिका और उत्तरदायित्व की जागरुकता उत्पन्न करेगी। राष्ट्रीय शिक्षा नीति भारतीय ज्ञान परम्पराओं का सम्पोषित विकास कर सम्बल प्रदान करते हुए भारत केन्द्रित तथा समाज पोषित होकर भारत को परम वैभव राष्ट्र तथा जगतगुरु बनाने में महती भूमिका का निर्वहन करेगी।

संदर्भ–

1. ऋग्वेद 10/71/7
2. विष्णु पुराण, 1/9/41
3. ब्रह्माण्ड पुराण 1/4/15
4. वायु पुराण 77/128

स्व.श्री श्याम सिंह नेगी स्मृति वैदिक व्याख्यानमाला

सम्पोष्य विकास का वैदिक उत्स

प्रो.जे.एस.दुबे
प्राध्यापक–दर्शनशास्त्र
शास.हमीदिया कला एवं वाणिज्य महाविद्यालय
भोपाल

फित्जॉफ कॉप्रा ने अपनी पुस्तक 'दि टर्निंग प्वाइंट' (1982 पृ. 458) तथा 'दि वे ऑफ लाइफ' (1996 पृ.1–13) में दो दृष्टांत प्रस्तुत किए हैं। जिससे सम्पोष्य विकास अथवा पारिस्थितिकी का समग्र स्वरूप प्रगट होता है। "एक वैज्ञानिक एक सुंदर पुष्प को देखकर उसके सौन्दर्य के विषय में यह जानना चाहता था कि उसका सौन्दर्य कहाँ है? इसके लिए उसने पुष्प की सारी पंखुड़ियों को तोड़ डाला परन्तु उसके सौन्दर्य के यथार्थ का पता उसे नहीं चला।" इस वैज्ञानिक का प्रयास ठीक वैसे ही था जैसा कि उस सामान्य व्यक्ति का जिसने जंगल देखने की इच्छा व्यक्त की थी। उसका एक साथी उसे जंगल दिखलाने के लिए जंगल के बीच से ही ले गया। जंगल पास कर लेने के पश्चात उसके साथी ने पूछा–क्या तुमने जंगल देखा? उसका उत्तर था– जंगल तो दिखाई नहीं पड़ा, कुछ पेड़ और झाड़ियाँ जरूर दिखी।

एक सामान्य व्यक्ति का दृष्टिकोण तथा एक वैज्ञानिक का दृष्टिकोण एक ही है। न तो वैज्ञानिक को पुष्प के सौन्दर्य के यथार्थ का पता चला न ही सामान्य व्यक्ति को जंगल दिखाई पड़ा। कारण यह है कि दोनों ने समग्रता की दृष्टि का उपयोग नहीं किया। अतः उन्हें यथार्थ का ज्ञान नहीं हुआ। वैज्ञानिक ने सौन्दर्य को सम्पूर्ण पुष्प में ढूँढने की बजाय पंखुड़ियों में ढूँढने का प्रयास किया जबकि सौन्दर्य पूर्णता में निहित है। इसी प्रकार, सामान्य व्यक्ति को समग्रता के दृष्टिकोण का अभाव होने के कारण जंगल दिखाई नहीं पड़ा, कुछ पेड़ और झाड़ियाँ दिखी। पूर्णता के इस सिद्धांत को मनोविज्ञान की भाषा में गेस्टाल्ट का सिद्धांत कहते हैं। यह सिद्धांत बताता है कि हम वस्तु को तब तक नहीं पहचान सकते जब तक हमें उसकी पूर्णता का ज्ञान न हो। अलग–अलग अंगों से बने होने पर भी वस्तु के यथार्थ स्वरूप का ज्ञान नहीं हो सकता। कॉप्रा का विचार इसी पूर्णता या समग्रता का विचार है।

पारिस्थितिकी को स्पष्टतः दो प्रकारों में विभाजित किया जा सकता है– पहला गहन पारिस्थितिकी (Deep Ecology) दूसरा उथली पारिस्थितिकी (Shallow Ecology) उथली पारिस्थितिकी का संबंध जहाँ मनुष्य के हित के लिये प्राकृतिक पर्यावरण के नियंत्रण तथा प्रबंधन से है, वहीं गहन पारिस्थितिकी का समर्थन आधुनिक विज्ञान करता है। इसकी जड़ यथार्थ के बोध तक है जिसका ज्ञान सहज रूप में जीवन की एकता में होता है। वस्तुतः पारिस्थितिकीय अवचेतना आध्यात्मिक है। ब्रह्माण्ड के साथ पिण्ड के जुड़ जाने का विचार Religion- Religare पुनर्बंधन तथा संस्कृत शब्द योग द्वारा होता है। चूंकि दोनों के अनुसार विश्वात्मा से व्यक्ति की आत्मा का मिलन ही योग या Religare है।

सामान्यतः पारिस्थितिकी को एकांगी दृष्टि से देखा जाता है। पारिस्थितिकी का अर्थ पर्यावरण के साथ कुछ अन्य विषयों से भी जुड़ा है। यदि पारिस्थितिकी (Ecology) को ग्रीक शब्द ओईकास

(OIKOS) से उत्पन्न मानते है– जिसका अर्थ घर परिवार कहा जाता है, तो यह सम्पूर्ण पृथ्वी घर–परिवार है। इसी को भारतीय परम्परा में वसुधैव कुटुम्बकम् कहा जाता है। इस अर्थ में पारिस्थितिकी पर्यावरणवाद से अलग विश्व दृष्टि का निर्माण करती है। इसकी व्यापकता और मानव एकता के आदर्श का पता तब चलता है जब डीप इकोलॉजी के साथ गया (GAIA) सिद्धांत को जोड़ दिया जाता है। रसायन शास्त्री लवलॉक ने पृथ्वी की देवी कहा गया के नाम पर गाया परिकल्पना की स्थापना की थी जिसके अनुसार सम्पूर्ण पृथ्वी एक जीवित आध्यात्मिक सत्ता है। कुछ दिनों पूर्व भारत के सर्वोच्च न्यायालय ने भी गंगा के सम्बन्ध में इसी प्रकार की स्थापना दी थी। अतः एक जीवित पूर्ण सत्ता के व्यवहार का ज्ञान केवल अंगों के अध्ययन से नहीं किया जा सकता। इससे भी सम्पूर्णता का सिद्धांत प्रतिपादित होता है।

जब हम गहन पारिस्थितिकी की बात करते हैं तो प्रकृति की तुलना नारी के साथ करने पर स्पष्ट होता है कि दोनों उत्पन्न करने वाली हैं– प्रकृति जीवन दायिनी है और नारी भी सृष्टिदायिनी है। अतः इन दोनों का दोहन और शोषण मानव समाज को नहीं करना चाहिए। यहीं से प्रकृति संरक्षण तथा नारी संरक्षण के योग से नारीवादी पारिस्थितिकी (Eco Feminism) का जन्म होता है। इसके साथ ही समाज में नवीन नैतिकता तथा नूतन मूल्यों का सृजन होता है।

भारतीय परम्परा में जिसे पारिस्थितिकी दर्शन कहते हैं आधुनिक विज्ञान ने उसे सम्पोष्य विकास कहा है। वस्तुतः इन दोनों में कोई मौलिक भेद नहीं है। लेस्टर ब्राउन ने अपनी पुस्तक[1] में सम्पोष्यता की व्याख्या करते हुए केवल एक सम्पोष्य समाज वह है जो भविष्य में आने वाली पीढ़ियों की आशाओं में बिना कमी किये अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करता है। वर्ल्ड कमीशन ने 1987 में ठीक इसी परिभाषा को मान्यता प्रदान की। वास्तव में, सम्पोष्य निकाय पारिस्थितिकी का लक्ष्य है। सम्पोष्य विकास की ओर विश्व के देशों का ध्यान सर्वप्रथम उस समय गया जब 1972 में स्टाकहोम (स्वीडन) में संयुक्त राष्ट्र संघ ने पर्यावरण पर विश्वभर के देशों का पहला सम्मेलन आयोजित किया। इसमें एक ही पृथ्वी का सिद्धांत स्वीकारा गया। तत्पश्चात स्टॉकहोम घोषणा पत्र 1972, रियो घोषणा पत्र 1992 व्यवहार में आया। इसी तरह की एक रिपोर्ट युनाईटेड नेशन्स डेवलपमेंट प्रोग्राम की 1994 में ह्यूमन डेवलपमेंट रिपोर्ट में प्रस्तुत की गई।

भारतीय परम्परा में प्रकृति की जीवन्तता को इस सीमा तक स्वीकार किया गया है कि मनुष्य को प्रकृति से पूर्णतः अलग कर देने की न कोई जगह है और न ही समय। सदैव और सर्वत्र चैतन्य व्याप्त है। सम्पूर्ण प्रकृति चेतना से परिपूर्ण है। प्रसिद्ध वैज्ञानिक सर जगदीश चन्द्र बोस का शोध कि वनस्पति जगत में भी चेतना है इस उक्ति को सिद्ध करती है। भारतीय धर्म शास्त्रों में मनुष्य के उन कर्तव्यों की ओर संकेत किया गया है जो सम्पूर्ण जीवित पदार्थों, पशुपक्षी, आकश वायु इत्यादि के प्रति निर्धारित किये गये हैं। मनुष्य का कर्तव्य है कि प्रकृति से बिना आज्ञा लिये कुछ न लें। इसके लिये प्राकृतिक नैतिकता स्थापित की गई जिसका संबंध पाप–पुण्य से जुड़ा है अर्थात् नैतिक कार्य पुण्य प्रदान करता है और अनैतिक कार्य पाप।[2] में महा गया कि पेड़–पौधे पुण्य प्राप्त करने के लिए मनुष्य शरीर में आते हैं। अतः वृक्षों तथा वनस्पतियों में भी प्राण चेतना है इसलिये उनके साथ हमें अध्यात्मवादी दृष्टिकोण अपनाकर व्यवहार करना चाहिए।[3] मनुस्मृति में निर्देश दिया गया कि वृक्षारोपण करना हमारा नैतिक और धार्मिक कर्तव्य है। मत्स्य पुराण में तालाब, बावड़ी आदि खुदवाना हमारा कर्तव्य समझा गया–

दश कूप–समावापी, दशवापी समोह्रदः।

दश ह्र–समः पुत्रो, दश–पुत्र समो द्रुमः।।

अर्थात् एक बावड़ी दस कुंए के बराबर है, दस बावड़ी एक नदी के बराबर है, दस नदियाँ एक पुत्र के बराबर हैं और दस पुत्रों के बराबर एक पेड़ है। भारतीय संस्कृति में इतनी उत्कृष्ट नैतिकता और धार्मिकता होते हुए भी वृक्षों का काटना और नदियों का प्रदूषण लगातार जारी है।[4] गीता में भगवान श्री कृष्ण कहते हैं–पकृति स्वामवष्टम्य विसृजामि पुनः पुनः अर्थात प्रकृति को अपने में धारण करते हुए मैं इसकी पुनःपुनः रचना करता हूँ। पुनः कहते हैं[5] पिताऽहमस्य जगतो माता धाता पितामहः अर्थात् मैं इस जगत का पिता हूँ, माता हूँ, धारण करने वाला हूँ और पितामह हूँ। तात्पर्य यह है कि ईश्वर इस जगत, इस प्रकृति का बीज है। वह अव्यक्त है। समय आने पर वह व्यक्त हो जाता है। ईश्वर और प्रकृति का संबंध वैसे ही है जैसे मणियाँ धागे में पिरोई रहती हैं। प्रकृति के विभिन्न तत्वों में ईश्वर ही सर्वव्यापक है जैसे– जल में रस के रूप में, चन्द्र तथा सूर्य में प्रभा के रूप में, आकाश में शब्द रूप में, पृथ्वी में सुगंध रूप में, अग्नि में तेज तथा सब प्राणियों में जीवन के रूप में विद्यमान है।[6] गीता में ईश्वर की विभूतियों का जो वर्णन मिलता है वह ईश्वर और प्रकृति के एकत्व का परिचय देता है।

अथर्ववेद के पृथ्वी सूक्त में पृथ्वी को दैवी सत्ता स्वीकार करते हुए अनेक रूपों में प्रार्थना की गई और कल्पना की गई कि मैं पृथ्वी का पुत्र हूँ और पृथ्वी मेरी माता है।

माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः[7]

पृथ्वी माता से पुनः प्रार्थना की गई है कि वह भूमि (माता) जिस प्रकार पुत्र के लिए स्वयं प्रेम से दूध पिलाती है, उसी प्रकार मुझ पुत्र के लिए अपना (पय) जल, अन्नरस आदि नाना पुष्टिकारक पदार्थ प्रदान करे।

'सा नो भूमिर्विसृजतां माता पुत्राय मे पयः[8]

पृथ्वी को गोमाता या नारी के रूप में चित्रित किया गया। गाय और माता दोनों अपने दूध से बच्चों का पालन करती है। यही गुण पृथ्वी में भी है। पृथ्वी भी अपने दूध वनस्पतियों द्वारा पालन पोषण करती है।[9] अथर्ववेद में पृथ्वी से प्रार्थना की गई– सहस्त्रं धारा द्रविणस्य मे दुहां ध्रुवेव धेनुरनपस्फुरंती अर्थात् पृथ्वी गौ के समान बिना छटपटाहट किये धन और ऐश्वर्य की हजारों धारायें प्रदान करे। ऐसी जीवित सत्ता की विशेषता अनेक रूपों में बताई गई है। इसी से सम्पूर्ण विश्व को जीवन मिलता है। पृथ्वी को विश्वम्भरा, वसुधानी, वैश्वानरम्, हिरण्यवक्षा इत्यादि नामों से अभिहित किया गया है।

अथर्ववेद[10] में प्रार्थना की गई है की हे भूमि! मुझे कल्याण और सुख कारणी लक्ष्मी से उत्तम रिति से प्रतिष्ठित कर।

भूमि मातर्निधेहि या भद्रया सुप्रतिष्ठितम

पर्यावरण संरक्षण की दृष्टि से अथर्ववेद[11] में मनुष्य को कृतज्ञता का बोध कराया गया है–

यत् ते भूमि विखनामि क्षिप्रं तदपि रोहतु।

मा ते मर्म विमृग्वारि मा ते हृदयमर्पिपम्।

तात्पर्य यह है कि हे भूमि ! तुझसे औषधि इत्यादि के रूप में जो भी पदार्थ मैं नाना रूप में खोद लूं वह शीघ्र पुनः उग आये। अन्यथा भूमि अनुपजाऊ और बंजर हो जायेगी।[12] ऋग्वेद में ऋषि द्वारा वायु, सिन्धु, उषा, रात्रि, सरिता, पृथ्वी, सूर्य वनस्पति आदि से प्रार्थना की गई है–

मधु वाता ऽ ऋतायते मधु क्षरन्ति,

सिन्धव । माध्वीर्नः सन्त्वोषधीः।।

इससे स्पष्ट होता है कि हमारी प्राचीन परम्परा में पर्यावरण और पारिस्थितिकी को अधिक महत्व दिया जाता था। संख्य दर्शन[13] में सृष्टि का विकास प्रयोजन मूलक है और प्रकृति गुणवती, उपकारणी और सक्रिय है जो पुरुष के प्रयोजन को सिद्ध करने के लिए सदैव प्रवृत्त रहती है। समग्र और अंश की ओर संकेत करते हुए उपनिषदों में कहा गया है कि मनुष्य का सुख पूर्णता में है न कि अंश में। छान्दोग्योपनिषद् में कहा गया है – यो वै भूमा तत्सुखम् नाल्पे सुखमस्ति।

इस प्रकार हम देखते है कि भारतीय परम्परा में सर्वात्म दर्शन, पंचशील का सिद्धांत इत्यादि पारिस्थितिकी का वर्तमान विज्ञान में सम्पोष्य विकास के रूप में केवल रूपांतरण किया है मूल भावना भारतीय परम्परा की सनातन दृष्टि है जिसे कठोपनिषद् में भी कहा गया–

ॐसहनाववतु सह नौ भुनक्तु सह वीर्यम् करवावहै।
तेजस्वि, नावधीतमस्तु। मा विद्विषावहै।
ॐ शांतिः शांतिः शांतिः

संदर्भ–

1. 'बिल्डिंग ए सस्टेनेबल सोसायटी' (1981)
2. योगवासिष्ठ (3/55/24)
3. मनुस्मृति (4/56)
4. गीता (9/8)
5. गीता (9/17)
6. गीता (10/21/41)
7. अथर्ववेद (12/1/12)
8. अथर्ववेद (12/1/10)
9. अथर्ववेद (12/1/54)
10. अथर्ववेद (12/1/63)
11. अथर्ववेद (12/1/35)
12. ऋग्वेद (14/90/8)
13. सांख्यकारिका–60

स्व.श्री झाडूराम मरावी स्मृति श्रीरामचरित मानस व्याख्यानमाला

रामचरित मानस की वैज्ञानिकता – निर्माण से निर्वाण तक

डॉ.प्रदीप कुमार खरे
प्राध्यापक, दर्शनशास्त्र
सरोजिनी नायडू कन्या महाविद्यालय
भोपाल

भारत की सनातन परम्परा दुनिया के अन्य देशों से इसलिए भिन्न एवं अद्वितीय स्थान रखती है क्योंकि यहाँ के ऋषि मुनि धर्म के प्रवर्तक, नियन्ता होने के साथ ही साथ सूक्ष्म वैज्ञानिक दृष्टिकोण रखते थे। वैदिक ऋचाओं के अध्ययन से यह बात सिद्ध होती है कि हमारे ऋषि मुनियों को विज्ञान के सभी क्षेत्रों के सूक्ष्मतम तथ्य ज्ञात थे, जिन्हें छन्दबद्ध रूप में इसलिए प्रस्तुत किया गया जिससे वाचिक परम्परा के द्वारा यह ज्ञान सदियों तक सुरक्षित एवं संरक्षित रह सके। ऋषि मुनि के रूप में गोस्वामी तुलसीदास ने लोक मंगल की भावना से अनेक रचनायें की, जिनमें विश्वप्रसिद्ध रचना 'श्री रामचरितमानस' है। गोस्वामी तुलसीदास ने बालकाण्ड के प्रथम श्लोक के चौथे पद मे ही स्पष्ट रूप से कहा है कि विज्ञान की विशुद्ध, वन्दना के साथ अर्थ, धर्म एवं काम आदि की व्याख्या पूर्णतः ज्ञान एवं विज्ञान के आधार पर किया गया है।

"अरथ धरम कामादिक चारी। कहब ग्यान विज्ञान विचारी"

गोस्वामी तुलसीदास ने कहा है कि 'संत सरल चित जगत हित' अर्थात् जगत हित में समता का भाव लाने के लिए इस ग्रन्थ की रचना की गई है। इसलिए मानस एक ज्ञान और विज्ञान का महाकाव्य है, जिसमें ज्ञान की विभिन्न धारायें आकर मिलती हैं और एक मुख्य धारा में सम्मिलित हो जाती हैं। विज्ञान के इस महाकाव्य को स्पष्ट करने के लिए तुलसी ने संसार की उत्पत्ति से प्रारंभ कर उसके पालन, संचालन को अत्यंत मार्मिक ढंग से उद्घृत किया है। यहां पर प्रकृति की उत्पत्ति 'लव निमेष महँ भुवन निकाया' को समझाया है। ऊर्जा धारक ऊर्जा जो संसार निर्माण का कारण है, की उपस्थिति एवं उसके द्वारा संसार के सृजन 'जड़ चेतन जगजीव जत–सकल राममय जानी, 'सीयराममय सब जग जानि,' 'मम् माया संभव संसारा,' 'सब मम् प्रिय सब मम् उपजाये' का वर्णन किया है तथा बताया है कि कैसे सूक्ष्मतम् कण परमाणु से उत्पत्ति, पालन व संहार होता है – "आनन अनल अंबुपति जीहा, उतपति पालत प्रलय समीहा" को व्याख्यायित किया है। स्पष्ट है कि ऐसा प्रतीत होता है कि विज्ञान का यह महाकाव्य अपने प्रकार का एक विशिष्ट ग्रंथ है, जिसमें मय की माया द्वारा निर्माण से निर्वाण तक की कहानी लिखी गई है। कहानी का यह रूपक बालकाण्ड के प्रथम श्लोक के चौथे एवं छठें पद पर क्रमशः 'वन्दे विशुद्ध विज्ञानौ' और 'यन्मायावशवर्ति विश्वमखिलं ब्रह्मादिदेवासुरा' के रूप में स्पष्टतः लिखा हुआ है।

सर्वव्यापक, समस्त ब्रह्माण्डों के स्वामी, मायापति, नित्य परम स्वतंत्र, ब्रह्मरूप भगवान श्री राम ने अपने भक्तों के हित के लिए रघुकुल के मणिरूप में अवतार लिया है। विज्ञान की दृष्टि में यही ऊर्जा है जो उत्पत्ति, स्थिति और लय को संचालित करता है। ऊर्जा का यह कण विश्वव्यापी है और पूर्ण

संसार इसी कण और इसके रूपों से बना हुआ है और इसमें रासायनिक क्रियायें करने की पूर्ण सामर्थ्य है। यह निर्गुण, अरूप, अलख और अजन्मा है जो भक्तों के प्रेमवश सगुण हो जाता है। निर्गुण होने के साथ ही प्रेम के वशीभूत होकर या ऊर्जा के प्रेम के कारण ऊर्जा की चाहत में रासायनिक क्रिया के फलस्वरूप सगुण स्वरूप ग्रहण कर लेता है। इस प्रकार राम कण ही इस संसार को प्रकाशित करते हैं और संसार इनसे प्रकाशित होता है। यही कण समस्त रासायनिक क्रियाओं का अधिस्वामी है और कोई भी क्रिया इस ऊर्जा प्रकाशपुंज के बिना संभव नही है। इसी ऊर्जा के कारण सभी गुण संसार में आते हैं तथा जड़ और उनकी क्रियायें सत्य एवं सगुण प्रतीत होती हैं। जैसे रखे हुए पानी में सूर्य की किरणें पड़ते ही जड़ पानी वाष्प बनकर उड़ जाता है और गति को प्राप्त कर लेता है।

आदिशक्ति जेहि जग उपजाया। सोउ अवतरिहिं मोर यह माया।।[1]

ऊर्जाधारक श्री राम कहते हैं कि मेरी माया ऊर्जा से प्रेम के कारण होने वाली रासायनिक क्रिया क्षमताधारी शक्ति भी मेरे साथ अवतरित होती है। इसी मयाशक्ति और ऊर्जा के द्वारा ही संपूर्ण संसार की उत्पत्ति हुई है। यही शक्ति/ऊर्जा ही आदि शक्ति है।

ब्रह्मांड निकाया निर्मित माया, रोम रोम प्रतिवेद कहे।।[2]

गोस्वामी तुलसीदास कहते हैं कि तुम्हारे प्रत्येक रोम में माया के रचे हुए अनेकों ब्रह्मांडों के समूह है–ऐसा वेदों ने भी कहा है। संपूर्ण ब्रह्मांड–संसार का शरीर इसी ऊर्जा आधारित रासायनिक क्रिया – प्रतिक्रिया से निर्मित हुआ है और प्रति रोम छोटे से रोम के बराबर के हिस्से में करोड़ो ब्रह्मांड स्थित हैं।

लव निमेष महुं भुवन निकाया। रचई जासु अनुशासन माया।।[3]

जिनकी आज्ञा पाकर माया लव निमेष (पलक गिरने के चौथाई समय में) ब्रह्मांडों के समूह रच डालती है। इस पूरे ब्रह्मांड संसार का निर्माण ऊर्जा धारक–शक्ति की आज्ञा या अनुशासन से ऊर्जा की चाहत में रासायनिक क्रिया कर पलक झपकने के चौथाई अंश में हो जाता है।

श्रुति सेतु पालक राम तुम्ह जगदीश माया जानकी।
जो सृजति जगु पालति हरति रुख पाई कृपा निधान की।।[4]

हे राम! आपवेद की मर्यादा के रक्षक जगदीश्वर हैं और जानकी (आपकी स्वरूपभूता) माया हैं, जो कृपा के भण्डार आपकी रुख पाकर जगत का सृजन, पालन और संहार करती हैं।

इस प्रकार संपूर्ण रामचरित मानस को विज्ञान के सिद्धान्तों पर आधारित कथानक के रूप में देखा जा सकता है। अत्यंत सूक्ष्म दृष्टि से गोस्वामी तुलसीदास ने अध्यात्म के उन सारे पक्षों को इस ग्रंथ में समाहित किया है जो सृजन से संहार तक की समस्त स्थितियों में घटित होती हैं। इसी क्रम में मानस में उद्धृत हम यहां पर चार पक्षों की ओर चर्चा संक्षिप्त में करना चाहेंगे जो गोस्वामी तुलसीदास जी द्वारा रचित है और विज्ञान सम्मत भी। मानव जीवन के ये चार पक्ष है :– सांसारिक धन, धार्मिक योग्यता भोग और मुक्ति। यहाँ पर उन पाँच महत्वपूर्ण शब्दों की बात भी की जा सकती है जो सूर्य से निकलने वाले फोटॉन द्वारा प्रकृति और जीवित प्रणियों की उत्पत्ति का वर्णन करने में समर्थ हैं। ये पाँच शब्द हैं – भगवान, भगवाना, भगवानु, माया और मायाधीश। इन सभी शब्दों से विशिष्ट अर्थ निकलते हैं –

भगवान – भ–भूमि, ग–गगन, व–वायु, अ–अग्नि और न–नीर। ये भगवानु (पाँच घटक और ऊर्जा अथवा शक्ति) द्वारा विनियमित होते हैं। उनके संयुक्त प्रयास से भगवान का निर्माण होता है।

भगवाना से आवरण ऊर्जा की सहायता से बंधन, निर्माण आदि की प्रक्रिया को माया कहा जाता है। इस माया का नियंत्रक मायाधीश है–सूर्य, जो सभी सांसारिक मामलों के लिए फोटॉन प्रदान करता है।

इस प्रकार – 'व्यापक विश्वरूप भगवाना, तेहि धरि देह चरित कृतनाना।'[4]

यही संपूर्ण विश्व के विभिन्न रूपों में व्यापक रूप से फैली हुई ऊर्जा सगुण रूप धारण कर भगवाना (भूमि, गगन, वायु, अग्नि, और नीर एवं देह आवरण) बन जाती है। जिस प्रकार का आवरण होता है उसी प्रकार की देह बनती है और जिस प्रकार की देह होती है उसी अनुरूप कार्य भी करती है।[5]

संदर्भ–

1. रामचरित मानस–बालकाण्ड दोहा 15
2. रामचरित मानस–बालकाण्ड दोहा 192
3. रामचरित मानस – बालकाण्ड दोहा 224
4. रामचरित मानस– अयोध्याकाण्ड सोरठा 126
5. रामचरित मानस–बालकाण्ड दोहा 13

प्रो. अर्जुन मिश्र स्मृति अद्वैत वेदान्त व्याख्यानमाला

अद्वैत वेदान्त दर्शन : एक सम्यक् दृष्टि

प्रो0 श्रीकान्त मिश्र
विभागाध्यक्ष, दर्शन विभाग
अ0 प्र0 सिंह विश्वविद्यालय, रीवा (म0प्र0)

भारतीय दर्शन का विभाजन नास्तिक और आस्तिक रूप से दो प्रकार का किया गया है – "नास्तिको वेद निन्दकः" एवं "आस्तिको वेद विश्वासी"। जो दर्शन वेद की निन्दा करते हैं उन्हें नास्तिक तथा जो वेद में आस्था रखते हैं उन्हें आस्तिक की संज्ञा प्रदान की गई है। सामान्यतः ईश्वर में विश्वास करने वाले को आस्तिक तथा ईश्वर को न माननेवाले को नास्तिक कहा जाता है, किन्तु भारतीय दर्शन में इस अर्थ में आस्तिक और नास्तिक का विभाजन नहीं किया गया है। यहाँ नास्तिक और आस्तिक के भेद का आधार वेद को माना गया है। नास्तिक परम्परा के दर्शनों में चार्वाक, जैन और बौद्ध दर्शन की गणना की गई है, जबकि आस्तिक परम्परा में सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, मीमांसा और वेदान्त दर्शन आते हैं। इन छः आस्तिक दर्शनों को षड्दर्शन के नाम से भी जाना जाता है। षड्दर्शन में जो वेदान्त दर्शन है, उसके भी कई सम्प्रदाय हैं, जो भारतीय जनमानस में अपने–अपने ढंग से महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं। उपनिषद, श्रीमद्भगवद्गीता एवं ब्रह्मसूत्र को वेदान्त की 'प्रस्थानत्रयी' के नाम से जाना जाता है क्योंकि ये तीनों वेदान्त के सर्वमान्य ग्रन्थ हैं। इन तीनों में उपनिषद् वेदान्त का मूल प्रस्थान है जबकि शेष दोनों उपनिषद् पर ही आधारित माने जाते हैं। विभिन्न आचार्यों ने ब्रह्मसूत्र पर अपनी–अपनी मान्यतानुसार भाष्य लिखकर अलग–अलग वेदान्ती सम्प्रदायों की प्रतिष्ठा की है। इन भाष्यकार आचार्यों में शंकराचार्य सबसे प्राचीन हैं, तत्पश्चात् कालक्रम के अनुसार रामानुजाचार्य, माध्वाचार्य, निम्बार्काचार्य, वल्लभाचार्य आदि आते हैं। ब्रह्मसूत्र के रचयिता महर्षि बादरायण ने जैमिनी, आश्मरथ्य, बादरि आदि पूर्व के वेदान्ती आचार्यों के नाम का उल्लेख तो किया है किन्तु इनकी कृतियाँ वर्तमान में उपलब्ध नहीं है।

अलौकिक प्रतिभासम्पन्न आदि गुरू शंकराचार्य ने न केवल ब्रह्मसूत्र पर वरन् सारे प्रामाणिक ग्यारह उपनिषदों पर भाष्य के अतिरिक्त अनेक स्तोत्र एवं ग्रन्थ रचना करते हुए भारतवर्ष का भ्रमण किया तथा समाज को एक सूत्र में पिरोने के लिए उत्तर में बद्रीनाथ, दक्षिण में श्रृंगेरी, पूर्व में पुरी तथा पश्चिम में द्वारका में चार पीठों की स्थापना कर अद्वैत वेदान्त दर्शन की प्रतिष्ठा की। आचार्य का जन्म आठवीं शती में केरल के मालाबार क्षेत्र के कालड़ी नामक स्थान में नम्बूदी ब्राह्मण के घर में हुआ तथा निर्वाण बत्तीस वर्ष की आयु में केदारनाथ में हुआ। वैसे तो वेदान्त के सभी सम्प्रदाय अपने को उपनिषद् पर आधारित मानते हैं किन्तु शंकराचार्य ने जितनी तर्कपटुता एवं युक्तियुक्तता के साथ अपने मत का प्रतिपादन किया है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। इसीलिए सम्पूर्ण विश्व में अद्वैत वेदान्त दर्शन को भारतीय दर्शन के पर्याय के रूप में समझा जाता है।

आइए, हम आचार्य शंकर के दर्शन को संक्षिप्त रूप से समझने का प्रयास करें। आचार्य के मत को अद्वैत वेदान्त अथवा अद्वैत वेदान्त दर्शन कहा जाता है। इसमें तीन पद हैं– 'प्रथम अद्वैत, द्वितीय

वेदान्त तथा तृतीय दर्शन। इन तीनों पदों का अलग–अलग विवेचन करने पर आचार्य शंकर का मत स्वयमेव स्पष्ट हो जाएगा।

सामान्यतः द्वैत का अर्थ 'दो' समझा जाता है। इस दृष्टि से 'जो दो नहीं है' वह अद्वैत है। अर्थात् इस जगत् का जो आधार है वह अद्वैत है, जिसे शंकर ने ब्रह्म कहा है। ब्रह्म को सच्चिदानन्द कहा गया है। यह सम्पूर्ण जगत् जो हमारे अनुभव में आता है, उसे शंकराचार्य ने मिथ्या कहते हुए कहा है कि यह जगत् उसी प्रकार भासता है जिस प्रकार भ्रमदशा में रस्सी में साँप की प्रतीति होती है। इस प्रकार रस्सी के समान इस जगत् का एकमात्र आधार ब्रह्म है। जगत् की भिन्नता या अनेकत्व सत्य नहीं है वरन् मिथ्या है। सत्ता तो एकमात्र ब्रह्म की है। सत् को परिभाषित करते हुए आचार्य शंकर कहते हैं कि जिसमें भूत, वर्तमान और भविष्य तीनों काल में कोई परिवर्तन न हो वही सत् हो सकता है। चूँकि समस्त जागतिक वस्तुएँ परिवर्तनशील हैं इसलिए वे सत् नहीं हो सकतीं। ब्रह्म वह अद्वय तत्त्व है जो कभी नहीं बदलता इसलिए वह सत् है। वही जगत् का आधार है और उसके अतिरिक्त जगत् में कुछ भी सत् नहीं है। अद्वैत का पहला अर्थ यही है।

एक प्रश्न उपस्थित होता है कि अद्वैत का अर्थ यदि 'दो' नहीं है तब शंकराचार्य ने उसे 'एक' क्यों नहीं कहा? इसके उत्तर में कहा जा सकता है कि ब्रह्म का निर्वचन भावात्मक शब्दों में नहीं किया जा सकता, क्योंकि यदि उसे एक कहेंगे तो अर्थ होगा कि वह अनेक नहीं हो सकता। अर्थात् वह सीमित हो जाएगा। अनन्त सत्ता को एक अथवा दो की सीमा में नहीं बाँधा जा सकता। वह तो ऐसा तत्त्व है जो मन, वाणी और बुद्धि की सीमा से परे है। इसलिए आचार्य शंकर वेद के समान कहते हैं कि ब्रह्म का सर्वश्रेष्ठ निर्वचन नेति–नेति (यह नहीं, यह नहीं) द्वारा ही सम्भव है। अभिप्राय है कि भावात्मक रूप से ब्रह्म का निर्वचन सम्भव नहीं है। यही कारण है कि शंकराचार्य ब्रह्म को 'एक' न कहकर 'अद्वैत' कहते हैं।

दूसरी दृष्टि से संस्कृत में द्वैत का अर्थ होता है भेद। भेद तीन प्रकार का होता है– सजातीय, विजातीय, और स्वगत। एक मनुष्य का दूसरे मनुष्य से अथवा एक गाय का दूसरी गाय से जो भेद है वह सजातीय भेद है। एक मनुष्य का अपने से इतर जाति गाय आदि से जो भेद है वह विजातीय भेद है तथा एक ही शरीर में आपस के अंगों का भेद स्वगत भेद कहलाता है। जैसे मुँह हाथ से भिन्न है, सिर पैर से भिन्न है इत्यादि। इन तीनों भेदों से जो रहित है वह अद्वैत है। ब्रह्म में सजातीय भेद नहीं है अर्थात् ब्रह्म के अतिरिक्त उसी जाति में कोई दूसरा सदस्य नहीं है जिससे ब्रह्म की भिन्नता सिद्ध हो। ब्रह्म में विजातीय भेद भी नहीं है अर्थात् ब्रह्म से भिन्न कोई दूसरी वस्तु भी नहीं है जिससे उसकी भिन्नता सिद्ध हो। अर्थात् ब्रह्म के अलावा किसी दूसरी वस्तु की सत्ता नहीं है। ब्रह्म चूँकि पूर्ण है, उसमें कोई अंग–प्रत्यंग नहीं है, वह निर्विकार सत्ता है इसलिए उसमें स्वगत भेद भी नहीं है। ब्रह्म ऐसी पूर्णता है कि यदि उसमें से पूर्ण भी निकाल लिया जाय तो भी पूर्ण ही बचता है –

पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते। पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते।।

इस प्रकार सजातीय, विजातीय और स्वगत भेद से रहित ब्रह्म ही अद्वैत तत्व है। वस्तुतः ब्रह्म की ही सत्ता है। हमें जो कुछ भी दृष्टिगोचर होता है उसे आचार्य ने मिथ्या कहा है।

एक दृष्टि से ऋग्वेदादि को वेद के रूप में समझा जाता है। दूसरी दृष्टि से वेद का अर्थ होता है 'ज्ञान'। 'अन्त' शब्द का संस्कृत में तीन अर्थ बताया जाता है – सार, सिद्धांत और अन्तिम भाग। इस दृष्टि से वेदान्त का अर्थ होगा – वेद का सार, वेद का मूलभूत सिद्धांत तथा वेद का अन्तिम भाग। वेदान्त को उपनिषद् भी कहा जाता है। वस्तुतः वेद के चार भाग हैं – मंत्र, ब्राह्मण, आरण्यक और

उपनिषद्। इनमें अंतिम भाग उपनिषद् को ही वेदान्त की संज्ञा दी गई है। चूँकि उपनिषद् में समस्त वेद का सार निरूपित है और उसी में वेद के सर्वमान्य सिद्धातों की प्रतिष्ठा है, इसलिए इसका वेदान्त नाम सार्थक है। एक अन्य दृष्टि से विचार करें तो जीवन जीने का मौलिक सिद्धात और समस्त ज्ञानों का अन्त होने से यह वेदान्त है। 'ज्ञान का अन्त' कहने का अभिप्राय है कि यह ऐसा ज्ञान है जिसे जान लेने पर या प्राप्त करे लेने पर अन्य किसी ज्ञान की आवश्यकता नहीं रह जाती। वह ज्ञान है–आत्म ज्ञान। अर्थात् अपने आपको जान लेने के पश्चात् कोई ज्ञान प्राप्त करना शेष नहीं रह जाता। यही वेदान्त का अर्थ है और यही प्रयोजन है।

दर्शन का अर्थ होता है – देखना। 'दृश्यते अनेन इति दर्शनम्।' जिसके द्वारा देखा जाय और जो कुछ देखा जाय वह दर्शन है। सामान्य रूप से हम अपनी ज्ञानेन्द्रियों के माध्यम से देखने का कार्य करते हैं। ऐसी स्थिति में दर्शन हमें क्या दिखाता है? इस प्रश्न के उत्तर में कहा जा सकता है कि हमारी इन्द्रियों की एक सीमा है जिसके कारण हमारे जीवन का परम प्रयोजन अर्थात् अनन्त आनन्द और दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति की माँग पूरी नहीं हो पाती, इसलिए दर्शन की आवश्यकता पड़ती है। सम्पूर्ण संसार दुःखी है और उस दुःख से छुटकारा पाने का उपाय इन्द्रियों के पास नहीं है, क्योंकि इन्द्रियाँ हमें भ्रमात्मक ज्ञान देती हैं। इन्द्रियाँ, जो वस्तु जैसी नहीं है, उसे उस रूप में प्रस्तुत करती हैं, इसलिए हमारा सम्पूर्ण जीवन दुःखमय बना रहता है। जीवन से इन दुःखों की आत्यन्तिक निवृत्ति कैसे हो, हमारा वर्तमान जीवन व उत्तर जीवन आनन्दमय कैसे हो, हमारे जीवन जीने की कला कैसी हो आदि प्रश्नों के उत्तर में दर्शन की प्रवृत्ति है। इस प्रकार दर्शन हमारे जीवन के परम लक्ष्य को प्राप्त करने का मार्ग प्रशस्त करता है तथा उपाय सुझाता है।

इस प्रकार अद्वैत वेदान्त दर्शन का अर्थ है – सच्चिदानन्दमय ब्रह्म अर्थात स्वयं (आत्मा) को जानने व देखने का सर्वश्रेष्ठ ज्ञान देने वाला। अभिप्राय यह है कि हम मनुष्य जीवन में नाना प्रकार के दुःखों से घिरे रहते हैं, थोड़ी–बहुत कभी–कभी सुख का आभास भी हो जाता है, किन्तु हम ऐसा सुख चाहते हैं जो एक बार आ जाय तो फिर वापस न जाय। अद्वैत वेदान्त कहता है कि ऐसा सुख कहीं बाहर नहीं है, इसलिए जीवन पर्यन्त ढूँढने पर भी मनुष्य की खोज पूरी नहीं हो पाती। चूँकि वह सुख हमारे अन्दर ही है, और जिस दिन हम उस सुख या आनन्द के स्रोत से परिचित हो जाएँगे उस दिन कृतकृत्यता आ जायेगी। फिर हमें कुछ भी पाना शेष नहीं रह जायेगा। वह सुख का स्रोत ही हमारा स्वरूप है। शंकराचार्य "तत्त्वमसि",[2] "अहं ब्रह्मास्मि"[3] आदि महावाक्यों के आधार पर कहते हैं कि तुम ब्रह्म ही हो, जीव अर्थात् आत्मा और ब्रह्म में कोई अन्तर नहीं है।

वस्तुतः अद्वैत वेदान्त को नकारात्मक रूप से ग्रहण करनेवाले इसके भावात्मक रूप को या तो समझ नहीं पाते या समझना नहीं चाहते। आचार्य शंकर ने इस जगत् का अपलाप नहीं किया है। उन्होंने अपने दर्शन के माध्यम से सम्पूर्ण मानव जाति को यह संदेश देने का प्रयास किया है कि इसकी वास्तविकता को समझ कर उसी अनुरूप इसके साथ व्यवहार किया जाय। जिसके पास जो उपलब्ध नहीं है और हम उसी की माँग करें तो उस वस्तु की उपलब्धता असम्भव होगी। आचार्य का कहना है कि विश्लेषण करने पर जगत् का स्वरूप स्वयं ही मायात्मक – अनिर्वचनीय सिद्ध होता है। ऐसे में यदि हम इससे स्थायी सुख या आनन्द की माँग करेंगे तो उसकी पूर्ति कैसे हो सकेगी। यह जगत् तो केवल साधन मात्र है, जिसके माध्यम से हम अपने स्वरूप का साक्षात्कार कर सकें और आत्मलाभ को प्राप्त हो सकें।

उपनिषदों के समान आचार्य शंकर भी ब्रह्म को एकमात्र सत्य कहते हैं।

श्लोकार्द्धेन प्रवक्ष्यामि यदुक्तं ग्रन्थकोटिभिः। ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः।।[4]

इस आधार पर कुछ विद्वानों की मान्यता है कि आचार्य शंकर समस्त नैतिक विधानों का अपलाप करते हैं। यदि संसार मिथ्या है तो हमें त्यागपूर्ण नैतिक जीवन की आवश्यकता ही क्या है? परन्तु मुमुक्षु को साधन चतुष्टय का पालन करना यह सिद्ध करता है कि आचार्य न तो व्यावहारिक जगत् की और न ही नैतिकता आदि की अवहेलना करते हैं। भारतीय दर्शनों में जगत् सम्बन्धी विचार सम्बन्धित दर्शन के कारण–कार्य विचार पर अवलंबित होता है। आचार्य शंकर विवर्तवादी हैं। "जब कोई वस्तु वास्तविक दृष्टि से परिवर्तित होकर अलग रूप धारण करती है तब वह मूल वस्तु का परिणाम कहलाती है, किन्तु वह वास्तविक दृष्टि से परिवर्तित न हो तो विवर्त कहलाती है।"[5] दूध का दही रूप में परिवर्तन परिणाम कहा जाता है, जबकि रज्जु का सर्प रूप में परिवर्तन विवर्त कहा जाता है।

परिणामो नामोपादान समसत्ताककार्यापत्तिः।
विवर्तो नामोपादानविषयसत्ताककार्यापत्तिः।।[6]

अद्वैत वेदान्त दर्शन में मायावाद का सिद्धान्त अत्यन्त महत्वपूर्ण माना गया है। आचार्य शंकर ने ईश्वर की बीज शक्ति को 'माया' कहा है। यह माया ईश्वर की लीला शक्ति है। उनके अनुसार वस्तुतः ब्रह्म निर्गुण और निर्विकार है परन्तु वह मायोपाधिक होकर सगुण और साकार हो जाता है। माया को अनिर्वचनीय कहा गया है, क्योंकि यह न तो सद्रूप है और न ही असद्रूप। जिस प्रकार रज्जु और सर्प के भ्रम में रज्जु कारण है और सर्प–कार्य है, उसी प्रकार ब्रह्म कारण है और जगत् कार्य है। शंकर के अनुसार माया के कारण ही निर्विकार ब्रह्म सगुण ईश्वर होकर सृष्टिकर्ता बनता है। आचार्य ने जगत् को मिथ्या कहा है अर्थात् जो न तो सत् हो और न ही असत्, वह मिथ्या है।

मोक्ष सम्बन्धी अवधारणा के सम्बन्ध में आचार्य शंकर का कहना है कि 'आत्मा की अपने स्वरूप में अवस्थिति ही मोक्ष है।'[7] एक अन्य रूप से आचार्य का कहना है कि 'अविद्या की निवृत्ति ही मोक्ष है, वही ब्रह्म प्राप्ति है।'[8] आचार्य शंकर के अनुसार आत्मा और ब्रह्म अभिन्न है, इसलिए अपने स्वरूप के साक्षात्कार को ही मोक्ष कहा है। आचार्य शंकर के अनुसार मोक्ष केवल ज्ञान का कार्य हो सकता है।[9]

इस प्रकार अद्वैत वैदान्त का यह स्पष्ट कथन है कि वस्तुतः दृष्टिगोचर हो रहा जगत् मिथ्या है, इसलिए जागतिक पदार्थों से असम्पृक्त होकर अपने स्वरूप का साक्षात्कार करने का प्रयास किया जाना चाहिए।

सन्दर्भ –

1. ईशावास्योपनिषद्
2. छान्दोग्योपनिषद् 6/8/7
3. बृहदारण्यकोपनिषद् 1/4/10
4. उद्धृत स्वामी सत्यानन्द सरस्वती– ब्रह्मसूत्रशांकर भाष्यम्, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली, पृ. 15
5. सी. वी. राव, श्रीमद्शंकराचार्य का तत्त्वज्ञान, गुजरात ग्रन्थ निर्माण बोर्ड, 1996, पृ. 210
6. वेदान्त परिभाषा
7. स्वात्मन्यवस्थानं मोक्षः। तैत्तिरियोपनिषद् भाष्य।। 1/11
8. अविद्यापगमयात्रत्वत् ब्रह्मप्रप्तिफलस्य। (बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्य 1/4/10
9. बृहदारण्यकोपनिषद्, शांकर भाष्य 3/1/13

आधुनिक दार्शनिक शिक्षा पर प्रश्न

डॉ. ज्योत्स्ना द्विवेदी
सहायक प्राध्यापक, संस्कृत
शासकीय शहीद केदारनाथ महाविद्यालय,
मऊगंज, जिला–रीवा (म.प्र.)

दर्शन जीवन और सत्ता के समग्र सत्य की खोज तथा उपलब्धि है। बुद्धि का स्वभाव है कि वह सम्मितियों के मोह में फँस जाती है और सम्मितियाँ बनाने में उसे रस की आवश्यकता होती रहती है। परन्तु दर्शन जीवन की गंभीर प्रवृत्ति है। समूचे जीवन की तृप्ति इसका उद्देश्य है। भारत में जीवन की इस प्रवृत्ति को बड़े सार्थक भाव में ही दर्शन कहा गया है। यह मानसिक–बौद्धिक कसरत और गवेषणामात्र ही नहीं, यह दर्शन है, सत्य का जीवनीय तत्व का।

मध्यकालिक शताब्दियों में या पुनर्जागरण काल में भारत के नवोन्मेष के साथ प्राचीन् सांस्कृतिक विरासत का भी अंशतः पुनरूज्जीवन हुआ और साथ ही यह प्रयत्न हुआ कि परम्परागत दार्शनिक चिंतन को नई परिस्थिति के संदर्भ में विवेचित किया जाये। नई परिस्थिति केवल भौतिक एवं राजनैतिक नहीं थी अपितु मैकाले के द्वारा प्रवर्तित नई और पाश्चात्य शिक्षा से जनित संस्कारों प्रवृत्तियों के रूप में भी थी। कुछ क्षेत्रों में प्राचीन ज्ञान का केवल ऐतिहासिक महत्व था व्यावहारिक नहीं। यही दृष्टिकोण दर्शन के लिये भी था। स्वामी विवेकानंद ने अमेरिका में एक व्याख्यान में कहा था कि भारत में आशिक्षित जन–साधारण भी माया और ब्रह्म जैसे निगूढ़ दार्शनिक तत्वों पर विचार प्रकट करते हुए देखे जा सकते हैं।' परम्परा के अभिज्ञ विद्वान् को भारतीय दर्शन की जीवन्त श्रेष्ठता उतनी ही निर्विवाद प्रतीत होती रही जितनी कि जन–साधारण को पश्चिमी विज्ञान की। भारतीय विचारक और दार्शनिक पश्चिमी दर्शनों से अभिज्ञ होते हुए भी मुख्यतया भारतीय दर्शन की परम्परा के संदर्भ में ही कार्य करते आये हैं किन्तु कुछ काल से बहुत बड़ा परिवर्तन दृष्टिगोचर होता रहा है जिसमें भारतीय परम्परागत दर्शन की ओर अरुचि तथा पाश्चात्य वर्तमान चिंतन धाराओं के प्रति सघन आकर्षण है। बहुधा यह आकर्षण मौलिकता के आग्रह के रूप में प्रच्छन्न रहता है। परम्परा निरपेक्ष मौलिकता यथार्थ नहीं हो सकती। मौलिक कृतित्व किसी न किसी परम्परा की पृष्ठभूमि में उद्भूत होता है। ज्ञान–विज्ञान काव्य–कला धर्म–दर्शन, सभी क्षेत्रों में व्यक्ति की देन एक कड़ी मात्र होती है और दूरगामी विकास की धाराएँ परम्पराओं में प्रकट होती है। कोई गम्भीर दार्शनिक प्रस्थान केवल एक प्रवर्तक व्यक्ति की कृतियों में पूरा निखर सकता है, यह बहुत संदिग्ध है। यही कारण है कि भारतीय दर्शन की दीर्घ परम्पराओं में व्याख्यान और अनु व्याख्यान के द्वारा जिस प्रकार मूल दृष्टियों का विकास हुआ है वैसा नितान्त व्यक्ति निष्ठ दार्शनिक चिन्तन में संभव नहीं है।

इस समय भारत के व्यापक आधुनिकीकरण का जो प्रयास राष्ट्रीय स्तर पर हो रहा है वह अनेक क्षेत्रों में अविचारित दूरगामी संभावनाओं का द्योतक प्रतीत होता है। उदाहरण के लिए यदि स्वदेश में सम्मानित होने के लिए दार्शनिक विचारक को यह आवश्यक प्रतीत हो कि वह अपने लेख विदेशी पत्रिकाओं में प्रकाशित करे अथवा समकालीन विदेशी दार्शनिकों से सम्मान प्राप्त करे तो यह प्रायः अनिवार्य हो जाता है कि वह अपने कार्य को उनके परिचित संदर्भों में प्रस्तुत करे। नवीन शिक्षा नीति शायद आगामी समय में इस चिंतन धारा के बहाव में उचित मोड़ दे सके। यथार्थ तो यह है कि अभी भी तथाकथित अन्तर राष्ट्रीय विचार–विनिमय की एकमात्र मुद्रा पश्चिमी ही है और उसका

अबाध अवलम्ब भारत के राष्ट्रीय विकास के लिए पूरी तरह से हितकर न होकर एक प्रकार का दार्शनिक अवमूल्यन ही उत्पन्न करता है। परम्परागत धर्म के ह्रास वैज्ञानिक और शैल्पिक प्रगति से प्रेरित इस नए अवधारणा की दार्शनिक अनिवार्यता और उसके मूल्य–संदर्भ और ज्ञान–संदर्भ की उपादेयता हमारे लिए नितान्त विचारणीय है।

हमारे देश में इस समय दर्शन की ऐसी ही स्थिति है कि पुराने दार्शनिक प्रस्थान जिस आध्यात्मिक ज्ञान और सामाजिक मूल्यों को आगामित करते हैं वे इस समय दुर्लभ अथवा संदिग्ध हो उठे हैं क्योंकि वैज्ञानिक और भौतिक–सामाजिक दृष्टि से प्रगतिशाली पाश्चात्य संस्कृति हमारी शिक्षा–दीक्षा पर हावी है। इस स्थिति में नये और पुराने का सम्यग्ज्ञान के आधार पर कुशल परीक्षण तो आवश्यक है किन्तु उसके स्थान पर प्रायः यह दीखता है कि विभिन्न समकालीन विदेशी वादों, सम्प्रदायों और गोष्ठियों की ही शाखाएँ–प्रशाखाएँ अथवा अनुवाद भारत में पल्लवित हो रहे हैं और यह भय लगता है कि इस उर्वर खरपतवार से परम्परागत दार्शनिक दृष्टि, जो पहले ही अधिकांश समय की धूल से समाच्छन्न हैं, अब सर्वथा अभिभूत हो जाएगी। इस पराभव से विजयी सांस्कृतिक अभियान के प्राबल्य से हम सभी परिचित होते रहे हैं।

प्रायः विश्वविद्यालयों में भारतीय दर्शन का अत्यंत संक्षिप्त और सामान्य परिचय दिया जाता है और अनेक नवीन पाठ्यक्रमों में वह भी वैकल्पिक अथवा विलुप्त हो गया है। 'दार्शनिक विधि; एवं दार्शनिक समस्याएँ नीतिशास्त्र एवं तर्कशास्त्र इस प्रकार के नामांकित पाठ्यक्रमों को देखने से लगता है कि दर्शन ने शायद चिर अभीप्सित अकालिकता अथवा विज्ञानोपम।[2] प्रगतिशील समकालकता प्राप्त कर ली है। वास्तव में यह पाश्चात्य दर्शन–परम्परा के कुछ प्रचलित खण्डों का ही सार्वभौम पद पर यथारुचि मूर्धाभिषेक है। आवश्यक यह है कि भारतीय दार्शनिक अपनी अतुल विरासत को आत्मसात् कर भारतीय संदर्भ में आधुनिकता और मौलिकता को लाभान्वित करें। इस प्रकार परम्परा से अतिच्छन्न किन्तु परिवर्तित परिवेश की ओर सजग दर्शन ही सही अर्थ में प्रगतिशील हो सकता है और अपनी विशिष्टता के कारण ही वह वास्तविक विश्वजनीनता प्राप्त कर सकता है जिसका अर्थ सर्व–स्वीकार्यता है न कि संस्कृति–निरपेक्षता है, क्योंकि यह असंभव है, अपितु मूल्याभिसंबद्ध गंभीर और मार्मिक दृष्टि की तार्किक कल्पना के सर्वगोचर स्तर पर व्यवस्थित अभिव्यक्ति करना ही वर्तमान की आवश्यकता है। जहाँ तक दर्शन का विशिष्ट रस[3] तार्किक है, उसकी सार्वभौमता सहजसिद्ध है, किन्तु दर्शन का उत्कर्ष केवल इस विशिष्टता के उत्कर्ष से सिद्ध नहीं होता। केवल तर्क का स्वाद तो गणितादि में और अधिक देखा जा सकता है। दर्शन की विशिष्टता के लिए भी मूल्याभिसंबंध या मानवीय सार्थकता उतनी ही आवश्यक है जितनी तार्किकता। इनमें से केवल एक पक्ष के आग्रह से दर्शन लंगड़ाने लगता है। जैसे काव्य में रसापेक्षी रूपाग्रह केवल आलंकारिकता को जन्म देता है, ऐसे ही दर्शन में दृष्टिविहीन तार्किक आग्रह कोरे वितर्क को जन्म देता है, जैसे काव्यगत परम्परा अति विरूढ़ होने पर आलंकारिकता के गर्त में अवनतिशील हो उठती है ऐसे ही दार्शनिक परम्पराएँ भी अपने अंतिम चरण में बृहत्तर सत्य के प्रश्न भूल कर अनन्त सूक्ष्म परिष्कारों के आवर्त में विभ्रान्त हो उठती हैं। यह सांस्कृतिक इतिहास का गंभीर नियम है कि किसी भी प्रकार की परम्परा में मूल दृष्टि के रूढ़ हो जाने पर लक्ष्य गौण और लक्षण प्रधान होने लगते हैं। उन्मेषकाल में कवि अथवा दार्शनिक द्रष्टा के रूप में विकासशील अनुभूति को नाम–रूप में प्रदान करता है[4] जबकि परवर्ती पण्डित अथवा आचार्य प्रसिद्ध लक्षणों की लाठी के सहारे ही लक्ष्य रूप अनुभूति के मार्ग को टटोल पाते हैं। इन दो स्थितियों की मध्यवर्ती स्थिति, जहाँ द्रष्टा और आचार्य का समन्वय प्रस्तुत होता है वह शास्त्रीय विषय माना गया है। अट्ठारहवीं

भारतीय दर्शन का मूल युग व्यतीत हो चुका था। किन्तु उन्नीसवीं शताब्दी में नाना मनीषियों ने एक अभिनव उन्मेष का सूत्रपात निश्चित् रूप से किया। सांख्य और योग, वेदान्त और तंत्र के पुनर्मन्थन से भारतीय दर्शन के कतिपय तत्वों का एक नवीन निरूपण प्रारंभ हुआ। उदाहरण के लिए, विवेकानंद का धर्म-समन्वय तिलक की कर्मव्याख्या, दयानन्द का वैदिक त्रैतवाद, श्रीअरविन्द की योगव्याख्या, कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य और हरिहरानंद की सांख्ययोग की व्याख्या, राधाकृष्णन् और उनके अनुयायियों की अद्वैतवेदान्त की व्याख्या, कविराज जी का तन्त्रनिरूपण, रानाडे का भक्ति-निरूपण, रोजेनबर्ग और शेरबात्स्की का सौत्रान्तिक दृष्टि का निरूपण, रवीन्द्र का वैष्णव मानववाद, गांधी जी का अहिंसावाद, आदि विभिन्न स्तरों पर नई नामांकित दर्शन की विभिन्न परम्पराएँ हैं इनमें आध्यात्म विद्या का प्रामुख्य स्पष्ट प्रतीत होता है।

इस प्रकार का विचार-विमर्श और अधिक व्यापक और गहरा हो सकता था, और उसके आधार पर प्रौढ़ एवं परिष्कृत नए दार्शनिक प्रस्थानों का आविर्भाव हो सकता था। उदाहरण के लिए, मध्यकालीन वेदान्त की उपलब्धि का विवरण और मूल्यांकन,[5] नव्यन्याय का नवीन और प्रगतिशील पुनः प्रस्थान आदि की दिशा में नहीं के बराबर ही कार्य हुआ है। योग की विभिन्न शाखाओं में निहित अध्यात्म विज्ञान का निरूपण अधिकांश में शेष ही है। संक्षेप में, भारतीय दर्शन की परम्परागत विरासत का पुनः स्वायत्तीकरण और संशोधन के द्वारा नए भव्य विकल्प-प्रसादों का निर्माण कार्य कुछ प्रारंभ होकर विच्छिन्न सा हो गया लगता है। कदाचित् इसका कारण यह है कि जिस आध्यात्मिक अनुभूति की अंतःसलिला से भारतीय दर्शन का कलेवर प्राणसिक्त होता रहा है, वह इधर ऐहिकता के मरुस्थल में विलीन सी हो चली है। ये विद्वान् भी बहुधा मूल्य-समीक्षा को दर्शन मानते हैं, जो कि आधुनिक समय में अध्यात्मविद्या के रूप में स्थानापन्न है। उदाहरण के लिए कर्म और मुक्ति, दुःख और आनंद आदि के प्रश्न दोनों में समान्तर हैं। आध्यात्मिक अनुभूति के स्तर पर हो अथवा ऐतिहासिक-सामाजिक संस्कारों के स्तर पर हो, पुरुषार्थ संबंधी प्रश्न तो सदा ही दार्शनिक रहेंगे।[6] अस्तु, इस स्थिति में अभिज्ञ भारतीय दार्शनिकों के लिए ही यह सम्भव है कि वे नए और पुराने आदर्शों और सिद्धांतों की निष्पक्ष तुलनात्मक आलोचना के द्वारा संकटग्रस्त भारतीय मनीषा को सही मार्ग दिखाएँ। इस कार्य भार के निर्वाह के लिए भारतीय दार्शनिकों को नए सांस्कृतिक संदर्भ में पुरानी परम्परा का और उस परम्परा में निष्णात होकर नई पाश्चात्य विचार-धाराओं का गंभीर आलोडन व आलोचन करना होगा। ऐसी आलोचना से परिष्कृत होकर ही नई दार्शनिक प्रतिभा सार्थक प्रगति में समर्थ होगी, अन्यथा यह आशंका होती है कि वह विदेशी प्रचलित अल्पकालिक मति-रूचियों के छिटपुट परिष्कार में 'शतरंज के खिलाड़ियों' की तरह अनर्थ ग्रस्त होकर नवीन प्रश्नों तले ही दब जायेगी।

संदर्भ-

1. भविष्य का धर्म वेदान्त, स्वामी विवेकानन्द पृ. 38
2. बृहदारण्यक उपनिषद, मनविदित्वा। सर्वं विज्ञानं भवति इति....।
3. रसो वै स: मेन लब्ध्वा आनन्दी भवि (तैत्तिरीय उपनिषद ब्रह्मानन्दवल्ली 7/1)
4. दृष्ट्वारूपे व्याकरोत्, यत्यानृते प्रजापतिः (यजुर्वेदी 19/77)
5. संस्कृत साहित्य का इतिहास-लेखक पं.युधिष्ठिर मीमांसक
6. शंकराचार्य कृत "परा पूजा" तथा धर्मऽमंजरी'

स्व. प्रो.श्री चन्द्रशेखर अवस्थी स्मृति धर्मदर्शन व्याख्यानमाला

धर्मों का मिलन–यान : हिंसात्मक युद्ध या अहिंसात्मक संवाद व इसके मुद्दे

डॉ0 अवनीश चन्द पाण्डेय
असि.प्रोफेसर
दर्शनशास्त्र विभाग
सतीश चन्द्र कॉलेज
जननायक चन्द्रशेखर वि0वि0, बलिया

प्रस्तुत शोध–पत्र जिसका शीर्षक है–''धर्मों का मिलन–यान: हिंसात्मक युद्ध या अहिंसात्मक संवाद व इसके मुद्दे। इस शोध–पत्र के माध्यम से उन मुद्दों की तलाश करने का प्रयास किया गया है जिनसे विभिन्न धर्मों के मिलन का यान हिंसात्मक युद्ध कब हो जाता है और कब अहिंसात्मक संवाद हो जाता है। ऐसे तमाम मुद्दे हैं जब दो धर्म आपस में मिलते हैं तो हिंसायान पर सवार होकर ही मिलते हैं या हिंसा रूपी यान (गाड़ी) पर सवार होने पर मजबूर होते हैं और कुछ मुद्दे ऐसे हैं जिनमें दो या दो से अधिक धर्म जब आपस मे मिलते हैं तो उनके मिलन का यान (गाड़ी) अहिंसात्मक संवाद होता है। धर्म दर्शन की इक्कसवीं सदी में सबसे बड़ी चुनौती ईश्वर व आत्मा के अस्तित्व को प्रमाणित या खण्डित करना नही रह गया है और न ही आत्मा की अमरता या नश्वरता को प्रमाणित करना है, नहीं मोक्ष की विवेचना करना है बल्कि इन मुद्दों को छोड़कर इन धर्मों के अनुयायियों के बीच उत्पन्न होने वाले बौद्धिक विवाद और तत्पश्चात् उसका हिंसक विवाद मे परिणति को रोकना सबसे बड़ी चुनौती है। सबसे बड़ी चुनौती संघर्ष के आर्थिक मुद्दो व राजनीतिक मुद्दों को धर्म से जोड़कर आर्थिक या राजनीतिक समस्याओं का कारण धार्मिक बना देना और दो धर्मो को हिंसात्मक यान (गाड़ी) पर बैठा देना है। यह कोई आवश्यक नहीं है कि आर्थिक व राजनीतिक मुद्दों को धार्मिक मुद्दों से जोड़कर ही हिंसात्मक बनाया जाता है बल्कि धार्मिक मुद्दो को लेकर भी जैसे सर्वश्रेष्ठता की महत्वाकांक्षा के कारण भी, दो धर्म हिंसात्मक यान (गाड़ी) पर आरूढ़ हो जाते हैं। किन्तु ऐसे मुद्दे जो अस्पष्टता या चमत्कार या रहस्यवाद के विविध स्वरूप को लेकर उत्पन्न होते हैं वह अहिंसात्मक संवाद यान (गाड़ी) पर आरूढ़ होकर हल किये जाते हैं। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि हिंसात्मक यान (गाड़ी) पर आरूढ़ धर्मों को भी अन्ततः हिंसात्मक यान से उतरकर अहिंसात्मक यान पर आरूढ़ होना ही पड़ता है। इस प्रकार दो या दो से अधिक धर्मों के मिलन–यान दो प्रकार के होते हैः–

1. हिंसात्मक यान (Violent-Vehicle)
2. अहिंसात्मक यान (Non-Violent-Vehicle)

हिंसात्मक यान वह यान है, जिस पर दो या दो से अधिक धर्म आरूढ़ होते हैं, तो वे वृहद नरसंहार, अशांति व दुर्भावना आदि उत्सर्जित करते हैं। जबकि अहिंसात्मक यान वह है जिस पर दो या दो से अधिक धर्म आरूढ़ होते हैं, तो प्रेम, शान्ति व सद्भाव आदि उत्सर्जित होती है। हिंसात्मक यान दो प्रकार का होता है– सत्य आधारित हिंसात्मक यान और असत्य आधारित हिंसात्मक यान।

अति प्राचीन काल मे हिंसात्मक यान पर जब दो धर्म सवार होते थे तो सत्य आधारित हिंसा यान असत्य आधारित हिंसा यान पर विजय प्राप्त करता था और असत्य तथा अधर्म से मानवता को

 ISSN-0975-2560

छुटकारा मिलती थी। किन्तु पिछली कुछ सदियों व वर्तमान 21वीं सदी में दो या दो से अधिक धर्मों में कौन सत्य आधारित हिंसा यान पर आरूढ़ है, अनिर्धार्य है। रामायण के युद्ध में व महाभारत के युद्ध में जिधर राम व कृष्ण थे, वे सत्य आधारित हिंसा यान पर आरूढ़ थे, यह निर्धार्य था, किन्तु 9/11 में कौन सत्य आधारित हिंसा यान पर आरूढ़ था और कौन असत्य आधारित हिंसा यान पर आधारित था, यह अनिर्धार्य है। यह भी संभव है कि 9/11 में दोनों ही असत्य आधारित हिंसा यान पर आरूढ़ रहे हों और इस युद्ध का परिणाम भी अनिर्धार्य हो।

अहिंसात्मक यान भी दो प्रकार के होते हैं और वह होता है– सत्य आधारित अहिंसात्मक यान और असत्य आधारित अहिंसात्मक यान। हिंसात्मक यान सत्य–असत्य में बँटी मानवता में से एक को समाप्त कर सत्य आधारित मानवता की स्थापना करती है या तो मानवता को विभिन्न भागों में बाँटती है। यदि सत्य आधारित हिंसायान है तो असत्य आधारित मानवता को नष्ट कर सत्य आधारित मानवता की स्थापना करता है और यदि असत्य आधारित हिंसा यान है तो वे मानवता को खण्ड–खण्ड में बाँट देते हैं। अहिंसात्मक यान यदि सत्य आधारित होता है तो वह न तो अन्य प्रकार की मानवता को समाप्त करती है और न ही मानवता को खण्ड–खण्ड में बाँटती है। धर्म दर्शन की मूल चुनौती है मानवता को धर्म के आधार पर खण्ड–खण्ड विभाजित होने से रोकना और यह तभी संभव है जब विभिन्न धर्म सत्य आधारित अहिंसात्मक यान पर सवार होकर संवाद करें। किन्तु असत्य आधारित अहिंसात्मक यान पर जब कोई धर्म आरूढ़ होता है तो वह अहिंसात्मक होने से प्रथम दृष्ट्या मानवता की सेवा करता प्रतीत होता है किन्तु चूँकि यह मानवता की सेवा सत्य आधारित अहिंसात्मक–यान पर सवार होकर नहीं करता है तो अन्ततः असत्य के विरूद्व विद्रोह को जन्म देता है और हिंसा को भी प्रेरित करता है। जैसे अर्थ द्वारा धर्म–परिवर्तन।

अपने फिलॉसफी ऑफ रीलिजन में जॉन हिक लिखते हैं "जब दुनिया के किसी भी धर्म का विस्तार उसके मूल क्षेत्र से किसी अन्य क्षेत्र की तरफ होता है तो वह एक दूसरे के प्रति पर्याप्त अज्ञानता के वातावरण में होता है। इसप्रकार के विस्तार महान आंदोलनों के परिणाम हैं। जिसमें सर्वप्रथम बौद्व धर्म (300BC) दुनिया के विभिन्न हिस्सों में फैला, फिर ईसाई धर्म उसके बाद की शताब्दियो में भारत और दक्षिणी–पूर्वी एशिया से होते हुए चान, तिब्बत व जापान तक अपना संदेश लेकर पहुँचा, और दोनों आस्थाएं (बौद्व और ईसाई) एक दूसरे के सम्पर्क में आयीं और उसी का परिणाम है कि हिन्दू धर्म का (बौद्व धर्म की कीमत पर उत्थान हुआ) पुनरुत्थान हुआ और भारतीय उप महाद्वीपीय में शायद बड़े क्षीण रूप में बौद्व धर्म पाया जाता है। ईसाई धर्म का पहला विस्तार रोमन साम्राज्य में हुआ। फिर इस्लाम धर्म का 7वीं–8वीं शताब्दी मे मध्य–पूर्व यूरोप और बाद में भारत में हुआ और अन्त में ईसाई धर्म का द्वितीय विस्तार 19वीं सदी में ईसाई मिशनरी के आंदोलन के फलस्वरूप हुआ। यद्यपि यह अन्तर्क्रिया ईसाई धर्म और इस्लाम धर्म के बीच संवाद रूपी न होकर संघर्षमय या युद्वपूर्ण था और उसके द्वारा दूसरे धर्म के अनुयायियों के बीच कोई गहरी वह सहानुभूतिक समझ पैदा करने में सफल नही हुयी थी। दुनिया के विभिन्न धर्मो का बौद्धिक एवं दार्शनिक अध्ययन, जो कि पिछले 100 वर्षों के बीच हुआ है, के कारण अन्य धार्मिक विश्वासों का सही–सही मूल्यांकन हो पाया है और फलस्वरूप विभिन्न परम्पराओं द्वारा धर्म सम्बन्धी सत्य के विरोधी दावों द्वारा उत्पन्न समस्यायें हमारे घरों तक आ पहुँची हैं और इसलिए इन समस्याओं पर विचार ही धर्म दार्शनिकों के लिए महत्त्वपूर्ण मुद्दा बनकर उपस्थित हुआ है।[1]

जॉन हिक आगे लिखते हैं कि इस समस्या को ठीक से मूर्त रूप में उपस्थित किया जाय तो हम कह सकते हैं कि "यदि मैं भारत में जन्मा होता तो सम्भवतः हिन्दू होता, यदि मिस्र में पैदा हुआ होता तो सम्भवतः मुस्लिम होता, यदि श्रीलंका में पैदा हुआ होता तो बौद्ध होता और यदि इंग्लैंड में जन्मा होता तो ईसाई के रूप में पैदा हुआ होता। निस्सन्देह भिन्न–भिन्न परिस्थितियों में मैं "भिन्न–आत्म" के रूप में विकसित हुआ होता।"

ये विभिन्न धर्म परमसत्ता के स्वरूप के बारे में, उस परम सत्ता को पाने से सम्बन्धित दिव्य कर्मकाण्डों की विधियों के बारे में और मानव जाति की प्रकृति और नियति के बारे में भिन्न–भिन्न और परस्पर विरोधी विचार व्यक्त करते हैं कि क्या ईश्वर या परम सत्य व्यक्तित्वपूर्ण है या निर्वैयक्तिक? क्या ईश्वर शरीरधारी रूप में अवतार लेता है? क्या मनुष्य धरती पर बार–बार पुनर्जन्म लेता है? क्या यह आनुभाविक आत्म ही वास्तविक आत्म है, जो ईश्वर के साहचर्य में नित्य और अमर आत्म के रूप में रहने के लिए नियत है या वह क्षणभंगुर और वास्तविक आत्मा का भ्रम मात्र है? क्या बाइबिल या कुरान या भगवद्गीता ईश्वर के शब्द हैं। ईसाई धर्म इन प्रश्नों के उत्तर में जो कहता है, क्या हिंदू धर्म इन प्रश्नों के बारे में जो उत्तर देता है एक सीमा तक गलत नहीं है? बौद्ध धर्म जिसको सत्य कहता है, इस्लाम उसके बारे में जो बात कहता है वह क्या एक सीमा तक गलत नहीं है?

ह्यूम को जॉन हिक उद्धृत करते हुए कहते हैं कि "विभिन्न धर्मों के बारे में चाहे जो कुछ भी परस्पर विरोधी दावे हों, चाहे प्राचीन रोम के धर्म हो, या तुर्की के, या सियाम के या चीन के, इनमें से भी किसी का किसी ठोस आधारभूमि पर आधारित होना असंभव है। ह्यूम लिखता है– किसी भी धार्मिक विश्वास की सत्यता के लिए चमत्कार को प्रमाण के रूप में स्वीकार किया गया है। प्रत्येक चमत्कार, विभिन्न धर्मों के लिए ढाल होने का दावा करते हैं। सभी धर्म चमत्कार से भरे पड़े हैं और इसका साक्षात् उद्देश्य होता है उस विशिष्ट धर्म की स्थापना करना, जिसके लिए किसी विशेष चमत्कार का प्रयोग किया जाता है। इसी प्रकार चमत्कार की शक्ति का खण्डन (यद्यपि साक्षात् रूप से नहीं किन्तु असाक्षात् रूप से) कर उस धर्म को खण्डित भी किया जा सकता है।"

ह्यूम कहते हैं कि "चमत्कार प्रकृति के नियमों का उल्लंघन है और प्राकृतिक नियम, जो दृढ़ और अपरिवर्तनीय अनुभव द्वारा स्थापित नियम है। यह चमत्कार के विरुद्ध ऐसा पूर्ण प्रमाण है कि इस प्राकृतिक नियम के विरुद्ध अनुभव के किसी भी तर्क की कल्पना नहीं की जा सकती है। इतना किसी भी चमत्कार को श्रद्धा और सम्मान नहीं मिला होता यदि प्रकृति के सामान्य विकास में यह चमत्कार घटित हुआ होता, कि "एक मरे हुए व्यक्ति को पुनः जीवित कर दिया जाय।" किन्तु ऐसा किसी भी युग या देश में नहीं देखा गया। अतः चमत्कारी घटनाओं के विरुद्ध एक समान अनुभव निश्चित रूप से होना चाहिए, अन्यथा उक्त घटना का कोई महत्त्व नहीं होगा और यह एक समान अनुभव (कि मृत व्यक्ति पुनः जीवित नहीं होता है) एक प्रमाण के बराबर होता है, यह किसी भी चमत्कार के विरुद्ध तथ्यात्मक रूप से एक साक्षात् एवं पूर्ण प्रमाण है। यह प्रमाण या तो नष्ट नहीं किया जा सकता है या चमत्कार को विश्वसनीय रूप में प्रस्तुत नहीं किया जा सकता है। इस प्रमाण को नष्ट नहीं किया जा सकता है अतः चमत्कार को विश्वसनीय रूप से प्रमाण के रूप में प्रस्तुत नहीं किया जा सकता है।"

ह्यूम के अनुसार–

1. एक चमत्कार प्रकृति के नियमों का उल्लंघन है।
2. दृढ़ और अपरिवर्तनीय अनुभव द्वारा प्रकृति के नियम प्रतिष्ठित होते हैं।
3. जो कुछ भी अनुभूत किया जा चुका है वह एक प्राकृतिक नियम है।

4. ऐसा कुछ भी अनुभव नहीं किया गया है जो प्रकृति के नियमों के विरुद्ध हो या उसे प्रमाणित न करता हो।
5. सभी अनुभूतियाँ जो एक रूपात्मक हैं, चमत्कार के विरुद्ध सिद्ध होती हैं।

इस प्रकार ह्यूम चमत्कार के अस्तित्व का खण्डन कर देते हैं और जो भी धर्म चमत्कार पर आधारित है, उनके चमत्कार के अस्तित्व के असिद्ध होते ही उन धर्मों का भी खण्डन हो जाता है।

धर्मों के बीच अन्तःसम्बन्ध की आवश्यकता, ऐसा समझा जाता था कि यह भारत की जरूरत है, पूरी दुनिया को नहीं है और फलस्वरूप किसी भी प्रकार की साम्प्रदायिकता, चाहे वह ब्रिटिश सरकार द्वारा आजादी के पूर्व और आजादी के बाद के कुछ दशकों तक हवा दी जा रही थी, या संयुक्त राज्य अमेरिका द्वारा 90 के दशक तक या अभी भी कभी–कभी पाकिस्तान के माध्यम से हवा दी जाती है या चीन द्वारा 21वीं सदी में साम्प्रदायिकता को भारत में हवा दी जा रही है, उसका शिकार इंग्लैंड, संयुक्त राज्य अमेरिका, फ्रांस आदि हो चुके हैं और आने वाले भविष्य में चीन की बारी है। इसका तात्पर्य यह है कि धर्म निरपेक्षता की आवश्यकता दुनिया के सभी राष्ट्रों को है। धार्मिक दृष्टि से ईसाई राष्ट्र और मुस्लिम राष्ट्र धर्मनिरपेक्षता की न तो आवश्यकता समझते थे और न ही धर्मनिरपेक्षता को किसी चुनौती के सामना का हथियार समझते थे। ये धर्मनिरपेक्षता की आवश्यकता, लोकतंत्र और चर्च के टकराव को नियंत्रित करने मात्र के लिए, लोकतांत्रिक शासन प्रणाली को धर्मनिरपेक्ष बनाये रखने के लिए समझते थे। मुस्लिम बाहुल्य राष्ट्रों में भी इसकी आवश्यकता क्षीण ही समझी गयी। किन्तु भारत में धर्मनिरपेक्षता की आवश्यकता इसलिए समझी गयी क्योंकि यह बहुधर्मी लोकतंत्र था और शांति तथा एकता की स्थापना के लिए विभिन्न धर्मों के बीच अंतःसम्बन्ध की आवश्यकता इसकी जरूरत थी। दुनिया अब भूमण्डलीकृत हो चुकी है, और भारत जिसकी आवश्यकता बहुत पहले से ही समझ रहा था, अब पूरी दुनिया उसकी आवश्यकता को महसूस करने लगी है। ऐसी परिस्थिति में धर्मों के बीच अन्तःसम्बन्ध की चार ही शर्त हो सकती है–

1. धर्म निरपेक्षता
2. सर्वधर्मसमभाव
3. आत्मपूर्णता या अहस्तक्षेप की नीति
4. अनेकता की एकता

धर्म निरपेक्षता से तात्पर्य एक राज्य की वैसी प्रवृत्ति से है जो सभी धर्मों से समान दूरी बनाये रखती है, किसी का भी पक्ष लेने से इन्कार करती है और सबके प्रति तटस्थ भाव रखती है। वहीं एक दूसरी धर्म निरपेक्षता की परिभाषा दी जाती है जिसके अनुसार राज्य को किसी भी धर्म से कोई सम्बन्ध नहीं रखना चाहिए। कहने का तात्पर्य यह है कि कोई राज्य या समाज धर्मनिरपेक्ष तब होता है जब वह राज्य या समाज की समस्याओं से सम्बन्धित मुद्दों का समाधान बौद्धिक मानदण्डों जैसे– स्वतंत्रता, समानता, न्याय, बन्धुत्व के आधार पर किया जाता है न कि धार्मिक विश्वासों, धार्मिक संस्थाओं, धार्मिक परम्पराओं और धर्मतंत्र के अधिकारियों जैसे पोप, पुजारी, मौलवी, खलीफा आदि के नियमों एवं निर्देशों के अनुसार समाधान ढूँढा जाता है। नेहरू धर्मनिरपेक्ष राज्य या राष्ट्र को परिभाषित करते हुए कहते हैं कि "एक धर्मनिरपेक्ष राष्ट्र वह राष्ट्र है जो सभी धर्मों को समान संरक्षण प्रदान करता है किन्तु किसी एक धर्म का किसी अन्य धर्म या धर्मों की कीमत पर पक्षपोषण नहीं करता है।"[8] 1961 में दिए एक भाषण में कहते हैं कि "हमने अपने संविधान में एक धर्मनिरपेक्ष राष्ट्र के रूप में भारत की स्थापना की है। किन्तु इसका अर्थ अधार्मिक या नास्तिक नहीं है। इसका तात्पर्य सभी धार्मिक विश्वासों

का समान आदर करना और उन धार्मिक विश्वासों को मानने वालों को समान अवसर प्रदान करना है।' द डिस्कवरी ऑफ इण्डिया में भारतीय मूल के 'धर्म' शब्द के अर्थ पर प्रकाश डालते हुए कहते हैं कि धर्म वस्तुतः रिलीजन से कुछ व्यापक है जिसका अर्थ लोगों को एक साथ एकता के सूत्र में बांधकर रखना है, यह किसी वस्तु अन्तरतम विधान है, किसी व्यक्ति का अन्तरतम नियम है, यह एक नैतिक अवधारणा है जो नैतिक नियमों, उनके औचित्य और मनुष्य के सम्पूर्ण कर्तव्यों और उत्तरदायित्वों को समाहित करती है।'

भाखड़ा–नांगल बांध के उद्घाटन के अवसर पर सन् 1954 में वह उद्घोषित करते हैं कि इन दिनों सबसे बड़े मन्दिर, मस्जिद व गुरुद्वारा वे स्थान हैं जहाँ सभी मनुष्य मिलकर मनुष्य–जाति के भलाई के लिए काम करते हैं। कौन से धर्म स्थान इस स्थान से बड़े हो सकते हैं, जहाँ मनुष्यता की भलाई के लिए इतने हजारों–लाखों लोगों ने काम किया, अपने खून–पसीना बहाए और अपने जीवन को न्यौछावर कर दिया।' दरअसल इन्हीं धर्मनिरपेक्ष मूल्यों के चलते मुस्लिम राष्ट्रों, यूरोपियन, अमेरिकन व कोरियन, चीनी, जापानी आदि राष्ट्रों में विभिन्न धर्मों का मिलन भले न हुआ हो किन्तु विभिन्न धर्मों के अनुयायियों या मानने वालों का अहिंसक मिलन हुआ है। अतः धर्मनिरपेक्षता सैद्धान्तिक रूप से चाहे धर्म के विरूद्ध हो, धर्म से तटस्थ हो या सभी धर्मों का समान आदर करता हो, यह धर्मों को जोड़ने में भले न सफल हुआ हो किन्तु विभिन्न धर्मों के अनुयायियों को जोड़ने में सफल हुआ है। विभिन्न धर्मों के अनुयायियों का अहिंसक मेल–जोल व भ्रातृत्व भाव ही सभी धर्मों का उद्देश्य है। किन्तु धर्मों का लक्ष्य जैसा कि विभिन्न धर्म दावा करते हैं, मनुष्यता की सेवा करना, उनको जोड़ना, उतना सफल नहीं हुए हैं जितना धर्मनिरपेक्षता।

स्वामी विवेकानन्द कहते हैं "विविधता के बीच एकता ही ब्रह्माण्ड की योजना है। हम सभी मनुष्य हैं और साथ हम सभी एक दूसरे भिन्न भी हैं। मानवता का हिस्सा होने के नाते मैं तुमसे अभिन्न हूँ किन्तु श्रीमान और श्रीमान के रूप में हम भिन्न हैं। पुरुष के रूप में हम स्त्री से अलग हैं किन्तु मानव के रूप में हम स्त्री से अभिन्न हैं। मनुष्य के रूप में हम पशु से भिन्न हैं किन्तु जीवधारी के रूप में पुरुष, स्त्री, पशु, वृक्ष सभी एक हैं और अस्तित्व की दृष्टि से हम सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के साथ एक हैं। यह सार्वभौम सत्ता जो ब्रह्माण्ड का परमएकत्व है, ईश्वर है। उसमें हम सभी एक हैं किन्तु अभिव्यक्ति की दशा में जो विभिन्नताएँ हैं, उसे भी निश्चित रूप से रहना चाहिए। यदि कोई ऐसे सार्वभौम धर्म की बात करता है जिसमें सम्पूर्ण मनुष्य जाति द्वारा एक ही प्रकार सिद्धान्त माना जाय, तो पूर्णतया असम्भव है। ऐसा कभी भी नहीं हो सकता है, ऐसा समय कभी नहीं आयेगा जब सभी मनुष्यों के चेहरे एक जैसे हों।" तब सार्वभौम धर्म का तर्क क्या है? अनुमान करें हम सभी भिन्न–भिन्न प्रकार के बर्तन या पात्र लेकर जल लेने जाते हैं, किसी के पास प्याला है, किसी के पास घड़ा है, किसी के पास बाल्टी है इत्यादि और सभी किसी न किसी प्रकार जल से अपने–अपने पात्र भरते हैं। जल प्रत्येक परिस्थिति में वैसा ही आकार ग्रहण करता है जैसा पात्र प्रत्येक व्यक्ति जल भरने हेतु ले गये थे। जो प्याला मैं ले आया था, उसका जल प्याले के रूप में रहता है और जो घड़ा में ले आया था उसका जल घड़े के आकार का रहता है, इत्यादि। लेकिन प्रत्येक पात्र में जल ही रहता है, जल के अतिरिक्त कुछ नहीं रहता है। इसी प्रकार की स्थिति विभिन्न धर्मों की है। हम सभी का मन भिन्न–भिन्न पात्रों या बर्तनों की तरह है और हममें से प्रत्येक ईश्वर का साक्षात्कार करना चाहता है, ईश्वर उस जल के समान है, जो विभिन्न पात्रों में भरता है और प्रत्येक पात्र या मनुष्य में 'ईश्वर की दृष्टि' उस पात्र की भाँति ही भिन्न–भिन्न रूप में निर्मित होती है। इस प्रकार ईश्वर एक है। वह प्रत्येक परिस्थिति में ईश्वर ही रहता है और यही यह

सार्वभौम धर्म है जिसको हम प्राप्त कर सकते हैं। लेकिन प्रश्न उठता है कि यह सैद्धान्तिक रूप से तो ठीक है किन्तु क्या व्यावहारिक रूप से कोई उपाय है जिससे विभिन्न धर्मों के बीच सामंजस्य स्थापित किया जा सके। हम इस बात पर सहमति पाते हैं कि धर्म से सम्बन्धित विभिन्न दृष्टियां सत्य हैं, किन्तु वे बहुत पुराने हो चुके है। सैकड़ों प्रयास भारत, अलेक्जेण्ड्रिया, यूरोप, चीन, जापान, तिब्बत और अमेरिका में एक सामंजस्य पूर्ण धार्मिक मत या सिद्धान्त बनाने हेतु किया जा चुका है ताकि सभी धर्म प्रेमपूर्वक एक साथ रह सके किन्तु वे असफल रहे हैं। कारण उसका यह है कि वे इसके लिए कोई प्रायोगिक योजना नहीं बना सके है जिससे कि विभिन्न धर्मों को एक साथ लाया जा सके।[10] स्वामी विवेकानन्द कहते हैं कि 'इसके लिए मेरे पास एक छोटी योजना है। मैं नहीं जानता हूँ कि यह कितनी सफल होगी, कारगर होगी या नहीं होगी, लेकिन मैं आप लोगों के सम्मुख विचार के लिए छोड़ता हूँ। वह मेरी योजना क्या है? सबसे पहले मैं मनुष्य जाति के सामने जिस 'सिद्धान्त वाक्य' को स्वीकार करने को कहूँगा, वह है–''किसी को नुकसान मत पहुँचाओ' (Do not destroy)। मूर्ति भंजक सुधारकों ने संसार के लिए कुछ भी अच्छा नहीं किया है। कुछ भी तोड़ो नहीं, किसी वस्तु या व्यक्ति को नीचे मत गिराओ, बल्कि उसे निर्मित करो। यदि कर सकते हो तो उसकी सहायता करो, यदि नहीं कर सकते हो तो अपने हाथों को मोड़कर रखो और चीजों को ध्यान पूर्वक देखो। किसी को कष्ट न पहुँचाए, यदि आप उसकी सहायता नहीं कर पाते हैं। किसी भी मनुष्य की धारणा के विरूद्ध एक शब्द भी न बोलें क्योंकि वे निष्कपट होते हैं। द्वितीयतः जो व्यक्ति जहाँ है वहाँ से उसे स्वीकार कर उसे ऊपर उठाने का प्रयास करें और यदि सत्य है कि सभी चीजों के केन्द्र में ईश्वर है, निश्चित वह पहुँच जायेगा।[11] जॉनहिक कहते हैं कि विभिन्न धर्मों के बीच जो विवाद है उसके तीन पहलू है–

परमसत्ता या ईश्वर के स्वरूप को लेकर, जिसमें कुछ धर्म कहते हैं कि ईश्वर व्यक्तिपूर्ण है और कुछ कहते हैं कि ईश्वर व्यक्तिरहित। यहूदी, ईसाई, इस्लाम व हिन्दूवाद की ईश्वरवादी धारणायें परमसत् को व्यक्तित्वपूर्ण मानती हैं और उन्हें विभिन्न नामों से क्रमशः जावेद, गॉड, अल्लाह, विष्णु, शिव पुकारा गया है। जबकि हिन्दूवाद की अद्वैत वेदान्त शाखा द्वारा की गयी व्याख्या के अनुसार ईश्वर या परमसत् निर्वैयक्तिक या व्यक्तित्व रहित है, थेरवाद बौद्धधर्म के अनुसार परमसत् निर्वैयक्तिक है। महायान बौद्धधर्म इससे भी अधिक जटिल है जो परमसत् को वैयक्तिक और निर्वैयक्तिक दोनों कोटियों में भी रखने को तैयार नहीं है।" किन्तु जॉन हिक इसका समाधान श्री अरविन्द के The Logic of the Infinite अर्थात् 'अनन्त के तर्क' में खोजते हैं और कहते हैं कि वैयक्तिक और निर्वैयक्तिक विवाद मनुष्य की सीमित बौद्धिक कोटियों के कारण है। ये दोनों परस्पर विरोधी न होकर एक दूसरे के पूरक हैं।[12] कान्ट भी कहता है कि जगत् को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है– 'परमार्थ सत्' जैसा वास्तव में जगत् होता है और दूसरा व्यवहार–सत् जैसा जगत् मनुष्य को प्रतीत होता है। किन्तु हमारा इन्द्रियानुभव ध्वनि और विद्युत चुम्बकीय तरंगों–प्रकाश, रेडियो, इन्फारेड, अल्ट्रवैलेट, एक्सरेज एवं गामारेज के सम्पूर्ण क्षेत्र के बहुत छोटे से हिस्से के प्रति प्रतिक्रिया देने में सक्षम होता है। ठीक उसी प्रकार जगत् का जो हम अनुभव करते हैं वह उस 'विश्व', जैसा कि वह वास्तव में होता है, की सम्पूर्णता में से कोई एकाधिक विशेष चुनाव होता है। श्वेताश्वर उपनिषद् में कहा गया है कि–

एको हँसो भुवनस्यास्य मध्ये
स एवाग्निः सलिले संनिविष्टः।
तमेव विदित्वाति मृत्युमेति
नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय।।

इस ब्रह्माण्ड में जो एक प्रकाशस्वरूप परब्रह्म परमेश्वर है, वह सर्वत्र परिपूर्ण है, वे ही ज में प्रविष्ट अग्नि है। यद्यपि शीतल स्वभावयुक्त जल में उष्ण स्वभाव अग्नि का होना साधारण दृष्टि समझ में नहीं आता है क्योंकि दोनों का स्वभाव परस्पर विरुद्ध है तथापि उसके रहस्य को जानने व वैज्ञानिकों को यह प्रत्यक्ष दीखता है, अतः वे उसी जल में से बिजली के रूप में उस अग्नि तत्त्व निकालकर नाना प्रकार के कार्यों का साधन करते हैं।

"यथेन्द्रियैः पृथग्द्वारैर्थो बहु गुणश्रयाः।
एको नन्यैते तद्वद भगवानशास्त्र वर्तमाभिः।।"

जिस प्रकार अनेक गुणों वाला एक द्रव्य भिन्न–भिन्न इन्द्रियों की भिन्न–भिन्न क्रिया प्रणा से बहुविध ज्ञात प्रतीत होता है ठीक उसी प्रकार एक ही परमसत् या ईश्वर, विभिन्न धर्म ग्रंथ परम्परा के अनुसार भिन्न–भिन्न प्रतीत होता है।[5] उदाहरणार्थ एक ही चीनी आँख से सफेद, त्वचा दानेदार व चिपचिपा व जिह्वा से मीठा आदि प्रतीत होता है उसी प्रकार विभिन्न धर्मग्रंथों की अनुभू के तरीकों की भिन्नता के कारण एक ही परमसत् भिन्न–भिन्न प्रतीत होता है। ऐसी परिस्थिति में क कान्ट के व्यवहार और परमार्थ के द्वि–स्तरीय भेद स्वीकार किया जा सकता है? और क्या परमसत् अ उसके विभिन्न व्यावहारिक ज्ञान के बीच कोई वास्तविक सम्बन्ध स्थापित किया जा सकता है? य ऐसा है तो एक ही परमसत् को स्वीकार करना होगा और व्यवहार को उसी परमसत् के विभिन्न र मानना होगा और इस प्रकार हम यह संकल्पना कर सकते हैं कि एक ही परमसत् को दो मूलभू धार्मिक अवधारणाओं के रूप में अनुभूत किया जाता है– एक व्यक्तित्वपूर्ण ईश्वरवादी, दूसरा व्यक्ति–रहि गैर ईश्वरवादी। ईश्वर से सम्बन्धित यह धारणा विभिन्न धार्मिक इतिहासों के बीच बनाई जाती 'जावेह' हिब्रू धर्मशास्त्र और यहूदी लोगों की अन्तर्क्रिया की उपज है और वे उस इतिहास के चंगु से नहीं निकल सकते हैं और कृष्ण भागवत् धर्मशास्त्र और हिन्दू लोगों की अन्तर्क्रिया की उपज है अं वे उस इतिहास के चंगुल से नहीं निकल सकते हैं और इस मूलभूत संकल्पना के आधार पर कहा सकता है कि "जावेह और कृष्ण (और इसी प्रकार शिव, अल्लाह और इशु) एक ही परमसत् का विभि धार्मिक धाराओं में विचार और अनुभूत किये गये विभिन्न रूप हैं।" ये विभिन्न रूप मानवीय चेतना भीतर एक ही परमसत् के आंशिक प्रक्षेपण हैं। मानवीय चेतना के ये जो आंशिक प्रक्षेपण हैं वे उस विशे ऐतिहासिक संस्कृति की उपज होते हैं। मनुष्य की छोर से विभिन्न धर्मों के ईश्वर में जो भेद है व ईश्वर के भिन्न–भिन्न रूपों के कारण है और परमसत् की छोर से ईश्वर में यह भिन्नता मनुष्य धार्मिक विश्वासों के इतिहास के कारण है।[6]

दूसरा पहलू, जिसको लेकर दो धर्मों में विवाद होता है वह है उनके दार्शनिक व धार्मि सिद्धान्त को लेकर जो परमसत् या ईश्वर की धार्मिक अनुभूति को लेकर भिन्नता पायी जाती है अं इसका भी वही कारण है, जो पहले पहलू का है।[7]

तीसरे प्रकार की वैभिन्यता, जो विभिन्न धर्मों के विवाद का कारण है, वह है– उन धर्मों प्रवर्तक या अवतार या धर्मग्रंथ या दोनों। जैसे भगवान राम, कृष्ण वेद (यद्यपि जिन्हें अपौरुषेय मा जाता है) रामायण, महाभारत, भगवद्गीता, 'मुहम्मद साहब व कुरान', ईशु व बाइबिल, भगवान बुद्ध त्रिपिटक। इसमें किसे माना जाय।[8]

ईसाई धर्मशास्त्र ने एक ऐसा सिद्धान्त विकसित किया है जिसके अनुसार जो मनुष्य ईसाई र्म विश्वास की परिधि से बाहर हैं उन्हें भी बचाया जा सकता है। (डॉगमैटिक कान्स्टीट्यूसन ऑन चर्च, Art 16) किन्तु वे ईश्वरवादी और गैर–ईश्वरवादी (जैसे बौद्ध धर्म और अद्वैत वेदान्ती) या

मुस्लिम, यहूदी, हिन्दू, जैन, पारसी आदि चाहे वे ईश्वरवादी हों या गैर–ईश्वरवादी, जो ईसाई धर्म के सिद्धान्त को सुने नहीं है या सुने है, तो भी अपने ही विश्वास से चिपके रहना चाहते हैं, उन्हें कैसे किसी सार्वभौम धर्म का हिस्सा बनाया जा सकता है?[19]

आत्मपूर्णतावाद भी मूलतः सत्य आधारित अहिंसात्मक यान पर आरूढ़ धर्मों का लक्ष्य होता है क्योंकि आत्मपूर्णता के साक्षात्कार में अर्थात् एकमेवऽद्वितीयम् एवं अहं ब्रह्मास्मि से, चित्तवृत्तिनिरोध से या हेगल के 'व्यक्ति बनो (Be a person) अर्थात् वासनामयी हीन आत्मा को नियंत्रित करके बुद्धिमय उच्च आत्मा का लाभ करना होता है। हेगल कहता है कि व्यक्ति बनो और दूसरे के व्यक्ति का सम्मान करो।[20] अतः यदि दो या दो से अधिक धर्मों का लक्ष्य व्यक्ति की आत्मपूर्णता है तो धर्मों का मिलन सत्य आधारित अहिंसात्मक यान पर आरूढ़ होकर हो सकता है। आत्मपूर्णतावाद मूलतः अहस्तक्षेप की नीति है और यह किसी अन्य धर्म के मामले में हस्तक्षेप से बचने का एक उपाय है। यही नहीं, अनात्मवाद भी अहस्तक्षेप का ही समर्थन है।

सर्वधर्म समभाव भी मूलतः एक ऐसी अवधारणा है जो सत्य आधारित अहिंसात्मक यान पर ही आरूढ़ होकर विकसित हो सकती है। हरिजन, 6–3'37 में गांधी जी लिखते हैं कि– "हम जीसस की एकान्तिक दिव्यता को स्वीकार नहीं कर सकते हैं। वह उतने ही दिव्य थे, जितने कृष्ण या राम या मुहम्मद या जोरोस्टर। मैं केवल बाइबिल के सभी शब्दों को ईश्वर के शब्द नहीं स्वीकार करता और न ही वेद और कुरान के सभी शब्दों को ही ईश्वर का शब्द स्वीकार करता हूँ। इन सभी पवित्र ग्रंथों का कुछ योग निश्चित ही ईश्वर प्रेरित है लेकिन व्यक्तिगत रूप से मैं उस प्रेरणा को अनुभूत करने में असफल रहते हैं। बाईबिल ठीक उसी प्रकार मेरे लिए एक धर्म की पुस्तक है जैसे गीता और कुरान है।[21] फिर यंग इंडिया में लिखते हैं कि "मैं यह आशा नहीं करता हूँ कि मेरे सपनों के भारत में कोई एक धर्म विकसित हो जो पूर्णतया हिन्दू हो या पूर्णतया ईसाई हो या पूर्णतया इस्लाम हो, बल्कि मैं चाहता हूँ कि सभी धर्म पूर्णतया सहिष्णु हों और एक दूसरे के साथ अगल–बगल रहते हुए कार्य कर सकें।"[22] यंग इण्डिया (1930) में ही लिखते हैं कि "हिन्दू और मुसलमान, ईसाई, सिक्ख और पारसी को अपने मतभेदों को हल करने के लिए हिंसा का आश्रय नहीं लेना चाहिए। किसी व्यक्ति की प्रार्थना के सद्गुण की वास्तविक परीक्षा शोर गुल और कोलाहल के बीच ही होती है। यदि हम एक दूसरे को अपने धर्म को मानने के लिए मजबूर करेंगे तो हमारा यह निरर्थक प्रयास भावी पीढ़ी को हिंसा के बीहड़ जंगल की ओर ढकेल देगा।"[23] स्पष्ट है कि एक सत्य आधारित अहिंसात्मक यान पर आरूढ़ होकर ही सभी धर्म एक दूसरे के साथ सह–अस्तित्व कायम रख सकते हैं।

किन्तु ऐसी कुछ अपरिहार्य परिस्थितियाँ हैं, जब दो या दो से अधिक धर्म आपस में मिलते हैं, तो हिंसात्मक मिलन ही होता है। वे हैं–

1. श्रेष्ठता का दावा (Claims of superiority)
2. धर्म परिवर्तन (Proselytization)
3. एकरूपता या विभिन्नता रहित एकता (Uniformity or unity without diversity)
4. कट्टरवाद तथा मूल की ओर लौटने की अपील (Fundamentalism & The Appeal of Back to Origin)

श्रेष्ठता के दावा का एकरूप कार्ल बार्थ के द्वन्द्वात्मक धर्मशास्त्र (Dialectical Theology) में देखने को मिलता है जहाँ वह गैर–ईसाई धर्मों को ईसाई–जगत् के शत्रु के रूप में चित्रित करता है, और कहता है हमें इन भेड़ियों के साथ किसी भी कीमत में जुआ नहीं करना चाहिए। एक सच्चे ईसाई

को अन्य धर्मों के प्रति असहिष्णु होना चाहिए। मैक्निकोल के Is Christanity Unique? में द बीषप ऑफ लंदन अपने धर्म पर किये गये शोध लेख Why am I a Christian? में लिखते हैं कि मैं दुनिया में चारों तरफ रह चुका हूँ और विश्व के सभी धर्मों को बड़े नजदीक से देख चुका हूँ। उसमें किसी में प्रकाश का दीपक जलाने की क्षमता नहीं है।[24] यदि ऐसा भाव किसी दार्शनिक बीषप या पुजारी या मौलवी का अन्य धर्मों के प्रति इस प्रकार का होगा तो दो या अधिक धर्मों का मिलन हिंसात्मक–यान पर ही आरूढ़ होकर होगा।

धर्म परिवर्तन भी श्रेष्ठता के दावे के आधार पर या लघुता के बोध के आधार पर किया जाता है और धर्म परिवर्तन चाहे तलवार द्वारा हो या अर्थ द्वारा यह एक ऐसी एकरूपता स्थापित करना चाहता है, जहाँ से विभिन्नता समाप्त हो जाय। इस प्रकार का कोई भी प्रयास दो धर्मों को अन्ततः हिंसा आधारित यान पर आरूढ़ करता है और यह मिलन हिंसा को जन्म देती है। गाँधी जी यंग इंडिया में लिखते हैं कि धर्म परिवर्तन मेरी दृष्टि में मानवतावादी कार्यों के आड़ में अन्ततः अस्वस्थ और गलत कार्य है। इससे लोगों में विद्वेष बढ़ा है। धर्म मूलतः व्यक्तिगत मामला है और यह ह्रदय को छूता है। मुझे अपना धर्म क्यों परिवर्तित करना चाहिए क्योंकि एक डॉक्टर जो ईसाई धर्म मानता है जिससे मेरा कोई रोग ठीक किया है या वह डॉक्टर मुझसे ऐसे धर्म परिवर्तन की आशा क्यों करता है या सुझाव क्यों देता जब मैं उसके प्रभाव में रहता हूँ? क्या यह चिकित्सा सेवा ही उसके लिए पुरस्कार या संतुष्टि भरा नहीं है .... मेरी दृष्टि में ऐसा धर्म परिवर्तन किसी मनुष्य का धर्मोत्थान नहीं है बल्कि उसके इरादों पर एक प्रकार का संदेह उत्पन्न करता है और एक शत्रुता को भी जन्म देती है।"[25]

धार्मिक कट्टरतावादियों की दृष्टि में धर्म एक अनिवार्य और अपरिवर्तनीय तत्त्व है जो न सिर्फ हमारे व्यक्तिगत व्यवहार को निर्देशित और नियंत्रित करता है बल्कि उसे हमारे सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक जीवन से सम्बन्धित संगठनों को भी निर्देशित एवं नियंत्रित करना चाहिए। धर्म न तो केवल व्यक्तिगत मामला है और न ही होना चाहिए,[26] बल्कि इसका उच्चतम और समुचित अभिव्यक्ति प्रचलित राजनीतिक लामबंदी एवं सामाजिक पुनर्जीवन में होना चाहिए। यह पवित्र ग्रंथ के व्युत्पत्तिमूलक अर्थों तक और संकुचित व्याख्या तक सीमित होती है, आधुनिकता विरोधी होती है और सदैव संघर्ष तथा युद्ध के द्वारा धर्म के लिए मर–मिटने का उत्साह रहता है। धार्मिक–कट्टरतावादी धर्म के आधार पर 'अपनी सामूहिक पहचान की राजनीति' करता है और इसके आधार पर 'हम सब' और 'वे सब' का सामाजिक व राजनीतिक विभाजन धर्म के आधार पर करते हैं, 'अपना समूह' और 'बाहरी समूह' का विभाजन धर्म के आधार पर करते हैं, और 'वे सब' तथा 'बाहरी समूह' के प्रति शत्रुतापूर्ण एवं हिंसक बने रहने की प्रयोगशाला चलाते रहते हैं।[27]

स्पष्ट है ऐसी प्रवृत्ति दो धर्मों को हिंसायान पर आरूढ़ होने के लिए प्रेरित करती है और हिंसा का ही उत्सर्जन करती है।

इस प्रकार अब धर्म का अर्थ मूलतः क्या है? इससे मनुष्य समुदाय दूर होता जा रहा है और धार्मिक कट्टरता आधारित धार्मिक पहचान ही उस समूह का वास्तविक धर्म हो गया है और उस प्रयोगशाला के अनुसार हिंसक आचरण ही धार्मिक होने का प्रमाण हो गया है। दुनिया के विभिन्न धर्मों के अनुसार 'धर्म का वास्तविक अर्थ और लक्ष्य क्या है' से निरन्तर दूर होते जाना तथा कट्टरता आधारित धर्म का 'हिंसक अर्थ' और 'धर्म के लिए मर–मिटना' ही मुख्य लक्ष्य हो जाना की ओर अग्रसर होना ही 21वीं सदी के धर्म का वास्तविक अर्थ व लक्ष्य हो गया है। इस प्रकार आस्था और दुरास्था

के बीच आस्था मृतप्राय होती जा रही है और दुरास्था में मनुष्यता हिंसक यान पर सवार होकर फँसती जा रही है। धर्मदर्शन की सबसे बड़ी चुनौती इसी दुरास्था से मनुष्यता को निकलना है।

सन्दर्भ ग्रंथ सूची

1. हिक, जॉन एच. (1990). फिलासफी ऑफ रीलिजन, दिल्ली, पियर्सन एजुकेशन, पेज 109।
2. हिक, जॉन एच. (1990). फिलासफी ऑफ रीलिजन, दिल्ली, पियर्सन एजुकेशन, पेज 109–110।
3. ह्यूम, डेविड (1936). ऐन इन्क्वायरी कन्सर्निंग ह्यूमन अंडरस्टैंडिंग, ई0डी0एल0ए0, सेबली–बिगे, ऑक्सफोर्ड क्लैरेंडम प्रेस, पैरा 95, पेज 1–1, एण्ड हिक, जॉन एच. (1990). फिलासफी ऑफ रीलिजन, दिल्ली, पियर्सन एजुकेषन, पेज 110।
4. ल्यू, ऐन्टनी (1985). इन्ट्रोडक्शन टू आन मिराइकिल्स एण्ड ब्राउन कोलिन (1984). मराइकिल्स एण्ड द क्रिटिकल माइण्ड्स, ग्रैण्ड रैपिड, पेज 87, अर्डमन्स।
5. गाबा, ओ.पी. (2006). सोषल एण्ड पोलिटिकल फिलॉसफी, दिल्ली, मयूर पेपर बैक्स, पेज 200।
6. गाबा, ओ.पी. (2006). सोषल एण्ड पोलिटिकल फिलॉसफी, दिल्ली, मयूर पेपर बैक्स, पेज 200।
7. नेहरू, जे.एल. (2004). द डिस्कवरी ऑफ इण्डिया, दिल्ली, पेंग्विन बुक्स, पेज 70।
8. द हिन्दू (20 मार्च 2015). रिट्राइव्ड 5 जनवरी, 2019. "व्हेन द बिग डैम्स केम अप।"
9. विवेकानन्द, स्वामी. (2015). सेलेक्षन फाम द कम्पलीट वर्क्स ऑफ स्वामी विवेकानन्द, दिल्ली, अद्वैत आश्रम (पब्लि.डिपाट.) 5, दिल्ली, इन्टैली रोड, कोलकाता, पेज 162।
10. विवेकानन्द, स्वामी. (2015). सेलेक्शन फाम द कम्पलीट वर्क्स ऑफ स्वामी विवेकानन्द, दिल्ली, अद्वैत आश्रम (पब्लि.डिपाट.) 5, दिल्ली, इन्टैली रोड, कोलकाता, पेज 163।
11. विवेकानन्द, स्वामी. (2015). सेलेक्शन फाम द कम्पलीट वर्क्स ऑफ स्वामी विवेकानन्द, दिल्ली, अद्वैत आश्रम (पब्लि.डिपाट.) 5, दिल्ली, इन्टैली रोड, कोलकाता, पेज 164।
12. अरविन्दो.श्री.(1949).द लाइफ डिवाइन.पाडिचेरी.श्री अरविन्दो आश्रम, बुक–II,चैप.–II. एण्ड हिक, जॉन एच. (1990). फिलासफी ऑफ रीलिजन, दिल्ली, पियर्सन एजुकेशन, पेज 115।
13. सम्मा थियोलॉजिका. II/II, Q1. आर्ट 2. हिक, जॉन एच. (1990). फिलासफी ऑफ रीलिजन, दिल्ली, पियर्सन एजुकेशन, पेज 118।
14. ईशादि नौ उपनिषद. (2010). श्वेताश्वर उपनिषद अध्याय–6. श्लोक–15. पेज 488, गोरखपुर, गीता प्रेस।
15. राधाकृष्णन, एस. (2013) इस्टर्न रिलीजन्स एण्ड वेस्टर्न थॉट. दिल्ली, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, पेज 319।
16. हिक, जॉन एच.(1990) फिलासफी ऑफ रीलिजन, दिल्ली, पियर्सन एजुकेशन, पेज 118–19।
17. हिक, जॉन एच. (1990). फिलासफी ऑफ रीलिजन, दिल्ली, पियर्सन एजुकेशन, पेज 115।
18. हिक, जॉन एच. (1990). फिलासफी ऑफ रीलिजन, दिल्ली, पियर्सन एजुकेशन, पेज 116।
19. हिक, जॉन एच. (1990). फिलासफी ऑफ रीलिजन, दिल्ली, पियर्सन एजुकेशन, पेज 116।
20. सिन्हा, यदुनाथ. (2004). ए मैनुअल ऑफ एथिक्स, कोलकाता, न्यू सेन्ट्रल बुक एजेन्सी. (पी) लि. पेज 159।
21. गांधी, एम.के. (2008). इण्डिया ऑफ माई ड्रीम्स. अहमदाबाद. नवजीवन पब्लिकेशन, पेज 256. (हरिजन 6–3–37)।

22. गांधी, एम.के. (2008). इण्डिया ऑफ माई ड्रीम्स. अहमदाबाद. नवजीवन पब्लिकेशन, पेज 257. (यंग इण्डिया 22–12–27)।
23. गांधी, एम.के. (2008). इण्डिया ऑफ माई ड्रीम्स. अहमदाबाद. नवजीवन पब्लिकेशन, पेज 244. (यंग इण्डिया)।
24. राधाकृष्णन, एस. (2013). इस्टर्न रिलीजन्स एण्ड वेस्टर्न थॉट. दिल्ली, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, पेज 341. एण्ड इन मैकिनकोल्स. इज क्रिश्चियानिटी यूनिक? (1936). पेज 168–69।
25. गांधी, एम.के. (2008). इण्डिया ऑफ माई ड्रीम्स. अहमदाबाद. नवजीवन पब्लिकेशन, पेज 260–61. (यंग इण्डिया 23–4–31)।
26. हेउड, एन्ड्रू (1992). पोलिटिकल आइडियोलॉजिज ऐन इन्ट्रोडक्शन, न्यूयार्क, पालग्रेव मैक्मिलन, पेज 286।
27. हेउड, एन्ड्रू (1992). पोलिटिकल आइडियोलॉजिज ऐन इन्ट्रोडक्शन, न्यूयार्क, पालग्रेव मैक्मिलन, पेज 292।

शिक्षा एवं राष्ट्रीय चेतना

डॉ.जाहिरा खातून
अध्येता
नेहरू स्मारक एवं संग्रहालय
नई दिल्ली

शिक्षा मनुष्य की पूर्णता की अभिव्यक्ति का साधन है। यह एक ऐसा माध्यम है जो व्यक्ति के सहज गुणों को प्रकाशित करता है। साधारण दृष्टिकोण से शिक्षा का तात्पर्य प्रशिक्षण तथा तथ्यों को संग्रहण से है। यह अवधारणा वर्णनात्मक है, इसमें तथ्यों का ज्ञान महत्वपूर्ण होता है। परन्तु दार्शनिक दृष्टिकोण से शिक्षा, सृजनात्मकता से संबंधित होती है। यह व्यक्ति–निर्माण से संबंधित होती है। शिक्षा का अर्थ चेतना को जागृत करने से है। शिक्षा के सृजनात्मक पक्ष के अंतर्गत ही मूल्यों की शिक्षा की बात की गयी है। व्यक्तित्व–निर्माण एक सतत् प्रक्रिया है तथा शिक्षा भी जीवनपर्यंत ग्रहण किया जाता है। औपचारिक शिक्षा, कालखंड विशेष में शैक्षिक–संस्थानों में ग्रहण किया जाता है, किन्तु अनौपचारिक शिक्षा माता के गर्भ से प्रारंभ होती है तथा यह जीवनपर्यंत चलने वाली प्रक्रिया है। नैतिक मूल्यों का संबंध जीवनपर्यंत चलने वाली शिक्षा से है, किन्तु यह औपचारिक शिक्षा से भी गहराई से जुड़ा हुआ है। शिक्षा के माध्यम से ही विद्यार्थी जीवन–मूल्यों को ग्रहण करते हैं। जीवन–मूल्यों से तात्पर्य है– नैतिक मूल्य, सामाजिक मूल्य, आर्थिक मूल्य, पारिवारिक मूल्य, आध्यात्मिक मूल्य एवं सांस्कृतिक मूल्य। शिक्षा अपने वास्तविक अर्थ में मूल्योन्मुख होती है। प्रत्येक व्यक्ति की कुछ आधारभूत आवश्यकताएँ होती हैं, जैसे– शिक्षा, भोजन, आवास आदि। इनकी पूर्ति के पश्चात् ही व्यक्ति सामाजिक आवश्यकताओं तथा सामाजिक जरूरतों की ओर उन्मुख होता है। सभी व्यक्ति समान पथ का पालन नहीं करते हैं। प्रत्येक व्यक्ति के जीवन के लक्ष्य एवं आदर्श भिन्न होते हैं। सभी व्यक्तियों की प्राथमिकताएँ एवं आवश्यकताएँ भी भिन्न होती हैं। जीवन–लक्ष्य के चुनाव में मनुष्य की सहज प्रवृत्तियों की प्रमुखता होती है, व्यक्ति के पूर्व संस्कार की भूमिका भी महत्वपूर्ण होती है। व्यक्तिगत संस्कारों तथा सहज प्रवृत्तियों के अतिरिक्त परिवार, समाज, देश–काल एवं परिस्थितियों का भी विशेष प्रभाव व्यक्ति के सम्पूर्ण जीवन तथा जीवन के लक्ष्यों पर पड़ता है।

सृष्टि का प्रत्येक तत्व अपने धर्म का पालन करता है, अपने अंतर्निहित गुणों के अनुकूल आचरण करता है। भगवद्गीता में 'स्वधर्म' के पालन का संदेश दिया गया है।' स्वधर्म का अर्थ है, स्वभाव अथवा स्वयं की प्रकृति के अनुकूल आचरण। स्वभाव के विपरित आचरण अनिष्टकारी होता है तथा दुःख का कारण बनता है। प्रत्येक जीव अपनी जातिगत गुणों का प्रतिनिधित्व करता हुआ भी स्वयं के विशिष्ट व्यक्तित्व का परिचायक होता है। संघर्षों से जूझता हुआ व्यक्ति, लक्ष्य तक पहुँचने का निरंतर प्रयास करता है। यह मनुष्य की स्वाभाविक चेष्टा होती है कि वह कष्टों से मुक्त होना चाहता है तथा क्रमशः उन्नत होना चाहता है। आध्यात्मिक विकास के साथ ही शिक्षा की एक और महत्वपूर्ण भूमिका होती है, वह है– अज्ञानता से मुक्ति तथा सभी प्रकार के दुःखों से निवृत्ति। अज्ञानता के कारण ही व्यक्ति इन्द्रिय सुखों में लिप्त रहता है। न्याय–दर्शन, तत्व–साक्षात्कार के द्वारा जीवन के समस्त दुःखों की आत्यंतिक निवृत्ति का मार्ग प्रशस्त करता है। बुद्ध ने तो चार आर्य सत्यों के माध्यम से दुःखों की पहचान, दुःख के कारण तथा निवारण का मार्ग प्रस्तुत किया है।

व्यक्ति स्वयं में मूल्य–संपृक्त होता है। उसके भीतर स्वयं को तथा जगत् को रूपांतरित करने की क्षमता होती है। मनुष्य स्वयं अपनी भवितव्यता का निर्माता होता है तथा उत्तरदायी भी। प्रत्येक व्यक्ति की प्रकृति भिन्न होती है, कुछ व्यक्ति शांत–चित्त होते हैं, कुछ चंचल प्रवृति के तथा कुछ व्यक्ति की प्रकृति शिथिल होती है। मनुष्य के स्वभाव में भिन्नता का मूल कारण प्रकृति है। प्रकृति, त्रिगुणों की साम्यावस्था है, किन्तु सृष्टि की उत्पत्ति तब होती है जब इन त्रिगुणों में क्षोभ उत्पन्न होता है। सर्गावस्था के पश्चात् प्र.ति में प्रत्येक क्षण परिवर्तन हो रहा है। प्र.ति से उत्पन्न मनुष्य की स्थिति भी परिवर्तित होती रहती है। जब सात्विक गुण श्रेष्ठ होता है, तब मनुष्य शांत–चित्त होता है। क्योंकि सात्विक गुण, सत्त्व का भाव उत्पन्न करती है अर्थात् इस अवस्था में व्यक्ति को अपनी अस्तित्व का बोध होता है। यह चेतना की सर्वोत्तम अवस्था है, किन्तु यह अवस्था भी परिवर्तनशील होती है अतः सम्यक् स्मृति आवश्यक है। राजसिक अवस्था में मानव प्रकृति स्थिर नहीं रहती है, चंचल हो जाती है, क्योंकि रजोगुण उत्तेजक, गति तथा दुःख का प्रतीक होता है। यह क्रोध, द्वेष, मद आदि का मनोभावों को उत्पन्न करने का उत्तरदायी होता है। तामसिक गुण का लक्षण अज्ञानता तथा अवरोध उत्पन्न करता है। सत्व गुण ऊर्ध्वगामी होता है किन्तु तमोगुण अधोगामी होता है, अर्थात् सत्व गुण ज्ञान, प्रकाश तथा आध्यात्मिकता का प्रतीक है तथा तमोगुण अंधकार, अज्ञानता तथा ज्ञान के अवरोध का सूचक है। आध्यात्मिक विकास तामसिक अवस्था से मुक्त होकर सात्विक अवस्था को प्राप्त करना है। मानवीय चेतना के पंचकोष त्रिगुणों द्वारा प्रभावित होते हैं।

विद्यार्थियों के आचरण में अपेक्षित परिवर्तन करने तथा उन्हें जीवन का लक्ष्य तय करने योग्य बनाना किसी भी शिक्षण–व्यवस्था का लक्ष्य होता है विद्यार्थियों के व्यक्तित्व के समग्र विकास का साधन भी है तथा लक्ष्य भी। प्रत्येक व्यक्ति का व्यक्तित्व अपूर्व होता है। विद्यार्थियों का उनकी–विभिन्नताओं को समझना उनकी योग्यताओं, क्षमताओं, अभिवृत्तियों तथा अभिरुचियों के अनुसार उन्हें शिक्षित करने पर ही उसके व्यक्तित्व का सम्पूर्ण विकास हो सकता है। श्री अरविन्द व्यक्ति के समग्र विकास के पक्षधर है तथा वे व्यक्ति के रूपांतरण के वे सम्पूर्ण सृष्टि के विकास की बात करते हैं। उनका विश्वास है कि जब तक वैयक्तिक विकास नहीं होगा तब तक सृष्टि का विकास भी संभव नहीं है। सम्पूर्ण सृष्टि एवं प्राणिमात्र के विकास के लिए वे पूर्ण–अद्वैत योग का मार्ग प्रस्तुत करते हैं। श्री अरविंद के समग्र शिक्षा दर्शन को समझने के लिए सर्वप्रथम उनके समग्र दर्शन को समझना आवश्यक है। श्री अरविंद वेदान्त दर्षन के अनुयायी हैं तथा आचार्य शंकर के दर्शन में उनकी पूर्ण आस्था है। अद्वैतवाद को श्री अरविंद ने पूर्ण अद्वैतवाद के रूप में समझा है। पूर्ण अद्वैतवाद भौतिकवाद तथा आध्यात्मवाद में समन्वय स्थापित करता है। श्री अरविंद ने शिक्षा दर्शन को केवल अक्षर–ज्ञान, प्रशिक्षण तथा कौशल–विकास तक सीमित नहीं माना है। समग्र शिक्षा दर्शन आंतरिक उन्नयन पर बल देता है। व्यष्टि एवं समष्टि का एकीकरण एक आध्यात्मिक प्रक्रिया है। यह विकास की प्रक्रिया में उच्चतर स्तर पर जाने पर निम्न स्तर की चेतना को स्वयं में समाहित कर लेता है। यह विरोधाभासों तथा विविधताओं के एकीकरण की प्रक्रिया है। शिक्षा के व्यापक अर्थ का स्थापित करते हुए श्री अरविंद कहते हैं कि यह हमारी मौलिक तथा खेदजनक त्रुटि है कि शिक्षा को हम केवल ज्ञान का संग्रहण समझते हैं। विद्यार्थियों को ज्ञान प्रदान करना आवश्यक है, किन्तु यह भी आवश्क है कि उनमें सृजनात्मक शक्ति उत्पन्न की जाएँ।[6]

अतः आवश्यक है कि छात्रों की प्राकृतिक क्षमताओं एवं अभिप्रेरणाओं को उभारा जाय। उदाहरण के लिए विद्यार्थियों की बौद्धिक क्षमता को विकसित करना जिसके माध्यम से वे तुलना एवं विभेद कर सकें तथा अभिव्यक्ति की क्षमता को उत्पन्न कर सकें। विद्यार्थियों के व्यक्तित्व तथा

अभिरुचियों का ध्यान नहीं रखते हुए एक बने–बनाए ढाँचे की शिक्षण–प्रक्रिया श्री अरविन्द को मान्य नहीं है। वे 'राष्ट्रीय शिक्षा' को शिक्षा का एक महत्त्वपर्ण पक्ष मानते हैं। उनका मानना है कि राष्ट्रीय शिक्षा को एक–दो पंक्तियों में परिभाषित नहीं कर सकते हैं। परन्तु अपनी पुरातन संस्कृति से मूल्यों को ग्रहण करते हुए तथा वर्तमान में उनका पूर्ण रूप से उपयोग करते हुए भविष्य के राष्ट्र का निर्माण किया कर सकते हैं। यदि राष्ट्र को अतीत से विच्छेद कर शिक्षा नीति बनाई जाती है तो वह शिक्षा नीति अधूरी होगी। ऐसी शिक्षा–नीति बनाई जाती है तो वह शिक्षा नीति अधूरी होगी। ऐसी शिक्षा नीति हमारे जीवन–पद्धति को विकसित नहीं कर सकती जो अपने प्राचीन संरक्षित मूल्यों को विखंडित कर नए मूल्यों का सृजन करे तथा उस आधार पर शिक्षा नीति की स्थापना करे तो यह कोरी–कल्पना होगी। राष्ट्र–निर्माण तथा व्यक्तित्व विकास के लिए एक समग्र शिक्षा–नीति की आवश्कता है, जो प्राचीन भारतीय सांस्कृतिक मूल्यों को वर्तमान शिक्षण प्रक्रिया में समाहित करते हुए समेकित शिक्षा पद्धति प्रस्तुत करें। श्री अरविंद का मानना था कि शिक्षा नीति का सम्पूर्ण मानवता से जुड़ा हुआ होना चाहिए।

सक्षम मानव, राष्ट्र को समर्पित मानव, जीवन की आपा–धापी को स्वीकार करते हुए राष्ट्र–निर्माण में सतत् प्रयत्नशील रहते हैं। श्री अरविन्द शिक्षा के व्यतिगत पक्ष एवं सामाजिक पक्ष दोनों में समन्वय की बात करते हैं। यद्यपि वे व्यक्ति को अपने शिक्षा–दर्शन को केन्द्र बिन्दु मानते हैं किन्तु उनका यह भी मानना है व्यक्ति का रूपांतरण इस तरह से होना चाहिए कि वे सामूहिकता के साथ सामंजस्य स्थापित कर सके। उनका प्रयास राष्ट्रीय चेतना को सामूहिकता में जागृत करना है, अतः उनके शिक्षा–दर्शन को एक पक्षीय अथवा एकांगीय नहीं कहा जा सकता है। व्यक्ति की राष्ट्रीय पहचान व्यक्तिगत एवं सामाजिक दोनों पक्षों में अंतर्निहित होता है। व्यक्ति एवं समाज में आधेय तथा आधार का संबंध होता है। श्री अरविंद का मानना है कि शिक्षण–प्रक्रिया ऐसी होनी चाहिए जो छात्रों के चरित्र का निर्माण कर सके एवं समाज की इकाई होने के कारण उदात्त चरित्र का व्यक्ति समाज के रूपांतरण में सहयोगी होगा।[5] यह सही है कि श्री अरविंद के शिक्षा दर्शन के अंतर्गत व्यक्ति के विकास पर अधिक बल दिया गया है। किन्तु व्यक्ति का विकास तभी अर्थपूर्ण हो सकता है जबकि व्यक्ति समग्र मानवता के लिए सहायक हो तथा सम्पूर्ण मानवता का विकास हो। मानवता की उपेक्षा कर व्यक्ति एकाकी रूप से सक्षम नहीं हो सकता है। साधारणतः व्यक्तिवाद तथा समूहवाद एक दूसरे के विरोधी हैं, परन्तु यह भी ध्यान रखने योग्य है कि बिना व्यक्ति के समूह (समाज) की स्थापना नहीं हो सकती है। अतः व्यक्ति का उन्नयन ही शिक्षा का मानदंड है। श्री अरविंद आत्म–विकास को ही शिक्षा का ध्येय समझते हैं तथा आत्म–विकास के द्वारा ही समाज कल्याण की बात करते हैं। शिक्षा का एकांगीय पक्ष व्यक्ति का पूर्ण विकास नहीं कर सकता है क्योंकि शिक्षा व्यक्ति के सम्पूर्ण विकास का साधन है। शिक्षण प्रक्रिया द्वारा व्यक्ति समाज के साथ संगति स्थापित करता है तथा अंततोगत्वा सम्पूर्ण मानवता के साथ संगति स्थापित करता है। श्री अरविंद राष्ट्रीय शिक्षा के पक्षधर रहे है। कुछ लोगों को यह आपत्ति हो सकती है कि शिक्षा को राष्ट्रीय सीमा के अंतर्गत बाधना ठीक नहीं है। उदाहरण के लिए विज्ञान की शिक्षा किसी राष्ट्र की सीमा से बंधी नहीं रह सकती है। यदि हम मूल्यों की बात करते हैं तो कुछ मूल्य जैसे शांति, स्वाधीनता, सामाजिक प्रगति, समान अधिकार, मानव–गरिमा आदि सार्वभौमिक तथा सार्वकालिक होते हैं। किन्तु कुछ मूल्य देश, काल, परिस्थिति सापेक्ष होते हैं। कुछ मूल्य निरपेक्ष तो कुछ मूल्य सापेक्ष होते हैं। श्री अरविंद का मानना है कि शिक्षा को राष्ट्र की परिधि में नहीं बाँधा जा सकता है परन्तु प्राप्त शिक्षा को हम समाज एवं जीवन में चरितार्थ करते हैं तो वह किसी न किसी राष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य में ही होती है। व्यक्ति अपनी सांस्कृतिक विरासत, अपने परिवेश, अपनी मातृभूमि से

ही सबसे निकटता का अनुभव करता है। अतः शिक्षण–प्रक्रिया इन पक्षों की उपेक्षा अथवा अपनी मूल स्रोत से पृथक होकर सार्थक नहीं हो सकती है। मूल्यों एवं संस्कृति के संवर्धन एवं हस्तांतरण में शिक्षा की विशेष भूमिका होती है। परन्तु यदि शिक्षण पद्धति कितनी भी उदात्त हो एवं अपनी सांस्कृतिक पृष्ठभूमि से सम्बद्ध नहीं होती है तो वो निरस्त कर दी जाती है या कृत्रिम रूप से स्वीकार की जाती है, तथा अपने उद्देश्यों को पूर्ण नहीं कर पाती है। व्यक्तित्व विकास के लिए आवश्यक है कि शिक्षा विद्यार्थियों की आत्मा से जुड़े, क्योंकि यदि शिक्षा आत्मा से नहीं जुड़ पाती है तो वह सृजनात्मक नही हो सकती है। सृजनात्मक शिक्षा मूल स्त्रोत अर्थात् मूल्यों के आधार पर भविष्य निर्माण में सहायक होती है। भारतीय शिक्षा का ध्येय बौद्धिकता के साथ नैतिकता की स्थापना करना है, इसलिए भारतीय शिक्षा दर्शन आत्मनिष्ठता अर्थात् पुरूषार्थ पर बल देता रहा है। विद्यार्थी कोई निर्जीव वस्तु नहीं है, उसे मात्र बाह्य मानदंडों के अनुसार निर्मित एवं शिक्षित नहीं किया जा सकता है। मनुष्य जड़ एवं चेतन का संयोजन है मनुष्य के भीतर के आत्मतत्व को ज्ञान की ओर उन्मुख करना ही शिक्षा–दर्शन का उद्देश्य है।

सामान्यतः नैतिक शिक्षा एवं नैतिक मूल्यों पर विचार–विमर्श होते रहते हैं। नैतिक पतन के कारण समाज के विघटन की भी चर्चा की जाती है। यह सही है कि सामाजिक मूल्यों का विघटन व्यक्ति एवं राष्ट्र दोनों को क्षत–विक्षत करता है परन्तु नैतिक मूल्यों की शिक्षा कैसे प्रदान करें यह एक गंभीर प्रश्न बना हुआ है। यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि क्या नैतिक–मूल्यों को बाहर से आरोपित किया जा सकता है? यदि नैतिक शिक्षा को आरोपित करते हैं तो व्यक्ति की आत्म–स्वतंत्रता समाप्त हो जाती है। नैतिकता की एक आवश्यक अवधारणा यह है कि मूल्यों के आचरण के लिए व्यक्ति का संकल्प –स्वातंत्र्य एक आवश्यक मापदंड है। नैतिक मूल्यों के बहुपक्षीय मानदंड होते हैं जैसे व्यक्ति, व्यक्ति की बौद्धिक स्थिति, व्यक्ति की आत्म–स्वतंत्रता, व्यक्ति का संकल्प–स्वातंत्र्य आदि। किन्तु यदि नैतिक आदर्श या शिक्षा को बाहर से आरोपित करने का प्रयास किया जाता है तथा यह दावा किया जाता है कि विद्यार्थियों को नैतिक मूल्यों की शिक्षा दी जा रही है तो यह बहुत संभव नहीं लगता है। ऐसी नैतिक–शिक्षा का क्या तात्पर्य है जबकि विद्यार्थी मूल्यों को आत्मसात् नहीं कर रहे हैं। यह प्रश्न उत्पन्न होता है शिक्षण–प्रक्रिया किस तरह की होनी चाहिए अथवा शिक्षण–प्रक्रिया का स्वरूप कैसा होना चाहिए। विद्यार्थी मूल्यों का अर्थ कैसे समझेंगे तथा उन्हें आत्मसात् कैसे करेंगे? नैतिक–मूल्यों की विषय–वस्तु मानव आचरण होता है तथा मानव–मन आचरण का स्त्रोत होता है। मन को विवेक के द्वारा नियंत्रित किया जा सकता है। नैतिक मूल्यों का संबंध विवेक को जागृत करने से है। शुभ तथा अशुभ कर्म मन से ही उत्पन्न होते हैं तथा मन ही बंधन एवं मोक्ष का कारण है। मन की प्रवृत्ति चंचल होती है तथा इसकी गति उभयपक्षी होती है। जब यह ज्ञान की ओर उन्मुख होती है इसका अर्थ है कि मन शुभ कर्मों में प्रवृत्त है, किन्तु जब यह व्यावहारिक जीवन में प्रवृत्त हो जाती है तब यह कहा जाता है कि इसका प्रवाह अनुचित कर्मों की ओर है।[4] दुःखों से मुक्ति तथा अपने वास्तविक स्वरूप का साक्षात्कार शिक्षा का वास्तविक स्वरूप भी यही है कि व्यक्ति अपनी अज्ञानता से मुक्त, अपने स्वरूप से परिचित हो जाए तथा इसी आधार पर उसका आचरण नियमित हो जाए। अतः इस आदर्श की प्राप्ति के अनुकूल आचरण शुभ तथा उचित कहलाते हैं तथा इसके प्रतिकूल आचरण को अशुभ तथा अनुचित आचरण कहा जाता है। शुभ आचरण का परित्याग तथा अशुभ कर्मों का व्यवहार करने पर ही मनुष्य के नैतिक आचरण में दोष उत्पन्न होता है। सद्गुणों के चयन तथा आचरण द्वारा मनुष्य में क्रमशः यह

समझ उत्पन्न होती है कि वह शुभ तथा अशुभ के मध्य भेद को समझ सके। उचित ज्ञान अथवा प्रज्ञा केवल बौद्धिक व्यायाम नही है अपितु जीवन का वास्तविक दृष्टिकोण है।

भारतीय शिक्षा दर्शन जीवन–शैली से संबंधित है तथा जीवन जीने की कला को विकसित करती है। यह सांस्कृतिक मूल्यों से संबंधित है। भारतीय शिक्षा दर्शन का सार है–धर्मानुसार आचरण अर्थात् व्यक्ति का आचरण, उसके क्रिया–कलाप, उसकी आजिविका धर्म पर आधारित होनी चाहिए।

प्राचीन भारतीय शिक्षा पद्धति को वर्तमान युग में पूर्णतः लागू करना कठिन है, क्योंकि शिक्षा के लक्ष्य, स्वरूप एवं आवश्यकताएँ बदल गई है। वैदिक–कालीन शिक्षण प्रणाली के अंतर्गत गुरुकूलों में रहकर विद्यार्थी शिक्षा ग्रहण करते थे। विद्यार्थी अपने गुरु के प्रत्यक्ष संबंध द्वारा विद्या ग्रहण करते थे। विद्यार्थियों को ब्रहमचर्य आश्रम काल गुरुकूल में व्यतीत करना होता था। ज्ञानार्जन का यह सबसे सटीक साधन है। किन्तु वर्तमान परिस्थिति में यह संभव नही है कि विद्यार्थी गुरुकूल में जाकर पारम्परिक शिक्षा ग्रहण करें। समस्या यह है कि बदली हुई परिस्थितियों में वैदिक शिक्षण पद्धति को वर्तमान शैक्षणिक संस्थाओं एवं शिक्षण प्रक्रिया में हम किस प्रकार विकसित करें। यह एक चुनौतीपूर्ण कार्य है किन्तु यदि हम विद्यार्थियों के व्यक्ति के सम्पूर्ण पक्षों का विकास चाहते है तो यह आवश्यक है कि शिक्षा के सृजनात्मक पक्षों के विकास पर बल दें।

भारत में कुछ ऐसे दार्शनिक भी रहे हैं जो आधुनिक शिक्षा की वर्जनाओं से मुक्ति चाहते हैं। जे. कृष्णमूर्ति उन विशिष्ट व्यक्तित्व में से एक है जो शिक्षा के क्षेत्र में क्रांतिकारी दृष्टि रखते हैं। वे शिक्षा की एकरूपता को स्वीकार नहीं करते हैं। उनका मानना है कि ऐसी शिक्षण–पद्धति जो वर्षों से चली आ रही है, उसके टूटने से एक नयी शिक्षण की संरचना हमारे समक्ष उत्पन्न होगी। शिक्षण–प्रक्रिया देश–काल तथा परिस्थिति सापेक्ष होनी चाहिए। विद्यार्थियों को उनके विशिष्ट व्यक्तित्व के अनुरुप शिक्षित करने पर परिणाम सकारात्मक होगा। शिक्षा का अर्थ है एक पीढ़ी के मूल्य को दूसरी पीढ़ी तक हस्तांतरित करना। जे. कृष्णमूर्ति का शिक्षा–दर्शन शिक्षा के बने–बनाए ढाँचे के विरूद्ध समसामायिक परिस्थियों के अनुरूप तथा प्रासंगिक है। व्यक्ति यदि सुशिक्षित है तथा उसकी भावना, विचार, आचरण आदि में ताल–मेल नहीं है तो उसका व्यक्तित्व विश्रृंखलित हो सकता है। अतः आवश्यकता है कि ऐसे मूल्यों का सृजन हो जा व्यक्ति के सम्पूर्ण व्यक्तित्व का सृजन करे। केवल बौद्धिक–विकास व्यक्ति के सम्पूर्ण व्यक्ति को सृजनशील नही बना सकती है। जे कृष्णमूर्ति शिक्षा–पद्धति को जीवन पद्धति में बदलने की आवश्यकता पर बल देते हैं। यहाँ श्री अरविंद तथा जे. कृष्णमूर्ति के शिक्षण–पद्धति में थोड़ी साम्यता है। वस्तुतः दानों विचारक समकालीन भारतीय दार्शनिक हैं, दानों दार्शनिकों ने अक्षर ज्ञान को अथवा केवल पुस्तकीय ज्ञान को अधूरा माना है। उचित शिक्षा का अर्थ व्यक्तित्व के सम्पूर्ण विकास में निहित है। जे. कृष्णमूर्ति के शब्दों में उचित शिक्षा का अर्थ समझने के लिए आवश्यक है कि हम जीवन का उसकी सम्पूर्णता में समझें। जीवन के प्रति समझ तभी उत्पन्न होगी जब हमारा विवेक जागृत होगा। जीवन को समझने का अर्थ है, हम स्वयं को समझें। और यही शिक्षा का प्रथम एवं अंतिम उपदेश है।[6] शिक्षित व्यक्ति वह है जो जीवन को तर्कशील रूप में समझे तथा उसके साथ सामंजस्य स्थापित करें एवं उसका आचरण उसकी समझ के अनुरूप हो।

मूल्यों की उपयोगिता मानव–जीवन के प्रत्येक पक्ष में होती है। यदि किसी व्यक्ति का आचरण अच्छा होता है, तब यह कहा जाता है कि वह व्यक्ति मूल्यों का पालन करता है। इसी तरह किसी वस्तु के परिप्रेक्ष्य मे यह कहा जाता है कि वह वस्तु मूल्यवान है। जब वस्तु के मूल्य की बात की जाती है तो वह उसका बाह्य मूल्य होता है जो उसकी उपयोगिता तथा उपलब्धता पर आधारित होता है। किन्तु

मानवीय मूल्य आंतरिक मूल्य होते हैं। जब आचरण संबंधी मूल्यों को आर्थिक पृष्ठभूमि से अलग किया जाता है तब वह एक विशेष प्रकार के आचरण का परिचायक बन जाता है। बाह्य मूल्य दिन–प्रतिदिन की आवश्यकताओं से संबंधित होते हैं, किन्तु आंतरिक मूल्य आचरण को संयमित एवं नियमित करते हैं। मूल्य–मीमांसा दर्शन शास्त्र की एक महत्वपूर्ण शाखा है। दर्शनशास्त्र जीवन के मूल अर्थ को समझने का प्रयास है। हमारे सभी शास्त्रों का प्रारंभ दर्शन से ही माना गया है क्योंकि सभी शास्त्रों की मूल अवधारणाओं का अध्ययन एवं विश्लेषण का आधार दर्शन है। यह तार्किक विश्लेषण की प्रक्रिया है। दर्शनशास्त्र के विभिन्न आयाम हैं, जैसे– ज्ञानमीमांसा, तत्वमीमांसा, तर्कमीमांसा, सौन्दर्य मीमांसा एवं नीति मीमांसा आदि। मनुष्य जड़ एवं चेतन का संयोजन है। उसे बौद्धिक अथवा सर्वश्रेष्ठ प्राणी स्वीकार किया गया है। अतः मनुष्य का आचरण कैसा होना चाहिए, उसके लिए शुभ क्या है, अनुचित आचरण का स्वरूप क्या है आदि प्रश्नों की विवेचना मूल्य मीमांसा के अंतर्गत की जाती है। मूल्य मीमांसा के *अंतर्गत आध्यात्मिक, बौद्धिक एवं सौन्दर्यपरक मूल्यों का विश्लेषण किया जाता है।* शिक्षा–दर्शन के अंतर्गत शिक्षा प्रक्रिया का दार्शनिक विश्लेषण किया जाता है इसके अंतर्गत शिक्षा के केवल मूल्यांकन पक्ष का नहीं अपितु मूल्यात्मक दृष्टिकोण को समझने का प्रयास किया जाता है। शिक्षा का संबंध विद्यार्थियों के व्यक्तिगत विकास से तो है किन्तु यह परिवार, समाज एवं राष्ट्र निर्माण से भी जुड़ा हुआ है। शिक्षा का संदर्भ 'शुभ' से है। शुभ के दो पक्ष होते है। सकारात्मक अर्थ में शुभ से तात्पर्य है, स्वयं के भीतर के सत्य से परिचित होना तथा उस सत्य के माध्यम से जीवन को प्रकाशित करना। शुभ का दूसरा पक्ष है अशुभ कर्मों से मुक्ति।

मानव व्यक्तित्व बहुआयामी होता है। यह भौतिक तत्व, आत्म तत्व एवं मन, बुद्धि तथा अहंकार का संगठन होता है। व्यक्तित्व गुणों, लक्षणों, क्षमताओं आदि की संगठित इकाई है। व्यक्ति संगठित रूप में जो कुछ भी होता है वही उसका व्यक्तित्व कहलाता है। व्यक्ति का रंग–रूप, शारीरिक आ.ति, परिष्कृत विचार एवं विचारों के अनुरूप आचरण, ज्ञानात्मक, क्रियात्मक एवं भावनात्मक व्यवहार आदि सम्मिलित रूप से व्यक्तित्व के कारक तत्व हैं। इन सभी विशेषताओं की समष्टि व्यक्ति किसी एक दिन अथवा घटना का परिणाम नहीं होता है। व्यक्तितव निर्माण सतत् प्रक्रिया है। व्यक्तित्व मनुष्य के सभी पक्षों का समन्वय होता है जो व्यक्ति के आचरण तथा सामाजिक व्यवहार को निर्धारित करता है। मनुष्य अपने जन्म–स्थान, परिवेश का चयन नहीं कर सकता है किन्तु वर्तमान जीवन में वह संयमित एवं अनुशासित रहते हुए जीवनयापन कर सकता है। वास्तव में मानव–जीवन स्वतंत्रता तथा परतंत्रता के बीच का समन्वय होता है। व्यक्तित्व से तात्पर्य किसी व्यक्ति के व्यवहार के उन गुणों एवं विशेषताओं से है जिनके आधार पर किसी व्यक्ति की पहचान होती है किसी व्यक्ति का व्यक्तित्व दूसरे से किस प्रकार भिन्न है, यह उस व्यक्ति के व्यक्तित्व गुणों के आधार पर ही कहा जा सकता है।

प्रत्येक व्यक्ति का व्यक्तित्व अपूर्व एवं विशिष्ट होता है। इसका संबंध आत्मचेतना से होता है। मनुष्य विवेकशील प्राणी है अतः कर्म–संपादन हेतु उसके समक्ष विकल्प होते हैं। कर्म–संपादन की प्रक्रिया में बुद्धि तथा संकल्प–स्वातंत्र्य की विशेष भूमिका होती है। मनुष्य स्वरूपतः चैतन्य प्राणी है, जिसे अपनी स्थिति की चेतना होती है। नैतिकता का प्रश्न भी वहीं उत्पन्न होता है जहाँ व्यक्ति को अपनी स्थिति की चेतना होती है। अतः व्यक्तित्व नैतिकता का आधार स्तंभ होता है। नीति, वह शास्त्र है जो शुभ–अशुभ, सत्य–असत्य, उचित–अनुचित तथा शुद्ध–अशुद्ध के आधार पर मनुष्य के चरित्र का विवेचन करता है। सत्य तथा असत्य का संबंध तर्क से है क्योंकि मनुष्य का नीतिपरक आचरण उसकी सहज तार्किकता का परिणाम है। उचित तथा अनुचित, सामाजिक परम्पराओं से संबंधित हैं तथा शुद्ध

तथा अशुद्ध का संबंध किया अथवा किसी पदार्थ के गुण से होता है। नैतिक प्रत्यय – सत्य, अहिंसा, शुभ संकल्प, कर्तव्य एवं उत्तरदायित्व आदि जीवन के सफल संचालन के लिए आवश्यक है। इन मूल्यों को व्यक्ति–विशेष तथा समाज का आधार मानते हुए मानव, जीवन–दर्शन का निर्धारण किया गया है।

मन, बुद्धि तथा अहंकार को संयुक्त रूप से अंतःकरण कहलाते है। चित्त के अंतर्गत मन, बुद्धि तथा अहंकार तीनों का समावेश होता है। अतः इसलिए मानव व्यक्तित्व में विभिन्नता पायी जाती है। सत्व, रजस तथा समस गुणों का समन्वय होने के कारण तथा गुण–विशेष की प्रधानता के कारण चित्त की भूमियाँ तथा वृत्तियाँ बदलती रहती हैं। विषयों के सम्पर्क के द्वारा चित्त पर जो प्रभाव पड़ता है उससे संस्कार बनते जाते हैं। चित्त में उत्पन्न संस्कार अपने अवशेष छोड़ते जाते हैं, जो पुनर्जन्म तथा कर्मफल का कारण बनते हैं। ये संस्कार ही प्रयोजन, लक्ष्य, उद्देश्य तथा नए अनुभवों का कारण बनते हैं। चित्त पर पड़े हुए संस्कारों से व्यक्तित्व का निर्माण होता है। व्यक्तित्व तथा अहंकार सांसारिक अनुभवों पर अवलम्बित होते हैं। नीति की भूमिका चित्त की प्रवृत्तियों के विश्लेषण तथा संशोधन में है। प्राणिमात्र के भीतर दिव्य चेतन तत्व क्रमशः उद्भव हो रहा है; जो स्वप्रकाशत्व है एवं जिसकी उपलब्धि आत्मसाक्षात्कार के द्वारा होती है। इस चेतन तत्व का उद्भव के विभिन्न साधन एवं उपाधियाँ हैं। परमतत्व का अंश होने का कारण, मनुष्य की आध्यात्मिक प्रवृति होती है। व्यक्ति इस बात से परिचित होता है कि सम्भावनाएँ उसके भीतर हैं। यह प्रत्यय ही व्यक्ति को नैतिक कर्म करने के लिए प्रेरित करते हैं। स्वयं के आध्यात्मिक स्वरूप का परिचय ही वह उत्प्रेरक है जा समस्त आचरण–संहिता के व्यवहार हेतु बाध्य करता है। व्यक्ति यदि अनुचित व्यवहार करता है तथा आत्मग्लानि का अनुभव करता है, तो यह व्यक्ति के आध्यात्मिक स्वरूप की भूमिका होती है। मनुष्य के आध्यात्मिक जीवन का लक्ष्य अपने अस्तित्व के पूर्णता की अभिव्यक्ति होती है।

नैतिक विकास एवं जैविक विकास में भेद होता है। जैविक विकास स्वाभाविक प्रक्रिया है किन्तु नैतिक विकास, नैतिक प्रत्ययों पर आधारित होता है जिसके अंतर्गत नैतिक चेतना, कर्त्तव्य, उत्तरदायित्व आदि समाहित होते हैं। नैतिक विश्लेषण का आधार व्यक्ति का आचरण होता है। मनुष्य के आचरण का निर्धारण स्वविवेक के द्वारा होता है। यदि व्यक्ति का आचरण स्वविवेक पर आधारित होगा, निश्चित ही उसका कर्म संपादन स्वयं के प्रति संयमित तथा समस्त सृष्टि के प्रति संतुलित होगा। नैतिक प्रत्ययों के अनुरूप आचरण ही वह संकल्प है जो व्यक्ति की चेतना में व्यक्ति के अस्तित्व का आदर्श प्रस्तुत करता है। व्यक्ति स्वविवेक द्वारा संकल्पित होकर तमस् से सत्व की ओर उन्मुख होता है। नैतिक मूल्यों का आचरण व्यक्ति के संकल्प पर आधारित होता है। मानवीय चेतना का केन्द्र बिन्दु आत्मतत्व होता है, जो स्वरूपतः पूर्ण होता है। सम्पूर्ण मानव जीवन के तीन पक्ष होते हैं– आत्मिक विकास, सामाजिक संबंध तथा पारमार्थिक कल्याण। मानव–जीवन के इन पक्षों को पुरुषार्थ की संज्ञा दी गयी है एवं चार आश्रमों (ब्रहमचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ एवं सन्यास) में विभक्त किया गया है। स्वयं की आधारभूत मूल चेतना का साक्षात्कार ही व्यक्ति का आध्यात्मिक विकास है। इस आध्यात्मिक यात्रा में प्राणिमात्र के साथ सामंजस्य, मनुष्य के जीवन के सामाजिक पक्ष को रेखांकित करता है। स्वकर्त्तव्यों एवं उत्तरदायित्वों को पूर्ण करा हुआ व्यक्ति जीवन के आदर्श अर्थात् पारमार्थिक कल्याण का निर्वाह करता है।

मूल्यों की चेतना व्यक्तिगत स्तर पर होती हैं, किन्तु यह चेतना ही स्वस्थ समाज का आधार भी है। व्यक्ति के आचरण से उसका जीवन दर्शन परिलक्षित होता है। व्यक्ति की जन्मजात प्रवृत्तियाँ भी व्यक्तित्व निर्माण में मूलाधार का कार्य करती हैं। इन सहज प्रवृत्तियों के साथ ही व्यक्ति अपनी जीवन यात्रा प्रारंभ करता है। अनुभव के साथ सहज प्रवृति के स्थान पर अर्जित आदतें व्यक्ति के साथ

जुड़ जाती हैं। ये आदतें धीरे–धीरे स्वभाव का रूप ले लेती हैं। स्वभाव ही व्यक्ति के चरित्र का परिचायक होती हैं। अतः यह आवश्यक है कि बच्चे द्वारा अर्जित गतिविधियों के प्रति सचेत रहा जाए। व्यक्ति अनौपचारिक शिक्षा, अनुकरण के माध्यम से ग्रहण करता है। यह महत्वपूर्ण है कि अनुकरण का स्त्रोत मूल्यों पर आधारित हो। शिशु के आरंभिक कुछ वर्षों का प्रभाव उसके आचरण पर जीवन पर्यंत रहता है। भावनात्मक रूप से प्रबल बच्चा जीवन की चुनौतियों का सामना अपेक्षाकृत सरलता से करता है। भावनात्मक रूप से अस्थिर व्यक्ति की आपराधिक प्रवृत्तियों में लिप्त होने की संभावनाएँ अधिक होती है। आपराधिक प्रवृत्तियों मे लिप्त होने के कारणों में से एक कारण गुणसूत्रीय असमानताएँ भी हैं। दार्शनिक दृष्टिकोण से इसे प्रारब्ध कहा जा सकता है। ज्ञानात्मक, भावनात्मक एवं क्रियात्मक तीनों पक्षों का संतुलन एवं समन्वय ही व्यक्तित्व विकास का आधार होगा। ज्ञान उसी अवस्था में प्राप्त किया जा सकता है, जब बौद्धिक क्रियाएँ स्वविवेक के द्वारा नियंत्रित रहें तथा भावना प्रधान उत्तेजनाएँ स्थिर रहें। इन्द्रियो का नियंत्रण एवं मन का स्थिर होना आवश्यक है। आचार्य शंकर ज्ञान प्राप्ति की इस मनोदशा को साधन–चतुष्टय कहते हैं।[6]

आचार्य शंकर ने श्रवण, मनन एवं निदिध्यासन को ज्ञानमार्ग का साधन माना है। योग्य गुरु की शिक्षाओं को सुनना, श्रवण कहलाता है। श्रवण, ज्ञान प्राप्ति हेतु प्रथम चरण है किन्तु पर्याप्त नहीं है। श्रवण से प्राप्त ज्ञान का तर्कपूर्वक चिंतन मनन कहलाता है। अपने स्वरूप से परिचित होना अर्थात् जीव एवं ब्रह्म की एकता का प्रत्येक क्षण ध्यान करना निदिध्यासन कहलाता है। यदि ज्ञान केवल बौद्धिक स्तर तक सीमित है तो वह अधूरा होगा। ज्ञान तभी अर्थवान होगा जब वह आचरण में परिलक्षित हो। इन्द्रियों को संयमित करने के साथ ही मन का नियमन भी आवश्यक है, क्योंकि मन की प्रवृत्ति अथिर होती है। इसकी गति अभयपक्षी होती है। जब यह शुभ कर्मों में प्रवृत्त होती है तब सात्विक अवस्था को प्राप्त करती है। किन्तु जब इसका प्रवाह अनुचित कर्मों की ओर होता है तब यह अपने मूल स्वरूप को भूल जाती है तथा इसका नियंत्रण तामसिक प्रवृत्ति द्वारा होता है। जब मन स्थिर हो जाता है तथा इन्द्रियाँ नियमित हो जाती हैं, तब बुद्धि पारदर्शी हो जाती है। पारदर्शी बुद्धि में पुरूष का विशुद्ध प्रकाश प्रतिबिम्बित होता है। यद्यपि बुद्धि का स्वरूप सात्विक होता है, किन्तु संस्कारों एवं प्रवृत्तियों के कारण बुद्धि की सात्विक अवस्था का ह्रास हो जाता है।[7]

जब चित्त स्वयं को इच्छाओं से मुक्त कर लेता है तब वह अपने मूल स्वरूप को प्राप्त कर लेता है। तथा बाह्य विषयों (प्रेम, घृणा, राग, द्वेष, मोह आदि) से वह उत्तेजित नही होता है। संसार के समस्त प्राणियों का वर्गीकरण उनमें निहित गुणों के आधार पर किया गया है। सत्पुरूषों में सत्वगुण की प्रधानता होती है तथा रजस् एवं तमस गुण न्यून रूप में होते हैं। मनुष्यों में तमोगुण का अंष देवों की अपेक्षा कम न्यून होता है तथा पशु जगत में सत्वगुण की मात्रा बहुत न्यून होती है। विभिन्न व्यक्तियों का स्वभाव भिन्न होता है। सांख्य दर्शन के अनुसार त्रिगुणों यथा सत्व, रजस एवं तमस की सापेक्षता ही हमारे मानसिक स्वरूप की निर्णायक होती है। जिन व्यक्तियों में सत्वगुण की प्रधानता होती है, वे उच्च आध्यात्मिक शक्ति रखने वाले संतुलित एवं विचारशील व्यक्तित्व के स्वामी होते हैं। जिन व्यक्तियों में रजोगुण की प्रधानता होती है, वे साहसी, अस्थिर तथा कर्मशील स्वभाव के होते हैं। तमोगुण की प्रधानता होने पर व्यक्ति अज्ञानी तथा आलसी स्वभाव का होता है। तमोगुण निष्क्रियता उत्पन्न करता है तथा कर्म करने मे अरूचि उत्पन्न करता है त्रिगुणों का प्रभाव जीवन के प्रत्येक आयाम पर होता है। मनुष्य के जीवन का लक्ष्य है अपने 'स्व' का विस्तार करना अर्थात् अपने भीतर की चैतन्यता से व्यक्तित्व को प्रकाशित करना। यह महत्वपूर्ण कार्य दिन–प्रतिदिन की उत्तरदायित्वों के साथ ही

सम्पन्न हो सकता है। आत्मबोध के साथ ही प्राणिमात्र के साथ भी सम्पन्न हो सकता है। आत्मबोध के साथ ही प्राणिमात्र के साथ भी एकात्म स्थापित करना आवश्यक है। यह कार्य सरल होगा यदि व्यक्ति आत्मा के शुद्ध स्वरूप द्वारा संचालित होगा तथा अपने व्यक्तित्व की जड़ता से मुक्त होगा। यदि मूल्यों का प्रतिष्ठान आत्मीय होगा तब भटकाव की संभावना कम होगी। पंचकोष (अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय एवं आनंदमय) के सिद्धांत के अनुसार मानव अस्तित्व के पाँच स्तर हैं। प्रत्येक स्तर में चेतन, अवचेतन तथा अचेतन तत्व की अनुभूति होती है। प्रत्येक स्तर एक–दूसरे से सम्बद्ध होते हैं, किन्तु प्रत्येक स्तर में चेतना की विभिन्नता होती है। जब तक स्वचेतना जागृत नहीं होती है तब तक व्यक्ति उचित–अनुचित, शुभ–अशुभ के द्वन्द्व में उलझा रहाता है। किन्तु तब अज्ञानता दूर होती है तब व्यक्ति का सम्पूर्ण व्यक्तित्व स्वचेतन अथवा स्वविवेक द्वारा नियंत्रित होता है। अतः व्यक्तित्व को परिष्कृत करने में ज्ञान अथवा शिक्षा की भूमिका महत्वपूर्ण होती है। यहाँ ज्ञान से अभिप्राय है, ऐसा ज्ञान जो व्यक्ति के जड़ तत्व एवं चेतन तत्व के मध्य संतुलन स्थापित करे। व्यक्ति की चेतना को जागृत करने में सहायक हो। वर्तमान शिक्षा–पद्धति अन्नमय कोष तक सीमित है। शिक्षा तभी सार्थक होगी जब वह चेतना को विज्ञानमय कोष तक ले जाने का साधन बने। विज्ञानमय कोश में ही विवेक प्रस्फुटित होता है जो नैतिकता का आधार है। ज्ञानप्राप्ति के पश्चात् भी यदि व्यक्ति के आचरण एवं विचार परिष्कृत नहीं होते हैं तब वह ज्ञान अर्थहीन है। उचित ज्ञान के माध्यम से विचारों की शुद्धता एवं आचरण की पवित्रता आवश्यक है। यह व्यक्तित्व की नींव है। इसके अनुरूप मन, वचन एवं कर्म से एकरूप व्यक्ति के व्यक्तित्व को सम्पूर्ण कहा जा सकता है।

संदर्भ :–

1. गीता, 3.35
2. It is a fundamental and deplorable error by which we have confused education with the acquisition of knowledge and interpreted knowledge itself in a singularly narrow and illiberal sense. To give the student knowledge is necessary, but it is still more necessary to build up in him the power or knowledge.
   Sri Aurbindo, sri Aurobindo Birth Centenary Library [SABCL], Vol.-3, "Education: Intellectual" (Incomplete), Pondicherry; sri Aurobindo Ashram, 1972, P.127
3. SABCL, The Human Mindi, Vol.17, P.204
4. योगभाष्य,1:12
5. J. Krishnamurti, Education and the significance of Life, 1992, Krishnamurti Foundation, India, pg.11
6. वेदान्तसार, 4
7. सांख्य प्रवचन सूत्र, 3

नई शिक्षा नीति में भारतीय मूल्य व्यवस्था

डॉ. प्रवीण जोशी
एल.आई.जी द्वितीय 32
इन्दिरा नगर, उज्जैन

आलेख का विषय वस्तुतः समसामयिक एवं चुनौतिपूर्ण है। समसामयिक इसलिए है, क्योंकि तात्कालिक समस्याओं से यह हमें जोड़ रहा है और चुनौतिपूर्ण इसलिए है, क्योंकि यह 21वीं शताब्दी की समस्त चुनौतियों को एक साथ चित्रित कर लिया जाए, तो उनके साथ भारतीय दर्शन की सुसंगति का आकलन करना आसान कार्य नहीं है। अतः प्रस्तुत लेख में सन्दर्भित समस्या का समग्र विवेचन हुआ है ऐसा दावा मैं नहीं कर सकता, फिर भी समस्या के यथातथ्य निरुपण और भारतीय दर्शन की यत्किंचित प्रासगिकता का सर्वेक्षण प्रस्तुत किया गया है।

"ज्ञानं तृतीय मनुजस्य नेत्रं समस्तत्वार्थ विलोकिदक्षम् ।
तेजोनपेक्षं विगतान्तराय प्रवृतिमत्सर्वजगत्त्रयेपि।।"

अर्थात् 'ज्ञान या शिक्षा मनुश्य का तीसरा नेत्र है, जो समस्त तत्वों के मूल को समझने में समर्थ करता है तथा उसे सही कार्यों की ओर प्रवृत करता है– शिक्षा के संबंध में हमारी पारंपरिक मान्यता इसी प्रकार की रही है।

आज मानवता एक नये विश्व–समाज का रूप ले रही है। जानकारी बढ़ रही है परन्तु समझदारी घट रही है, संघर्ष और प्रतियोगिता अपने चरम पर है; बदलाव और हलचल के इस दौर में मनुष्य परेशान, भौंचक और दबाव में है। सभ्यताओं और संस्कृति के बीच जो टकराव विद्यमान है उसे मनुष्य समझना चाहता है, उसका समाधान भी ढूँढना चाहता है। इन्हीं चुनोतियों के बीच हमारे सामने नई शिक्षा नीति 2020 को स्वीकृति दी गई है। बहुत वर्षों से इस प्रकार की नई शिक्षा नीति की आवश्यकता समझी जा रही थी। उसी के परिणाम स्वरूप सहयोग की एक नई संस्कृति में बदले और ऐसा तभी संभव है जब हम अपनी शैक्षणिक सोच में एक बार फिर मूल्यपरक आध्यात्मिक तत्व को और नैतिक चरित्र–निर्माण से जुड़े हर पहलू को अधिक महत्व दिया जा रहा है। चूँकि सामाजिक सभ्यता की दशा समाज में प्रचलित मूल्यों द्वारा तय होती है इसलिए शिक्षा प्रणाली में मूल्यों पर बल और देने की आवश्यकता है क्योंकि मूल्योन्मुख शिक्षा ही इस कार्य में सक्षम सिद्ध हो सकती है।

'सा विद्या या विमुक्तये' अर्थात् विद्या यानि शिक्षा वह है जो व्यक्ति को बंधनमुक्त कर, उसे धन, पद, मान, प्रतिष्ठा के लोभ से ऊपर उठाती है। शिक्षा के संबंध में हमारी पारंपरिक मान्यता इसी प्रकार थी, परन्तु आज शिक्षा भौतिकता की लहर में धनोपार्जन का मुख्य उद्देश्य बन गयी नैतिकता एवं चरित्र–निर्माण जैसे मुददों का तो मानों शिक्षा से कोई लेना–देना ही नहीं रहा। इसकी वजह संभवतः हमारी शिक्षा प्रणाली ही है। आज मानवता ने एक नए समाज–विश्व समाज का रूप ले लिया है जहाँ जानकारी बढ़ गयी, किन्तु समझदारी कम हो रही है, संघर्ष और प्रतियोगिता अपने चरम पर है। विकसित और विकासशील देशों के बीच खाई चौड़ी हो रही है अतः वर्तमान हमारी शिक्षा का स्वरूप ऐसा ही है। नई शिक्षा नीति में सामाजिक विभाजन को सौहार्द्र एवं सहयोग की एक नई संस्कृति में बदलने और अपनी शैक्षणिक सोच में एक बार फिर आध्यात्मिक तत्व, नैतिकता और मूल्यों से जुड़े पहलुओं पर अधिक महत्व दिया गया है।

नई शिक्षा नीति का उद्देश्य है व्यक्ति में उन गुणों का विकास करना जो उसे एक 'विकसित व्यक्तित्व' प्रदान करते हों। मूल्यपरक व्यक्तित्व के मूलतः दो पक्ष होते हैं– एक बाह्य और दूसरा आंतरिक। बाह्य पक्ष भौतिक होता है और आंतरिक पक्ष आध्यात्मिक होता है। पुनः बाह्य पक्ष का संबंध बाह्य वातावरण यथा सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक, वैज्ञानिक एवं पर्यावरणिक मूल्य है और आन्तरिक पक्ष का संबंध आत्मिक यथा आध्यात्मिक एवं नैतिक मूल्य से होता है। इसे हम इस प्रकार समझ सकते हैं –

मूल्य परक व्यक्तित्व

बाह्य मूल्यपरक व्यक्तित्व — आंतरिक मूल्यपरक व्यक्तित्व

आर्थिक — राजनीतिक — सामाजिक — पर्यावरणिक — आत्मिक — आध्यात्मिक

नई शिक्षा नीति में बताया गया है कि मूल्यों की शक्ति जितनी अधिक होगी, ज्ञान की प्राप्ति भी उतनी ही अधिक होगी। मनुष्य का चरित्र उसकी विभिन्न प्रवृतियों की समष्टि है, उसके मन के समस्त झुकावों का योग है। सुख और दुःख ज्यों–ज्यो उसकी आत्मा पर से होकर गुजरते है, वे उस पर अपनी–अपनी छाप या संस्कार छोड़ जाते हैं और इन सब विभिन्न छापों की समविष्टि ही मनुष्य का चरित्र कहलाता है। व्यक्ति अपने विचारों से ही बना है। सम्पूर्ण शिक्षा तथा समस्त अध्ययन का एक ही उद्देश्य है इस मूल्यपरक व्यक्तित्व को गढ़ना, परन्तु हम सिर्फ बहिरंग पर ही पानी चढ़ाने का सदा प्रयत्न करते है जहाँ व्यक्तित्व का अभाव है वहाँ बहिरंग पर पानी चढ़ाने का प्रयत्न करने से क्या लाभ? शिक्षा का ध्येय है मनुष्य का विकास और उसके चरित्र का उत्थान। यह व्यक्तित्व जिस वस्तु पर अपना प्रभाव डालता है, उसी वस्तु को कार्यशील बना देता है।

हम देखते है कि मूल्यपरक व्यक्तित्व एक सत्य है, इतना ही नहीं, बल्कि यही मानव प्रकृति है। यही मनुष्य की सब क्रियाओं को अनुप्रमाणित करता है, सभी पर प्रभाव डालता है, साथियों को अच्छे कार्य करने में प्रवृत्त करता है तथा उस व्यक्ति के लय के साथ विलीन हो जाता है, उसकी बुद्धि, उसकी पुस्तकें और उसके किये हुए कार्य–ये सब तो केवल पीछे रह गये कुछ चिह्न मात्र है। सम्पूर्ण शिक्षा तथा समस्त अध्ययन का एकमात्र उद्देश्य है 'मूल्यपरक व्यक्तित्व को गढ़ना'।

"न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिहिह विद्यते।
तत्स्वयं योग संसिद्ध कालेनात्मनि विन्दति।।"

वर्तमान में हम परिवर्तन के उस दौर से गुजर रहे है जहाँ हमें अपने सनातन जीवन–मूल्यों को पहचानने की आवश्यकता है। अपने गरिमामय संतुलित भूतकाल को देखकर देष के भविष्य के लिये वर्तमान में सुधार लाना है। "हमें शिक्षा के प्राचीन भारतीय मूल्यों की स्थापना पुनः करनी होगी अन्यथा बिखराव के नाना रूप अपनी पूर्ण भयंकरता में देश के सम्मुख उपस्थित हो जायेगा। प्राचीन भारतीय दृष्टिकोण से शिक्षा व्यक्ति को अपना बहुआयामी विकास करने, उत्तम जीवन व्यतीत करने और मोक्ष प्राप्ति का रास्ता दिखाने वाला होता है।" प्राचीन भारतीय दृष्टिकोण में "वैदिक युग से आज तक शिक्षा के संबंध में भारतीयों की यह धारणा रही है कि शिक्षा प्रकाश का वह स्रोत है जो हमारी शारीरिक, मानसिक, भौतिक और आध्यात्मिक शक्तियों तथा क्षमताओं का निरंतर विकास करके हमारे स्वभाव को परिवर्तित करती है और उसे उत्कृष्ट बनाती है।"

नई शिक्षा के उद्देश्य –

भारतीय दृष्टिकोण से शिक्षा का उद्देश्य है– धार्मिकता का समावेश, चरित्र का निर्माण, व्यक्तित्व का विकास, नागरिक एवं सामाजिक कर्त्तव्य पालन की भावना का समावेश, सामाजिक कुशलता की उन्नति तथा राष्ट्रीय संस्कृति का संरक्षण एवं प्रसार। "infusion of a spirit of piety and religiousness, formation of character, development of personality, inculcation of civil and social justice, promotion of social efficiency and preservation and spread of national culture." इन उद्देश्यों को यदि गौर से देखें तो हम पायेंगे कि प्राचीन भारतीय शिक्षा का उद्देश्य था :–

1. ज्ञान एवं अनुभव पर बल
2. चित्त वृत्तियों का निरोध
3. ईश्वर भक्ति एवं धार्मिकता का समावेश
4. नागरिक एवं सामाजिक कर्त्तव्य पालन की भावना का समावेश
5. चरित्र निर्माण
6. व्यक्तित्व का विकास
7. समाजिक कुशलता की उन्नति
8. राष्ट्रीय संस्कृति का संरक्षण एवं प्रसार

शिक्षण विधि :–उपरोक्त उद्देश्यों की पूर्ति हेतु शिक्षण की विधियाँ थी – प्रवचन व्याख्यान, शास्त्रार्थ, प्रश्नोत्तर एवं वाद–विवाद।

परीक्षा विधि :–विद्वानो की सभा में उपस्थित होकर पढ़े गये विशयों पर विद्वानों द्वारा पूछे गये प्रश्नों के समुचित उत्तर देने के उपरांत ही परीक्षार्थी उत्तीर्ण घोशित होता था। इसमें परीक्षार्थी की योग्यता का सही मूल्यांकन होता था।

शिक्षा का क्षेत्र :–शिक्षा के मूल पाँच क्षेत्र थे– 1. स्त्री शिक्षा 2. व्यवसायिक शिक्षा 3. सैनिक शिक्षा 4. चिकित्सा शास्त्र की शिक्षा 5. वाणिज्य शिक्षा।

इस तरह हमारे मनीषियों ने जिस शिक्षा प्रणाली का विकास कर लिया था वह न केवल "साम्राज्यों के पतन और समाज के परिवर्तन से अप्रभावित रही, अपितु उसने उच्च शिक्षा की ज्योति हजारो वर्षो तक प्रज्ज्वलित रखा।" आज हमारे लिये प्राचीन शिक्षण प्रणाली के अति ग्रहणीय तत्त्व है–

1. आदर्शवादिता	2. अनुशासन
3. गुरु–शिष्य परम्परा	4. शांत वातावरण
5. अध्यात्म के विषय	6. शिक्षण विधि
7. शिक्षा सिद्धान्त	8. छात्रों का सरल जीवन

तथ्य है कि व्यक्ति के मन में अपने वातावरण को जानने की स्वभाविक प्रवृति होती है। वह गतिशील जगत के लक्ष्य का पता लगाना चाहता है। उसके संदर्भ में शिक्षा ग्रहण करना चाहता है। यह एक निर्विवाद सत्य है कि शिक्षा और जीवन अभिन्न रूप से जुड़े है। "नई शिक्षा का उद्देश्य है जीवन को सम्मुनत बनाना और मूल्य भी जीवन को पूर्ण उन्नत करना चाहते है।" सच में Education is the dynamic side of Philosophy. It is active aspect of philosophical belief, the practical means of mobilizing the ideals of life" जीतने भी महान् विचारक हुए है सभी ने शिक्षा की समस्या की विवेचना की है तथा सभी शिक्षा शास्त्रियों ने मूल्यपरक शिक्षा पर विचार किया है चाहे वे प्राच्य हो, ग्रीक हो, या पाश्चात्य जगत के सबों ने शिक्षा के मूल्यों पर गहन विवेचना की है। वो चाहे सुकरात, अरस्तू,

सोरो, गांधी, स्वामी विवेकानन्द, रवीन्द्रनाथ टैगोर, राधाकृष्णन, हर्बट फोबेल, कमेनियस, वासबर्न, एडेम्स, जेम्स रोस या जॉन डिवी हो।

सामाजिक दृष्टि से भी इस सोच की अहमियत है। मूल्य शिक्षा हमारे सामाजिक जीवन की औपचारिकता संस्थानिक व्यवस्था है जिससे समाज के विभिन्न वर्गों की अनेकानेक अपेक्षायें हैं। सरकार भी समाज की अपेक्षायें को पूरा करने का एक तंत्र या प्रणालीगत व्यवस्था है। इस प्रकार मूल्यपरक नई शिक्षा व्यवस्था का लक्ष्य है समाज की अपेक्षाओं को पूरा करना।

अतः नई मूल्यपरक शिक्षा नीति के विभिन्न अंगों एवं शिक्षा–शास्त्रियों को इस पर गहन चिंतन मनन कर देश के सर्वांगीण विकास हेतु परिवर्तन करना होगा जो हमारी सनातन परम्परा रही है। यह वह परम्परा है जहां न कोई जातीय संघर्ष था, न हताशा, न निराशा, न साम्प्रदायिकता, न बेरोजगारी और न ही बेकारी। जहाँ था वर्णाश्रम व्यवस्था जिसमें संपूर्ण व्यक्तित्व एवं समाज के सवर्तो भावेन उत्कर्ष की व्यवस्था थी। प्राचीन शिक्षण व्यवस्था इस संपूर्ण व्यवस्था की रीढ़ थी जिसके सूत्रधार हमारे शिक्षाशास्त्री होते थे। वस्तुतः "शिक्षाशास्त्री का काम देश दर्शन की पुनर्रचना करना है जिससे कि वे जीवन मुख्य हमारे परिवर्तनशील जीवन एवं विचार का स्पष्टीकरण कर सकें" क्योंकि आज की परिस्थिति में हम शिक्षाशास्त्रियों का दायित्व और गहन हो जाता है। अतः शिक्षाशास्त्रियों को अपनी प्राचीन भारतीय शिक्षण व्यवस्था की पुर्नस्थापना के लिये प्रयत्न करना चाहिये। "उतिष्ठत्, जाग्रत्, प्राप्य वरान्निबोधत्"[1] और तभी हम पुनः उस शैक्षणिक अवस्था को प्राप्त कर पायेंगे जिसके लिये मनीषीगण भारत में शिक्षा प्राप्ति की चाहत रखते थे। "एतद् देशः प्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनःस्वं स्वंचरित्र शिक्षेरण पृथ्वियां सर्वमानवः"[2]

हमारी सनातन परम्परा रही है – मूल्य आधारित शिक्षा । सच बोलना, एक दूसरे से प्रेम रखना, एक दूसरे की सहायता करना इत्यादि, यह मूल्य हर देश और हर धर्म में प्रधान रूप से होते हैं। उदाहरण के तौर पर 'बांट कर खाना एक अच्छा मूल्य है' परन्तु 'छिन कर खाना गलत है', यह किसी भी देश और किसी भी धर्म के मूल्य में मान्य नहीं है। अच्छा आचरण, अच्छा चरित्र, अच्छे विचार, अच्छे मूल्यों के माध्यम से ही बन सकता है और यह नई शिक्षा का वास्तविक उद्देश्य भी है। वर्तमान में बाजारी शक्ति के बीच जहां भौतिक साधन और भौतिक विकास का बालबाला है वहीं वर्तमान में मूल्य आधारित शिक्षा ही भविष्य का रास्ता तय कर सकती है। सच्चाई यह है कि वर्तमान में पश्चिमी देश भौतिकता से उपर उठकर भारतीय चिन्तन व संस्कृति की आध्यात्मिक शिक्षा की तरफ झुक रहे है। हम ऐसे युग में है जहां भविष्य हमारे सामने खड़ा है और इससे भी अभिज्ञ है कि भूतकाल समाप्त हो चुका है। हम वर्तमान की चुनौतियों एवं परिवर्तनों का सामना करने में असमर्थ हो रहे है अतएव हमें मूल्यपरक व्यक्तित्व के लिए नई शिक्षा नीति 2020 के मार्ग को अपनाना चाहिए जो सिर्फ व्यवसायिककरण एवं प्रतियोगिता की ओर नहीं बल्कि सहयोग, सामंजस्य, सयंम का भी मार्ग प्रशस्त करें समाज को मूल्यों से भरी हुई व्यावहारिक व्यवस्था दें। नई शिक्षा नीति 2020 से उम्मीद भी यही की जानी चाहीए कि यह विश्व में सत्यम् शिवम सुन्दरम् का वातावरण फैलायेगी, भोगवाद को प्रश्रय न देकर संयम का मार्ग प्रशस्त करती रहेगी, और यह कार्य केवल मूल्यों पर आधारित नई शिक्षा नीति के द्वारा ही हो सकता है। नई मूल्यपरक शिक्षा नीति की सार्थकता तभी है जब हम सभी उसका स्वागत करें, पालन करें।

संदर्भ –

1. कठोपनिषद् 1/3/14
2. मनुस्मृति

योग शिक्षा की चुनौतियाँ और नई शिक्षा नीति

डॉ0 अल्पी सिंह
.योग एवं चेतना केन्द्र
अवधेश प्रताप सिंह विश्वविद्यालय रीवा
(म0 प्र0)

योग एक प्राचीन भारतीय विज्ञान है जिसे ऋषियों द्वारा किये गये शोध के आधार पर प्रस्तुत किया गया है। योग मे जीवन का सतुंलन बनाये रखने के लिए शारिरिक और मानसिक के साथ सामाजिक तथा आध्यात्मिक अभ्यास बताये गये है। हठयोग, ज्ञानयोग, राजयोग तथा क्रिया योग जैसे अभ्यास का पालन करके शरीर, मन और आत्मा में संतुलन बनाया जा सकता है। योग द्वारा सम्पूर्ण व्यक्तित्व विकास के लिए सभी व्यावहारिक तथा प्रायोगात्मक ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है किन्तु वर्तमान समय में योग का एक चिकित्सा पद्धति के रूप में ज्यादा उपयोग किया जा रहा है, जिसमें केवल योग के कुछ अंग जैसे आसन, प्राणायाम और कुछ शुद्धिक्रियाओं का उपयोग किया जा रहा है। जबकि योग केवल एक गन्तव्य नही बल्कि जीवन के समग्र विकास का पथ है, जिसके लिए उपनिषदों मे आवश्यकता और वैज्ञानिकता के साथ दिशा–निर्देश दिये गये हैं। वर्तमान में प्रचलित योग शिक्षा की विसगतियों को दूर करने के लिए नई शिक्षा नीति में विद्यालयीन और विश्वविद्यालयीन योग शिक्षा के लिए नये दिशा–निर्देश की आवश्यकता है ताकि योग का वास्तविक लाभ योग क्षेत्र में जुडने वाले योग साधक के साथ योग के विद्यार्थियों और शोधार्थियो को मिल सके। नई शिक्षा नीति में योग शिक्षा के लिए बनाये गये पाठ्यक्रम को सुव्यवस्थित करके योग को व्यावसायिक तथा व्यावहारिक दोनों रूपों में प्रभावी बनाया जा सकता है और योग क्षेत्र में रोजगार के सुदृढ़ नये अवसर प्रदान किये जा सकते हैं।

सार बिन्दु – योग शिक्षा, समग्र विकास, नई शिक्षा नीति

प्राचीन काल में ऋषि – महर्षियों ने मानव कल्याण के लिए योग साधना बतायी और योग को मोक्ष (आत्मसाक्षात्कार) के लिए सर्वोत्तम साधना भी कहा।

योगहीनं कथज्ञानं मोक्षदं भवति ध्रुवम्।
योगाऽपि ज्ञान हीनस्तु न क्षमो मोक्षकर्माणि।।[1]

अर्थात् योग के बिना ज्ञान ध्रुव मोक्षपद को कैसे दे सकता है और ज्ञानहीन योग भी मोक्ष देने में असमर्थ हैं। अतः योगी को ध्यान की और ज्ञान की योग की अपेक्षा होती है। इसमें किंचित मात्र संदेह नही है। उपनिषद् वाक्य में स्पष्ट है कि योग के वास्तविक स्वरूप को जानने के लिए ज्ञान का होना अतिआवश्यक है। वर्तमान समय में योग क्षेत्र में उचित व वास्थविक ज्ञान की आवश्यकता है। जिसके आभाव मे योग अपने मूल स्वरूप में प्रकट नही हो पा रहा है बल्कि योग की कुछ विधाओं का प्रचलन परिवर्तन के साथ प्रस्तुत किया जा रहा है। भारतीय संस्कृति में शिक्षा और विद्या दो प्रकार बताये गए है, जहाँ शिक्षा का अर्थ सांसारिक ज्ञान एवं विद्या का अर्थ मनोभूमि का विकास करना। विद्वान मनुष्य साधन की कमी में भी सुखी रह सकता है। परन्तु बौद्धिक शक्तियाँ होने पर दूषित मनोभूमि का मनुष्य अपने लिए तथा दूसरों के लिए विपत्ति, चिन्ता, कठिनाई, क्लेश एवं बुराई उत्पन्न कर सकता है। इस तथ्य को हमारे पूर्वज जानते थे कि शिक्षा से भी विद्या का महत्व अधिक है।[2] अतः विद्यार्थियों को शिक्षा

के साथ विद्यारूपी सद्ज्ञान की आवश्यकता है। योग मनीषियों ने योग शिक्षा में योग विद्या का समावेश करके समाज के सामने प्रस्तुत किया है। जहाँ सैद्धान्तिक और व्यावहारिक दोनों प्रक्रियाओं द्वारा व्यक्तित्व का सम्पूर्ण विकास करने की बात कही गई है।

श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतः तौसम्परीत्य विविनक्ति धीरः।
श्रेयो हि धीरोऽभि प्रेयसो वृणीते प्रेयो मन्दो योगक्षेममाद वृणीते।।[3]

एक मनुष्य के पास विद्या और अविद्या दोनों रहते है किन्तु बुद्धिमान मनुष्य श्रेय को ही विचार विमर्श के बाद चुनता है जबकि मूढ़ व्यक्ति अविद्या को चुन लेता है। कठोपनिषद के इस कथन में अविद्या से, विद्या को श्रेष्ठ बताया गया है। योग हमें इसी विद्या रूपी श्रेष्ठ को ग्रहण करना सिखाता है। वर्तमान समय में दी जाने योग शिक्षा में अनेक विसंगतियाँ आ गई हैं जिन्हें दूर करने की आवश्यकता है। ताकि योग को उसके मूल स्वरूप के साथ आने वाली पीढ़ी तक पहुचाया जा सके। 2020 में भारत सरकार द्वारा शिक्षा क्षेत्र मे नई क्रान्ति का संचार करने के लिए नई शिक्षा नीति को लाया गया है। नई शिक्षा नीति के अन्तर्गत योग की भूमिका पर बल दिया गया है। योग शिक्षा और खेलकूद को स्कूल कॉलेज में प्रोत्साहित किया जा रहा है। विभिन्न संस्थाओं द्वारा योग को पाठ्यक्रम में सम्मलित किया जा रहा है। किन्तु योग विद्या को अधिक वैज्ञानिकता के साथ सम्मलित करने की आवश्यकता है। इस तरह योग का लाभ प्राप्त करते हुए रोजगार के लिए सुदृढ़ अवसर भी मिल सकेंगें। उच्च शिक्षा के विद्यार्थियो का जीवन कृत्रिम होता जा रहा है तथा वे प्राकृतिक जीवन से दूर होते जा रहें है ऐसे में योग द्वारा उन्हें प्राकृतिक जीवन शैली एवं स्वयं की ओर पुनः वापस लाया जा सकता है। योग के क्षेत्र में भारत के कई विश्वविद्यालय अलग – अलग पाठ्यक्रम संचालित कर रहें हैं। इस कारण विश्वविद्यालय परिवर्तित होने के साथ ही योग का ज्ञान भी भिन्न रूप में विद्यार्थियों तक पहुँचता है। कुछ संस्थान योग शिक्षा स्नातक और स्नातकोत्तर डिग्रियों में, कला व विज्ञान के अन्तर्गत अलग – अलग रखते हैं। जिससे विद्यार्थी को स्पष्ट ही नहीं हो पाता कि वह किस विषय से 12वीं तथा स्नातक करें कि जिससे योग पाठ्यक्रम मे प्रवेश मिले । इसको शिक्षा नीति में स्पष्ट करने की आवश्यकता है।

राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020 के अध्याय 14 में "उच्चतर शिक्षा मे समता और समावेश" के अन्तर्गत बताये गए बिन्दु के आधार पर इन विसंगतियों को दूर किया जा सकता है। जहाँ विद्यालयीन और विश्वविद्यालयीन शिक्षा में समानता का स्वरूप तैयार किया जाना चाहिए तथा रोजगार से जुड़े योग ज्ञान को अधिक उपयोगी बनाने के प्रयास की आवश्यकता है। योग शिक्षा के लिए संस्थानों को वित्तीय सहायता एवं छात्रवृत्ति प्रदान किया जाए ताकि विद्यार्थियों की भागीदारी एवं सीखने के लिए प्रोद्यौगिकी का निर्माण किया जा सके।

प्रेरित सक्रिय और सक्षम संकायः– उच्चतर शिक्षण संस्थानों की सफलता का सबसे महत्वपूर्ण कारक वहाँ कार्यरत्त सदस्यों की गुणवत्ता एवं संलग्नता है 5 योग क्षेत्र में सबसे बड़ी चुनौती उन विश्वविद्यालयों में हैं जहाँ पर योग के पाठ्यक्रम संचालित हैं किन्तु संकाय में योग परक वातावरण नहीं है। अधिकतर संस्थानो मे योग शिक्षा के लिए, शारीरिक शिक्षा के शिक्षको की नियुक्ति की गई है जिसमें सुधार की आवश्यकता है। योग संकाय में योग क्षेत्र के ही निपुण शिक्षको, प्राध्यापकों की नियुक्ति सुनिश्चित कि जानी चाहिए। नवीन राष्ट्रीय अनुसंधान फाउण्डेशन के माध्यम से सभी क्षेत्रों में गुणवत्ता युक्त अकादमिक अनुसंधान को उत्प्रेरित करना[6]– योग विशय में भी प्रत्येक विश्वविद्यालय में स्वयं/दीक्षा जैसे प्रोजेक्ट द्वारा अनुसंधारन करके योग की वैज्ञानिकता को सिद्ध किया जाए ताकि योग

विद्यार्थियों को रोजगार के अवसर के साथ विश्वविद्यालयीन स्तर पर योग अनुसंधान से समाज सकारात्मक प्रभाव पड़ेगा तथा योग के प्रति रुझान बढ़ेगा। जीवन मूल्य की शिक्षा व योग मे दिए जा वाले ज्ञान एवं अनुसंधान से सामाजिक स्वास्थ्य को बढ़ावा मिलेगा। वर्तमान समय में भारत अनुसंधान और नवाचार निदेश संयुक्त राज्य अमेरिका 2.8%, इजराल में 4.3% और दक्षिण कोरिया 4.2% की तुलना में जी.डी.पी. का केवल 0.69% है।[7]योग क्षेत्र में Indigenous टेक्नोलॉजी मे अनुसंधा करते हुए वेद–उपनिषद तथा प्राचीन ग्रन्थों की उपयोगिता प्रमाण के साथ सिद्ध किया जा सकता है जिन विश्वविद्यालयों में शोध कार्य अभी प्रारंभिक अवस्था में हैं वहाँ पर अनुसंधान विकसित करना औ बढ़ावा देना। उच्चतर शिक्षा के नियामक प्रणाली में अमल्य चूल परिवर्तन– भारतीय कृषि अनुसंधा एन.सी.टी.ई, सी.ओ.ए. की तरह योग परिषद् का भी पुनर्गठन व्यवसायिक मानक सेटिंग्स निकायों रूप किया जाए ताकि देश के विभिन्न विश्वविद्यालयों मे योग शिक्षा ग्रहण कर रहे छात्र देश के किस भी भाग में जाकर सहजता से योग में अनुसंधान कार्य कर सके।

ऑनलाइन और डिजिटल शिक्षा :– प्रौद्योगिकी का न्याय सम्मत उपयोग सुनिश्चित करना।[8] न परिस्थितियों के आधार पर नई पहल भी आवश्यक है। योग के क्षेत्र में ऑनलाइन शिक्षा के लाभ हा को जान करके योग का सिद्धान्त एवं प्रायोगिक अभ्यास के आधार पर पायलट अध्ययन व आवश्यकता है ताकि हानियो से बचा जा सके। साथ ही ऑनलाइन योग शिक्षा के लिए आवश्य उपकरण, इन्फ्रॉस्ट्रक्चर उपलब्ध हो। विद्यालयों में शारीरिक शिक्षा के शिक्षक जिन्होनें केवल 1 दिवसीय अथवा त्रैमासिक योग प्रशिक्षण लिया हैं उन्हे भी योग शिक्षा देने की अनुमति प्राप्त हो जात है। योग को उत्कृष्ट स्तर पर पहुँचाने के लिए ऐसी स्थितियों से बचना जरूरी है। योग शिक्षा माध्यम से विद्यार्थियों का मानसिक स्तर भी ऊँचा उठेगा जो कि केवल शारीरिक अभ्यास से प्राप्त न किया जा सकता इसके लिए योग विषय का गहन अध्ययन आवश्यक हैं।

स्वाध्यायः प्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम्।[9]

तैत्तिरियोपनिषद् मे कहा गया है कि सीखने (अध्ययन) तथा अध्यापन के लिए प्रमाद न करना चाहिए योग की शिक्षा व विद्या के लिए आवश्यक है कि योग शिक्षक व प्रशिक्षक योग विषय निपुण और ज्ञानी हो। राष्ट्रीय शिक्षा नीति के बिन्दु 5.2 में शिक्षको के लिए व्यावसायिक मापद मानक बनाये गये हैं। जहाँ 2022 तक शिक्षको के लिए राष्ट्रीय व्यावसायिक मानको (एन.पी.एस.टी.) क सामान्य मार्गदर्शक सेट तैयार करना है। इसमें योग के लिए मानक का वर्णन हो कि योग शिक्षक यो विधाओं में निष्णात हो तथा योग क्षेत्र में ही अपना कार्यानुभव रखता हो। नई शिक्षा नीति के 5.25 आधार पर स्थानीय स्तर में आवश्यकतानुसार योग प्रशिक्षक के लिए दिशा–निर्देश बनाये जायें।

समग्र व्यक्तित्व विकास–

मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादम्।[10]

तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरुपशून्यमिव समाधिः।[11]

व्यक्तित्व विकास में पातंजल योग सूत्र में मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा का ज्ञान सहायक हैं। योग अभ्यास द्वारा ध्येय व ध्याता का ज्ञान समाप्त हो जाता है केवल आत्मज्ञान रह जाता है। ऐसं स्थिति में व्यक्तित्व का सम्पूर्ण विकास होता है जिसमें शारीरिक, मानसिक, सामाजिक तथा आध्यात्मि स्वास्थ्य ज्ञान सम्मिलित होता है। भगवद्गीता में बताया गया है कि योग में ज्ञान हो जाने पर व्यक्ति अपने कर्तव्यों को करके समत्व में स्थित होता है।[12] प्रो0 अरुण गोयल ने बताया कि योग अभ्यास द्वा तत्रिंका तंत्र में हार्मोनल व जैव रासायनिक परिवर्तन होता है और शरीर स्वस्थ हो जाता है। Yog

hepls in maintain good health.[13] इस तरह देखा जाए तो नई शिक्षा नीति के साथ योग क्षेत्र में क्रान्तिकारी बदलाव लाया जा सकता है। किसी भी नीति को प्रभावशाली बनाने के लिए उसके कार्यान्वयन पर निर्भर करती है। ऐसे क्रियान्वयन के लिए कई निकायों द्वारा समन्वित एवं व्यवस्थित तरीके से बहुत सी पहल करनी होगी।[14] योग शिक्षा में चुनौतियों को दूर करने के लिए व्यापक विचार–विमर्श की आवश्यकता है और इसके लिए संगोष्ठी, कार्यशाला द्वारा उचित हल निकालने की जरूरत है ताकि योग की व्यापकता व सार्थकता को अधिक स्पष्ट किया जा सके।

निष्कर्ष–

नई शिक्षा नीति का उद्देश्य प्राचीन भारतीय मूल्यों एवं आधुनिकता को साथ में लेकर के चलने वाली शिक्षा प्रणाली का विकास करना है जिसके द्वारा सभी व्यक्तियों को उच्चतर गुणवत्तायुक्त शिक्षा उपलब्ध कराने के साथ भारत को पुनः विश्वगुरू बनाने में योगदान किया जा सके। शिक्षा नीति में स्वास्थ्य और फिटनेस के अन्तर्गत योग को भी रखा गया है जिसे उचित रूपरेखा के साथ पाठ्यक्रम में सम्मलित किया जाना चाहिए। योग शिक्षा व योग विद्या का समावेश करके नई शिक्षा नीति में योग अपनी महत्वपूर्ण भूमिका निभयेगा तथा योग क्षेत्र में रोजगार के सुदृढ़ अवसर प्राप्त होगें।

सन्दर्भ–

1. सरस्वती, स्वामी विज्ञानानन्द 2007–योग विज्ञान, योग निकेतन ट्रस्ट, ऋषिकेश,पृष्ठ. 7।
2. आचार्य,शर्मा श्रीराम 2010–गायत्री महाविज्ञान, युग निर्माण योजना ट्रस्ट,मथुरा,पृ. 397।
3. इशादिनौउपनिषद्,कठोपनिषद् सं0 2068– गीताप्रेस, गोरखपुर, 1/2/2।
4. राष्ट्रीय शिक्षा नीति, 2020, www.education.gov.in, पृष्ठ. 66
5. वही, पृष्ठ. 64 व 65
6. वही, पृष्ठ.72
7. वही, पृष्ठ.73
8. वही, पृष्ठ.95
9. इशादिनौउपनिषद्, तैत्तिरियोनिषद् सं0 2068– गीताप्रेस, गोरखपुर 1/9/2
10. श्रीवास्तव, डॉ0 सुरेषचन्द्र 2012, पातंजल योग दर्शनम्, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी, 1/33
11. वही, 3/3
12. भगवद्गीता, गीताप्रेस गोरखपुर, सं0 2066, 6/32
13. Goel, Prof. Aruna. Goel, Prof. S.L.(2010-11) Health and Yoga education, Yoga Vijanana, The secience of Yoga, vol-14 (combined issue), pg. 22-31.
14. राष्ट्रीय शिक्षा नीति, 2020, www.education.gov.in, पृष्ठ. 101
15. National Yoga Week - Role of Yoga in school education (Souvenir) MDNIY, New Delhi.
16. Rama, Swami. Ballentine, Rudolph. Ajay, Swami. (2007) Yoga and Psychotherapy, Himalyan Institute Press.

शिक्षा एवं दर्शन – राधाकृष्णन के दृष्टिकोण से

डॉ0 बबीता सिंह
(अतिथि विद्वान)
शा0मान कुंवर बाई कला एवं वाणिज्य
(स्वशासी) महिला महाविद्यालय, जबलपुर (म0प्र0)

"संसार विष वृक्षः। इस वृक्ष रुपी संसार में यदि आप शाश्वतता की कुछ झलकियां पाना चाहते हैं, यदि आप क्षणभंगुर तथा नश्वर बातों से बचना चाहते हैं, यदि आप महसूस करना चाहते हैं कि आप मरणशील नहीं है, क्योंकि वे न केवल मानव आत्मा की हलचल के बारे में बताते हैं, बल्कि वे मानव आत्मा की गहराई तथा हर ब्यक्ति को छूने वाली करुणा से भी हमें परिचित कराते हैं"।[1]

राधाकृष्णन के उपरोक्त कथन से यह इंगित होता है कि उनका दर्शन कोरा चिंतन नही हैं, अपितु मानवीय जीवन से सम्बद्ध है। यह उस शाश्वत सत्य के स्वरुप का तार्किक विवेचन है, जिसे प्राप्त करने के लिए उन्होने शिक्षा को साधन के रुप मे परिभाषित किया और इस सन्दर्भ में एक ऐसी शिक्षा का समर्थन किया जो मनुष्य को उन्मुक्त करें, चरित्र का विकास करें, मुक्ति दें और विश्व बंधुत्व की ओर ले जाएं।

इस प्रकार राधाकृष्नन विश्व दर्शन के प्रणेता हैं, जिसका आधार धर्म, धार्मिक चेतना या अध्यात्म है। इसके अध्यात्मिक दृष्टिकोण को बनाये रखने के लिए उन्होंने शिक्षा व्यवस्था को आवश्यक माना है। इसलिए शिक्षा के आध्यमिक लक्ष्य को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि– "Education is incomplete if we do not endeavour the pupils with purpose. In our country, vimarsarupini, vidya, vidyaya amartomamuate. Enfranchisement of the mind, freedom from prejudices and fanaticism and courage are essential. Moral and spiritual training should be an essential part of education.[1]

स्पष्ट है कि राधाकृश्णन धार्मिक अध्यात्मवाद के पक्षपोषक है। उनका अखण्ड विश्वास है कि आध्यात्मिक आकांक्षाओं से युक्त मनुष्य जीवन को उचित दिशा दें सकता है, क्योंकि आध्यात्मिक जीवन मनुष्य को भीतर से रुपांतरित एवं आलोकित करता है। यह उस मंगल पीयूष की वृष्टि करता है जो शक्ति, आनंद, प्रकाश, शान्ति और उल्लास है। यह किसी बुद्धि की रचना नहीं हैं बल्कि एक अर्न्तदृष्टि एवं सहज बोध की अभिव्यक्ति है। आध्यतमिक पूर्णता शरीर, मस्तिष्क एवं आत्मा के विकास में है– "प्राणारामं मन आनन्दं शान्ति समृद्ध अमृतं।" अमृत अर्थात् अमरता प्राणारामं (महत्वपूर्ण जीवन के स्पंदन), मन आनन्द (मन की संतुष्टि) और शान्ति समृद्ध (आत्मा की शान्ति की प्रचुरता) से इसी जीवन में प्राप्तव्य है। इसे प्राप्त करने के लिए दूसरे लोक जाने की आवश्यकता नही है। हमारे धर्मशास्त्रों ने भी यह शिक्षा दी है कि "देह ही देवालय है" और इसके अस्तित्व के आंतरिक केन्द्र में पवित्र आत्मा अवस्थित है। इसलिए सभी धर्मशास्त्रों का एक मात्र प्रयोजन आत्मदर्शन है–सर्वशास्त्र प्रयोजन आत्मदर्शनं"। यह आत्मदर्शन या आत्मा का ज्ञान सत्य का सबसे उत्कृष्ट ज्ञान है, जो बाह्य वातावरण (भौतिक संसाधनों) से प्राप्त नहीं किया जा सकता। इसकी प्रतीति ज्ञान से होती है। इसलिए ज्ञान को अप्रतिम कहा गया है,–"ज्ञानेनाप्रतिमेन"[2]। भगवद्गीता में भी ज्ञान को पवित्र कहा गया है–"न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।" यह आत्म ज्ञान ही मोक्ष या मुक्ति है। इसलिए शंकराचार्य ने "सा विद्याया मुक्तयें" कहकर इसका लक्ष्य निर्धारित किया है और उपनिषदों ने 'सत्यं ज्ञानं अनन्तं ब्रम्ह' कहकर शिक्षा को आत्म ज्ञान या ब्रम्हज्ञान माना है। इस प्रकार "ज्ञान ही मनुष्य का तीसरा नेत्र है, जो

उसे समस्त तत्वों के मूल को समझने में समर्थ करता है तथा उसे सही कार्यों की ओर प्रवृत्त करता है।

विश्व के वर्तमान परिदृश्य का अवलोकन करते हुए राधाकृष्णन कहते है कि "यह आध्यात्मिक खोखलेपन, नैतिक भ्रामकता तथा सामाजिक अराजकता का युग है" 'An age of spiritual bankruptcy of ethical confusion and social chaos' क्योंकि औद्योगिक और तकनीकी क्षेत्र में बुद्धि के चतुर्दिक विकास एवं अप्रत्याशित सफलताओं के कारण पुरातन मूल्यों, नीति और अध्यात्म मे मानव का विश्वास सहज ही नष्ट हो गया है। जिसके कारण वह स्वयं को असुरक्षित और असहाय महसूस कर रहा है। यदि हमें अपने युग की चुनौती का सामना करना है, और इस संसार को ऐसे स्वर्ग में परिणित करना है, जहां मनुष्य स्वतंत्र होकर मेल–मिलाप और मैत्रीभाव से रह सके, तो यह आवश्यक है कि मनुष्य स्वयं विकसित हो और उन सभी ससाधनों का प्रयोग करें जो स्वयं को परिपूर्ण करने के उद्देश्य से हमें उपलब्ध कराए गए है।

इस प्रकार आज समस्त विश्व को आध्यात्मिक पुर्नजागरण की आवश्यकता है, क्योंकि वही विनष्ट होते मूल्यों को, विश्व को बचा सकता है। यह आध्यात्म से प्रेरित एक ऐसा धर्म है, जो जीवन को उसकी सोद्देश्यता प्रदान करेगा, जो हमसे किसी प्रकार के पलायन तथा द्वयर्थकता की अपेक्षा नही करेगा, जो जीवन के यथार्थ एवं आदर्श को समन्वित करेगा, जो जीवन की गहराइयों से हमारा आह्वान करेगा और हमें सम्पूर्णतः संतुष्ट करेगा।"

स्पष्ट है कि राधाकृष्णन जी दार्शनिक दृष्टि समन्वयात्मक, निर्माणात्मक और आध्यात्मिक है और उनका दर्शन मानव जीवन और उसकी समस्याओं से सम्बद्ध है। इसलिए मानवीय समस्याओं और उनके समाधानो पर साधिकार प्रकाश डालते हुए वे कहते हैं कि विश्व के समस्त रोगों का उपचार अध्यात्म एवं आध्यात्मिक जीवन है, क्योंकि यह आत्मिक ऐक्य और आत्मिक बोध का दर्शन है। इसके अभाव में मानव जाति की अर्न्तजात एकता को समझ पाना सम्भव नहीं है। इस एकता का ज्ञान ही पृथ्वी को भू–स्वर्ग बना सकता है।

विश्व बंधुत्व की भावना को शिक्षा के द्वारा सबल बनाया जा सकता है, क्योंकि शिक्षा मानव विचारों की जननी है। शिक्षा के अनुरुप ही हमारे अंदर विचारों का प्रवाह होता है। इसलिए पुस्तकीय ज्ञान अनुचित है, क्योंकि पुस्तकीय ज्ञान आध्यात्मिक बुद्धि को प्राप्त कराने में असमर्थ है। इसलिए उनकी दृष्टि में शिक्षा का संप्रत्यय अत्यधिक गहन, व्यापक और वैदिक संस्कृत से परिपूर्ण है। वैदिक ज्ञान सर्वोच्च आध्यात्मिक सत्यानुभूति का सूचक है। जिसे मनुष्य का मानस प्राप्त कर सकता है। इसलिए विवेकानन्द कहते हैं कि – "जिस शिक्षा से हम अपना जीवन निर्माण कर सकें, मनुष्य बन सकें, चरित्र गठन कर सकें और विचारों का सामंजस्य कर सकें, वही वास्तविक शिक्षा है।"

इस प्रकार शिक्षा एक सृजनात्मक एवं निर्माणकारी प्रक्रिया है जो मानव को उस दिव्य प्रकाश की ओर अग्रसर करती है, जिसके द्वारा आत्मानुभूति संभव होती है। इसके द्वारा संवेगों का प्रशिक्षण एवं आत्मा को प्रकाशित किया जाता है। अतः शिक्षा आत्मविकास का साधन है। इसलिए राधाकृष्णनन कहते हैं कि– "Education is not a discipline imposed from above on an apathetic its acquiescent nature. It is a process of leading up the in ward nature to its fulfilment. All the development is itself development."

स्पष्ट है कि राधाकृष्णनन भी गांधी जी की भांति मानव के तीन पक्षों–शरीर, मनस और आत्मा, को विकसित करने को ही शिक्षा की संज्ञा देते हैं, क्योंकि विज्ञान द्वारा हम यद्यपि परिवर्तन कर सकते

है, किन्तु जब तक हम आन्तरिक आवेगों में क्रांति नही लायेगें, तब तक यह सम्भव नही है, कि हम उच्च नैतिक एवं आध्यात्मिक अर्थात् चैतन्य जीवन के प्राणबिन्दु को प्राप्त कर सकें। इसलिए शिक्षा का कार्य मात्र बुद्धि का प्रशिक्षण करना या तकनीकी योग्य व्यक्तियों का निर्माण करना ही नहीं हैं, अपितु मनुष्य के हृदय में दया और अनुग्रह के भाव उत्पन्न करना भी हैं।

इसलिए यदि हमारे शिक्षित युवक अपने को वास्तव में शिक्षित समझना चाहते हैं, तो उन्हे अपने अंतस् में स्थित उस मुख्य अंश के प्रति चेतन होना चाहिये, जिससे शरीर, मस्तिष्क एवं बुद्धि का उदय होता हैं। इसलिए महर्षि अरविन्द कहते है कि "सच्ची शिक्षा वह है, जो मानव का आध्यात्मिक विकास करें।"[10] स्पष्ट है कि यदि हम आध्यात्मिक प्रशिक्षण को अपनी शिक्षण संस्थाओं से निकाल देते हैं तो हम अपनी ऐतिहासिक पृष्ठिभूमि के प्रति अन्याय करेगें क्योंकि–"India has believed that when one has done his duties as a Grahastha, a house holder, Has been a good father or mother, a provider for the family, a good citizen there is still the beauty and mystery of the universe, the meaning of life and death, the aspirations of the inner soul, that sad feeling of the wist full minded that beyond the world of positive knowledge there is a realm of forces unseen which can feel but never know complete."

अतः यदि हम आज जीवित हैं तो इसलिए नहीं कि हमने महान औद्योगिक उन्नति कर ली है, या हमने यांत्रिक प्रवीणता प्राप्त कर ली है, या हमारे पास प्रमाणु बम या– न्यूक्लियर बम है बल्कि इसलिए जीवित हैं क्योंकि आज भी ऐसे लोग मौजूद हैं, जो जन सामान्य को आध्यात्मिकता का रास्ता सुझाते हैं और उनका व्यवहार परमात्मा की इच्छानुसार है। ये ही लोग हमारे देश की वास्तविक संस्कृति या हमारी आध्यात्म विद्या का प्रतिनिधित्व करते हैं जो समस्त विज्ञानों में महानतम् विज्ञान है।

अन्ततोगत्वा हम देखते हैं कि राधाकृष्णनन का दर्शन एकाकी आत्मा की एकाकी सिद्धि नहीं बल्कि जीवन्त सत्य है। उनका दर्शन विश्व बंधुत्व, मानवता, विश्वचेतना तथा विश्व दर्शन की प्रेरणा से अनुगुंजित है, जिसे वह जनचेतन में प्रतिष्ठित एवं जनजीवन में चरितार्थ करना चाहते हैं। यह जीवन का, सत्य का, सौन्दर्य का, सार है। यह मानव जाति को अंधकार से प्रकाश की ओर ले जाने वाला धर्म, देश–काल, वर्ण की सीमाओं से मुक्त मनुष्यत्व का सत्य है, और शिक्षा का लक्ष्य इस सत्य को प्रस्फुटित करता है।

सन्दर्भ ग्रंथ

1. राधाकृष्णन, सत्य की खोज, सरस्वती विहार, 21 दयानंद मार्ग दरियागंज नई दिल्ली, संस्करण (प्रथम 1978, पृ0 44)
2. प्रेसीडेंट राधाकृष्णन स्पीचेज एण्ड राइटिंग्स,पब्लि.,डिवी.गवर्नमेंट ऑफ इण्डिया, 1965,पृ. 126।
3. ब्रम्हाण्ड पुराण, 1.4.15।
4. भगवत्गीता 4.38, गीता प्रेस, गोरखपुर प्रकाशन।
5. डॉ0लक्ष्मी सक्सेना, समकालीन भारतीय दर्शन,उ0प्र0हिन्दी संस्थान लखनऊ, संस्करण (पंचम) 2010, पृ0 182 से उद्धृत।
6. वही, पृ0 182।
7. श्रीमद्भावगत्, 3.29.21, गीता प्रेस, गोरखपुर।
8. विवेकानन्द संचयन, पृ0 184
9. रिपोर्ट,यूनिवर्सिटी,एजुकेशन कमीशन,1948–49,गवर्नमेंट ऑफ इण्डिया,प्रेस,शिमला,1950,पृ.43।
10. http://www.dspmuranchi.ac.in
11. द रिपोर्ट ऑफ यूनिवर्सिटी एजुकेशन कमीशन, गवर्नमेंट ऑफ इण्डिया, 1950, पृ0 299।

मूल्य शिक्षा एवं दर्शन

डॉ. देवदास साकेत
अतिथि विद्वान–दर्शन विभाग
अवधेश प्रताप सिंह विश्वविद्यालय, रीवा (म.प्र.)

दर्शन सत् ज्ञान का आधार है। उसी सत् के आधार पर व्यक्ति शिक्षित होकर मूल्यों को आत्मसात करता है। वस्तुतः आज का युग एक वैज्ञानिक युग है। व्यक्ति उसी युग की कल्पना करते हुए शिक्षा के विकास के विविध आयामों की ओर बढ़ रहा है। शिक्षा समाज को एक आईना प्रस्तुत करता है। उसी से व्यक्ति अपने व्यक्तित्व का विकास करता है। दर्शन मानव को यथार्थ चिन्तन के द्वारा शिक्षा और मूल्यों की ओर अग्रसर होता है। मूल्य मानव जीवन का एक आदर्श सूचक व्यावहारिक वातावरण निर्मित करता है। मूल्य हमेशा से शास्वत सत्य है। मानव मूल्यों पर आधारित शिक्षा व्यवस्था व्यक्ति को संस्कारवान बनाती है। किसी व्यक्ति की पहचान उसके सद्‌गुण पूर्ण आचरण से किया जाता है। आचरण ही मानव जीवन को सदाचारी बनाता है। उससे समाज में एक वैचारिक सामंजस्य और अच्छे आचरण की पहचान की जाती है। व्यक्ति प्राचीन काल से ही गुरुकुल शिक्षा परम्परा से दीक्षित होता रहा है। गुरुकुल परम्परा में शिष्य मूल्यों की शिक्षा को श्रुति परम्परा के आधार पर आत्मसात करता था। इन्हीं परम्पराओं से शिष्य अपने जीवन की दिशा तय करता था। मूल्य जीवन की दशा एवं दिशा को बाधित नहीं करता है बल्कि उसे उत्तरोत्तर विकास की ओर अग्रसर करता है। शिक्षा से समाज का बहुमुखी विकास होता है। दर्शन की चिन्तन परम्परा हमेशा से सत् के मूल्यों की ओर प्रेरित करती है।

रथः शरीरं पुरुषस्य राजन् नात्मा नियतेन्द्रियाण्यस्य चाश्वाः।
तैरप्रमत्तः कुशली सदश्वैर्दान्तैः सुखं याति रथीव धीरः।।[1]

मानव का यह स्थूल शरीर रथ की भाँति है, बुद्धि सारथि की तरह है और इन्द्रियाँ घोड़े के समान है। इन सभी को वश में रखने वाला हमेशा सावधान और चतुर धीर–गम्भीर होता है, जो इन्हें अपने वश में रखता है। जीवन की यात्रा में सुखपूर्वक यात्रा करता है। इसीलिए मूल्य शिक्षा हमेशा मानव के जीवन की दिशा को सुखपूर्वक चलने की ओर प्रेरित करता है। मानव मूल्य शिक्षा को आत्मसात कर नैतिक उद्देश्यों का पालन करता है।

वर्तमान परिदृश्य में नैतिक मूल्यों का क्षरण इस बात का प्रमाण है कि व्यक्ति अनैतिक हो रहा है। अनैतिक होने का मूल कारण यह है कि जीवन की उन सभी विधाओं में नैतिक मूल्यों के निर्धारण के सन्दर्भ में भौतिक आवश्यकता की असमर्थता मुख्य रूप से उभर कर सामने आती है। भौतिक आवश्यकताओं की सहायता के बिना जीवन–मूल्यों की प्राप्ति कदाचित् सम्भव नहीं है, किन्तु वह जीवन मूल्य है क्या? इसका निर्धारण भौतिकता के परिप्रेक्ष्य में नहीं किया जा सकता है। दूसरे शब्दों में वे आधुनिक भौतिक साधन तो उपलब्ध करा सकता है, किन्तु वह मानव जीवन के लक्ष्य या साध्य एवं नैतिक मूल्यों का निर्धारण नही कर सकता है, अपितु वह सहायक हो सकता है। इसके लिए मुख्य रूप से दर्शन की शरण में जाना पड़ता है। इस प्रकार केवल दार्शनिक चर्चा ही इस सम्बन्ध में कुछ अर्न्तदृष्टि प्रदान कर सकती है। नैतिक परम्परा व धर्म जो हमे जीवन दृष्टि और मूल्य प्रदान करती है। इन दृष्टिकोणों के आधार पर भौतिकवाद एक रूप से सार्थक नही हो सकता है। यदि उसे दार्शनिक

चिन्तन से विलग हो जाता है तो वह विध्वंसकारी बन जाता है। यदि हम एक प्रकार से देखे तो दार्शनिक दृष्टि से अनुभव में वे गुमराह हो सकता है। उसे अंधविश्वास एवं कट्टरता या मतांधता की तरफ ले जाता है। इस संसार में चारों दिशाओं की ओर दिखलाई पड़ने वाली अराजकता, संकीर्णता, आतंकवाद, नक्शलवाद आदि वस्तुतः शिक्षा के दार्शनिक चिन्तन से विमुख होने के कारण हो रहा है। इसलिए जीवन मूल्यों के निर्धारण में एक सतत् व मुख्य रूप से सतर्क दार्शनिक चिन्तन की दृष्टि अपरिहार्य है।

सुखार्थिनाः कुतो विद्या नास्ति विद्यार्थिनः सुखम्।
सुखार्थी वा त्यजेद् विद्यां विद्यार्थी वा त्यजेत् सुखम्।।[8]

सुख चाहने वाले को विद्या नहीं मिलती है। विद्या प्राप्त करने वाले को सुख नहीं मिलता है। अर्थात् सुख को चाहने वाले व्यक्ति को विद्या का त्याग कर देना चाहिए और विद्या प्राप्त करने वाले व्यक्ति को सुखों का पूर्णतः त्याग कर देना चाहिए।

मूल्य शिक्षा मानव को सत्य, विनम्रता के भाव, शास्त्र का ज्ञान, विद्या, कुलीनता, शील, शक्ति, धन–धान्य, वीरता और चमत्कारपूर्ण विशेषताओं के आधार पर दस स्वर्ग के साधन से परिपूर्ण किया गया है। इसके बाद भी मानव मूल्यों की शिक्षा से भटकता जा रहा है। उसे यह अवश्य पता है कि मूल्य शिक्षा विहीन व्यक्ति पशु के समान है। मानव में पशुता के भाव से निवृत्ति के लिए मूल्यों की शिक्षा को आत्मसात करना आवश्यक होता है। यदि व्यक्ति मूल्योंन्मुखी शिक्षा की ओर अग्रसर होता है तो नई शिक्षा नीति को उसी आधार पर सकारात्मक दृष्टिकोण प्रदान करेगा। इससे नई शिक्षा नीति अधिक मजबूत होगी और समाज में एक सुखद संदेश जायेगा। लोगों में नई शिक्षा नीति की विशेषताओं से परिचित होकर बच्चों और युवाओं को प्रोत्साहन मिलेगा।

इस सन्दर्भ में इमैनुअल काण्ट का कहना है कि वैज्ञानिक प्रगति जब अपने आपको सर्वोपरि मानने लगती है। तब जीवन के दूसरे पक्षों मे या धर्म और नैतिकता की मूलभूत मान्यताओं पर पूरी तरह से कुठाराघात किया जाता है। इससे हमारे अन्दर गहरे असंतोष का जन्म होता है। इसी कारण इमैनुअल काण्ट धर्म और नैतिकता को सुरक्षित रखने के लिए विशिष्ट क्षेत्रों में आस्था को विशेष स्थान प्रदान किया है। इस आधार पर यदि नई शिक्षा नीति प्राचीन भारतीय परम्परा के अलोक में अग्रसर होती है तो निश्चित रूप से यह सफल होगी, क्योंकि नैतिक मूल्य पर आधारित शिक्षा व्यवस्था सम्पूर्ण राष्ट्र के लिए आवश्यक है।

नई शिक्षा नीति वस्तुतः एक प्रकार से बहुआयामी प्रतिभा को उजागर करने की मंशा से लागू किया गया है। नई शिक्षा नीति का लागू होना समय की आवश्यकता और माँग दोनों है, किन्तु इसमें पहले नैतिक शिक्षा का होना आवश्यक है। इसके साथ काम शिक्षा के प्रति जागरूकता विषय पाठ्यक्रम का होना सबसे ज्यादा जरूरी लगता है।

जीवन में मूल्य चिन्तन का अत्यधिक महत्व है। मानव का जैसा विचार होगा, वह वैसा ही अपना जीवन व्यतीत करता है। उसी प्रकार से प्रत्येक व्यक्ति को सद्गुणपूर्ण चिन्तन करना चाहिए। उसके विचार स्वमेव अच्छा बनने लगेगा। यदि किसी व्यक्ति में अकारण बुरे विचार आने लगते हैं। उसके चिन्तन बुरे कर्मों की ओर बढ़ने लगता है। अच्छी शिक्षा हमेशा बुरे विचारों को जड़ से उखाड़ फेंकती है। इसीलिए मानव को दुर्गुणों को छोड़कर अच्छे आचरण की शिक्षा को धारण करना चाहिए।[9] मानव के आन्तरिक मन में यह धारणा रही है कि वासना में लिप्त होने वाला व्यक्ति आचरण हीन या अनैतिक है। यह एक जीवन उत्पत्ति की प्रक्रिया है तो इसे हम अनैतिक क्यों और कैसे माने? इन

समस्याओं का समाधान तो नहीं किया जा सकता है। इसमें अंकुश, कानून व्यवस्था और फाँसी जैसी सजा होने के बाद भी लोगों में डर का भाव नहीं है तो इसे क्या कहा जाय? जब इन समस्याओं का समाधान कानून व्यवस्था नहीं कर पा रही है और उसके बारे में चुप रहना भी एक प्रकार का अन्याय है। इसीलिए यह शिक्षा व्यवस्था का एक अंग यदि बनता है तो मुख्य रूप से आज की नई पीढ़ी को सजग और मूल्योन्मुखी बनाने में सहायक सिद्ध होगी।

यदि व्यक्ति इन कृत्यों को करने से पहले अपने जीवन मूल्यों की सार्थकता को यदि समझता है। इससे बड़ी उपलब्धि कुछ नहीं होगी।

दर्शन में इसके सृजन के लिए कोई–न–कोई दार्शनिक दृष्टि हमेशा से रही है। इन मूल्यों के कलात्मक विकास में समय–समय पर अमूल परिवर्तन हुए है।[4]

सच्चाई तो यह है कि आचार्य शंकर, रामकृष्ण परमहंश, स्वामी विवेकानन्द, महर्षि रमण, तुलसी, नानक, कबीर, रैदास, गाँधी और इकबाल या अन्य दार्शनिकों का चिन्तन रहा हो। इन सभी दार्शनिकों ने समाज को एक नई शिक्षा प्रदान की है। समय के बदलते स्वरूपों में दर्शन शिक्षा के मापदण्ड को पूरा किया है। शिक्षा को लागू करने की प्रवृत्ति तो सुखद है किन्तु और शिक्षक में योग्यता समान किन्तु वेतन असमान एक बहुत बड़ी दुविधा का कारण है। कोई भी देश विकास तब तक नहीं करता है। जब तक शिक्षक में समानता का भाव विद्यमान न हो। शिक्षक का असमान वेतन निर्धारण क्लेश, दुःख, ग्लानि का कारण है। उसमें इस प्रकार की शिक्षा व्यवस्था को मानव मूल्यों से जोड़ने पर विशेष बल देना चाहिए।

दर्शन वैज्ञानिक तकनीकि की भाँति भौतिकतावादी संवृत्ति में मदद नहीं करता है, किन्तु वह जीवन की परोक्ष और व्यावहारिक उपयोगिता की ओर मदद करता है। इसी कड़ी में दर्शन हमारे राजनीति, सामाजिक और आर्थिक परिदृश्यों को भी प्रभावित करता है। इस दृष्टि से नैतिक शिक्षा और दर्शन की प्रासंगिकता से इंकार नहीं किया जा सकता है।

किसी व्यक्ति का किसी के द्वारा केवल साधन के रूप में उपयोग नहीं किया जा सकता, क्योंकि व्यक्ति किसी विशेष राज्य का पुर्जा मात्र नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति के कुछ न कुछ मौलिक अधिकार है। सलीकेदार प्रचलित होने वाले मौलिक विचार समाज में जन जीवन को अत्यधिक प्रभावशील बनाते हैं। यह सब मौलिक रूप से दार्शनिक चिन्तन की उपज है।

सुख की इच्छा रखना मानव की मूल प्रवृत्तियों में से एक है। सामान्य रूप से हम उस किसी भी चीज को मूल्यवान नहीं स्वीकार करते हैं, जिससे किसी न किसी रूप में सुख की प्राप्ति का कोई योगदान न हो। इस प्रकार से अथाह धन सम्पत्ति, सुख सुविधाएँ बेकार होती है। यदि वह हमें सुख प्रदान न करें। दर्शन वस्तुतः किसी के लाभ की दृष्टि से नहीं बल्कि अपने आप में मूल्य प्रदान करता है।

आयुः कर्म च वित्तं च विद्या निधनमेव च।
पंचैतानि हि सृज्यन्ते गर्भस्थस्यैव देहिनः।[5]

सभी प्राणियों की आयु जीवन के साथ ही प्रारम्भ होती है। उसी प्रकार से घी का सेवन करने से आयु में वृद्धि होती है और शराब जैसे पदार्थों के उपयोग से आयु क्षीण होने लगती है। इस प्रकार इस संसार में हानिकारक पदार्थों के सेवन से कोई भी ऐसी औषधि नहीं है जिससे बचाया जा सके। तो समझ लेना कि आयु की अवधि निश्चित हो गई है। पूर्व कर्मों के पुण्यों के आधार पर मानव को धन की प्राप्ति सम्भव है। इसका यह भी तात्पर्य नहीं कि धन के लिए परिश्रम करना बेकार है, क्योंकि

कर्त्तव्यों के आधार पर धन प्राप्त करने के लौकिक साधनों को निश्चित किया गया है। जब अन्त में धन हेतु परिश्रम करने के बाद भी नहीं मिलता तो उसे पूर्वजन्मों पर आधारित कर्म मान लिया जाता है। उसी प्रकार से विद्या रूपी अनमोल धन परिश्रम करने के उपरान्त ही मिलता है। विद्या के अनुरूप ही बुद्धि का विकास होता है। जब इसके बाद भी विद्या नहीं मिलती तो मान लिया जाता है कि पूर्व जन्म के कर्मों में कमी थी। इसके साथ–साथ मानव अपने भाग्य का निर्माता स्वयं होता है। यहीं तक कहा जाता है कि प्रतिकूल स्थिति में भी परिश्रम करने पर ज्ञान अर्जन किया जा सकता है। इसलिए मानव को अपने पुरुषार्थ का वरण करते हुए विद्या और धन का उपार्जन करना चाहिए।

काकचेष्टा बकोध्यानं वननिद्रा तथैव च।
अल्पाहारी गृहत्यागी विद्यार्थीपंच लक्षणम्।।[6]

विद्यार्थी के गुणों का वर्णन किया गया है कितने तप के बाद विद्यार्थी शिक्षा में निपुण होता है। इस प्रकार का का चिन्तन जरूर नई शिक्षा नीति को सफल बनायेगा जिसमें कौए की तरह चेष्टा करने वाला, बगुले की तरह ध्यान रखने वाला, कुत्ते की तरह सोने वाला, कम मात्रा में भोजन करने वाले और अपने गृह निवास को त्यागकर अन्य स्थानों में विद्या अध्ययन करने वाले विद्यार्थियों के ये पाँच लक्षण बताये गये है।[7] जो सफलता के द्वार है।

सन्दर्भ :–

1. विदुर नीति, गीता प्रेस गोरखपुर, 2/59, पृष्ठ 54
2. विदुर नीति, गीता प्रेस गोरखपुर, 8/6, पृष्ठ 137
3. विदुर नीति, गीता प्रेस गोरखपुर, 3/59 पृष्ठ 72
4. डॉ. भीमराज शर्मा 'शास्त्री' संस्कृत साहित्य मे नैतिक–शिक्षा एवं राष्ट्रीय–चेतना, राष्ट्रीय संस्कृत साहित्य केन्द्र, जयपुर, संस्करण 2008, पृष्ठ 12
5. रामधारी सिंह दिनकर, संस्कृति के चार अध्याय, केदारनाथ सिंह, उदयाचल, राष्ट्रकवि दिनकर पथ, राजेन्द्र नगर, पटना, 1993, पृष्ठ 552
6. डॉ. गुंजेश्वर चौधरी, चाणक्य नीति दर्पण, राजनीतिसमुच्चय, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी, 2016, श्लोक 4/1, पृष्ठ 40
7. डॉ. गुंजेश्वर चौधरी, चाणक्यनीतिदर्पण, राजनीतिसमुच्चय, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी, 2016, पृष्ठ 83

New Education Policy 2020: A mirror image of Aurbindo's Education Philosophy

Dr.Shama.A.Baig
(MA Philosophy)
Assistant Professor,
Department of Microbiology,
Swami Shri Swaroopanand Saraswati Mahavidyalaya,
Aamdi Nagar, Hudco, Bhilai,
C.G Affiliation: Durg University

ABSTRACT: Education system is the backbone of any country for its prosperity. Education is the movement from darkness to light, to replace empty mind with an open one. The structure and implementation of a country's education system shapes the future generation and is thus land mark of its development. The foundation of every country is the education of its youth. Education Policy gives a society a concrete system to help youth for building their career and be successful. Lord Thomas Babington Macaulay introduced English education in India in the 19th century. Though after independence, the country revealed on a major exercise of sharing up its educational infrastructure with the establishment of universities and research centre, the framework of colonial educational system was not tinkered. This put in place an educational system which was not in tune with the consciousness of a resurgent nation trying to create a place for itself in the community of nations. Sri Aurobindo had stressed upon the need for the creation of an educational system which would liberate the Indian mind from the shackles of the western paradigm of thought. The two major policy initiatives in 1968 and 1986 to review and revise the educational policy of India remained within the paradigm of the Western philosophy of education. The new education policy 2020 marks a departure from this colonial tradition by making mainstream the aspirations of a new and resilient India. The philosophy of Sri Aurobindo Ghosh is relevant to the India which needs to seek overall development of a child in all the spheres, reasoning ability, moral independence etc. Our educators create the future, hence they should think and act globally and implement and learn locally. Thus, New Education Policy 2020 is A mirror image of Arubindo's Education Philosophy which is discussed.

INTRODUCTION: The NEP is a policy formulated by Government of India to promote and regulate education in India. The policy covers elementary education to higher education in both rural and urban India. The first NPE was promulgated by the Government of India by Prime Minister Indira Gandhi in 1968, the second by Prime Minister Rajiv Gandhi in 1986, and the third by Prime Minister Narendra Modi in 2020.New Education Policy 2020 brings about several major reforms in education in India. Among the major reforms, the 10+2 structure in the schooling system has been replaced by a 5+3+3+4 structure. It will include 12 years of schooling and three years of Aanganwadi and pre-schooling.

Sri Aurobindo had stressed upon the need for the creation of an educational system which would liberate the Indian mind from the shackles of the western paradigm of thought. The two major policy initiatives in 1968 and 1986 to review and revise the educational

policy of India remained within the paradigm of the Western philosophy of education. The new education policy marks a departure from this colonial tradition by making mainstream the aspirations of a new and resilient India.

Sri Aurobindo made a five-fold classification of human nature i.e. the physical, the mental, the psychic and the spiritual, corresponding to five aspects of education- physical education, vital education, mental education, psychic education and spiritual or super mental education. He suggested integrated curriculum for students which include activities, experiences, and subjects. Activity, observation and learning by doing Is what leads to self discovery rather than learning. Also teachers should be the light to show the path, which a student has to cover by himself.His educational philosophy holds key to improving our present education system. Decreased morality, low cognitive abilities among students needs urgent reforms. All round development which Aurobindo suggested with focus on vocational education, creativity, compulsory education from 6-14 years, stress on both science and humanities with spiritual education will inculcate values in students with improved cognitive abilities.

OBJECTIVES OF NEP 2020: The effectiveness of any educational policy depends primarily on its ability to address the basic objectives of education and the needs of the community and the nation. Till now, education stood on its head; the NEP 2020 seeks to plant it on its feet i.e., it gives up being producer-of-information-centric and centers upon the learner instead. NEP 2020 aims to provide infrastructure support, innovative education centers to bring back dropouts into the mainstream besides tracking of students and their learning levels, facilitating multiple pathways to learning involving both formal and non-formal education modes and association of counselors or well-trained. New Education Policy 2020 Highlights: Key takeaways of NEP to make India a 'global knowledge superpower' New Education Policy 2020 Highlights. There are seven salient features or objectives of the announced National education policy apart from what is clearly evident in its documentation and which are in perfect harmony with Government's previous initiatives since 2014. The NEP 2020 announced by Ministry of Education, is a welcome move for the countrymen. It emphasizes on holistic multidisciplinary education for future nation's stakeholders. There are Seven Salient Objectives of the announced National education policy apart from what is clearly evident in its documentation and which are in perfect harmony with Government's previous initiatives since 2014.

1. Self - Reliant India
2. Sustainable development goals
3. Education as Economy booster
4. Internationalization of Higher Education
5. Digitalized pedagogy and classrooms
6. A layered Accreditation system
7. Equipping teachers with latest Technology and Education Methodology

ARUBINDO'S PHILOSOPHY OF EDUCATION: Sri Aurobindo, an educationist, a political activist, philosopher, yogi, and spiritualist has laid ideas on education which are relevant in modern education system. His educational philosophy is aimed at the overall development of body, mind and the soul. Sri Aurobindo's ideas on education are as follows:

1. **Human nature:** He classified human nature in to the physical, the mental, the psychic and the spiritual, corresponding to five aspects of education- physical education, spiritual education, vital education, psychic education and mental education.
2. **Spiritual development:** He aimed at development of latent powers of the child and developing him spiritually.
3. **Yoga:** He taught about the integration of inner self to the supreme through yoga.
4. **All round development:** He wanted all round development of every individual. His curriculum included subjects like science, mathematics, reading, writing, philosophy, etc, along with development of spiritual experiences.
5. **Teacher as a guide:** Teachers should only guide students and the latter should learn through activities and self discovery.
6. **Rejection of fear:** He discarded punishments and fear inducing tactics in teaching.

Sri Aurobindo wanted to prepare an individual for his future life. He gave importance to national integration, international integration, value education and formal and non-formal programs in rural and unorganized sector. The Scandinavian countries like Finland have a concept of "phenomenon-based learning" which has many similarities with Sri Aurobindo's ideas. India is far behind regarding educational concept and ideas of Arubindo's philosophy which can change the Indian education scenario.

CONCEPT OF ARUBINDO'S EDUCATION PHILOSOPHY AND NEP 2020: Aurobindo's Philosophy of Education is based on an experienced integration and the salientt phases of his education philosophy have been inculcated in NEP 2020, which are explained below:

1. Awakening of the individual as spiritual being which is the guiding principle of Shri Aurobindo's education philosophy.
2. Fivefold classification of human nature: He led five criteria i.e. The Physical, Mental, Psychic, Spiritual and Vital nature of human being which corresponds to five aspects of education that is physical, vital, mental, psychic and spiritual or super mental education.
3. Integrated Curriculum as an educationist he stresses to philosophy of integrated curriculum for the students which includes activities subjects and spiritual experiences all in a unifying hole.
4. Activity method - it was the first to suggest activity method for teaching observation self discovery discussion method learning by doing and self experience.

The relevance of Aurobindo's Education Philosophy for the present India: This theory was given in 1937 and yet it is relevant in respect of all round development of a child and the NEP 2020 is the mirror image of Aurobindo's education philosophy. Compulsory education at least up to age of 6-14 years, lifelong and continuous education, vocational education, study of science and technology, literature should be contributed in the education system which has given place in NEP 2020. He viewed for preference to national and international integration, value education and non formal progress for rural and unorganized sector which helps in providing self and rural employment. Hence the education philosophy of Shri Aurobindo's is a synthesis of Idealism, Realism, Pragmatism and Spiritualism which

is seen as a mirror image incorporated in NEP-2020. This education philosophy is relevant for the overall development of a child in all spheres like reasoning ability moral independence which is key point for progression of India.

CONCLUSION: Indian educational institutions must move away from subject-oriented learning and adopt his methods to improve overall development of students in every sphere. Sri Aurobindo had stressed upon the need for the creation of an educational system which would liberate the Indian mind from the shackles of the western paradigm of thought. The new education policy marks a departure from this colonial tradition by making mainstream the aspirations of a new and resilient India. Sri Aurobindo's thoughts on life in general and on education in particular are not merely important to teachers or students but they are equally important to parents, academic administrators and to the society at large. Sri Aurobindo's thoughts on education focus upon the essence of the human mind, the training of the senses, and development of the mental and intellectual capacities. His thoughts emphasize upon the development of the pupils by giving them freedom to realize what is within.

The need of the hour is to help the students to grasp the essence of the capacities within. It is therefore essential to train educational administrators to understand the purpose of the same. His educational philosophy holds key to improving our present education system. Decreased morality, low cognitive abilities among students needs urgent reforms. All round development which Aurobindo suggested with focus on vocational education, creativity, compulsory education from 6-14 years, stress on both science and humanities with spiritual education will inculcate values in students with improved cognitive abilities. Though Sri Aurobindo given this philosophy of education in the earliest decades of twentieth century, it is relevant today's modern era and education system also. He given the importance of one in all round development- intellectual knowledge, develop the spirituality, increase the curiosity in science & technology , self-development which is relevant and essentials for today also. The main aim of his philosophical education is to prepare oneself for future who will be ready for any unforeseen circumstances. Though the idea was propagated earliest twentieth century it will always relevant for modern society and education system.

ACKNOWLEDGEMENT: My heartful thanks to my mentor and guide Dr. H. S. Alreja, Assistant Professor, Department of Philosophy, Govt. Digvijay College, Rajnandgaon, C.G., for his support and valuable suggestions and guidance without which this paper was not possible.

REFERENCES:

1. Aurobindo, S. (1995). Bande mataram (p. 132). Sri Aurobindo Ashram.
2. Aurobindo, S. (1950). The ideal of the karmayogin (Volume 2). Sri Aurobindo Ashram.
3. Gupta, A. (2008). Tracing global-local transitions within early childhood curriculum and practice in India. Research in Comparative and International Education, 3(3), 266-280.
4. Pani, R. (1987). Integral education: Thought and practice. Ashish Publishing House.
5. National Policy of Education (1986). New Delhi: MHRD, Government of India.
6. National Policy of Education (2020). New Delhi: MHRD, Government of India.

अष्टांग योग द्वारा युवा वर्ग मे स्वस्थ मानसिकता का विकास

स्वाति त्रिपाठी
एम.ए. योग
योग एवं चेतना केन्द्र
अवधेश प्रताप सिंह विश्वविद्यालय, रीवा

योग का मुख्य उद्देश्य मानव मात्र का कल्याण करना है। मानव मात्र के कल्याणार्थ ही महर्षि पतंजलि ने इसे योगसूत्र के रूप में ग्रन्थबद्ध किया, जिससे इसका लाभ वर्तमान एवं भावी जनसमुदाय को मिल सके। वास्तव में योग न सिर्फ वैयक्तिक उत्थान की दृष्टि से बल्कि समाज की संरचनात्मक विकास के लिए भी अतिमहत्वपूर्ण है। इसके पालन से समाज अनुशासित एवं सुव्यवस्थित होता है। एक अनुशासित एवं सुव्यवस्थित सभ्य समाज में ही व्यक्ति यौगिक क्रियाओं का अनुष्ठान कर सकता है, अन्यथा नहीं। ऐसा इसलिए है, क्योंकि जब समाज में ही अशांति और अव्यवस्था रहेगी तो उसमें रहने वाला मानव भी कहाँ तक शांत रहकर एकाग्र हो सकता है और बिना शान्त एवं एकाग्र चित्त के योग का अनुष्ठान संभव ही नहीं है। इसीलिए महर्षि पतंजलि ने अष्टांग योग के प्रथम एवं द्वितीय अंग अर्थात् यम और नियम के पालन पर बल दिया है। इसके पालन से जहाँ एक ओर व्यक्ति में नैतिक मूल्यों की वृद्धि होती है वहीं दूसरी ओर समाज भी सुव्यवस्थित और अनुशासित रहता है, जिससे विश्वशान्ति एवं विश्व कल्याण का मार्ग स्वतः प्रशस्त होता है।

महर्षि पतंजलि ने योगसूत्र में योग के सिद्धान्तों का वर्णन कर मानव मात्र के लिए परम कल्याणकारी कार्य सम्पादित किया है। योगसूत्र प्रचलित षड्दर्शनों में सबसे प्राचीन माना जाता है। उसमें किसी अन्य दार्शनिक मत का उल्लेख या खण्डन नहीं है, वरन् केवल अपने पक्ष के सिद्धान्तों को प्रमाणित करने के लिए शंकाओं का समाधान किया गया है। योगसूत्र के अनुसार अभ्यास और वैराग्य पूर्वक चित्तवृत्ति का निरोध करना ही मोक्षोपकारक योग है। चित्तवृत्ति निरोध का अर्थ है – मन में एक ही ज्ञान को उदित रखकर अन्य सभी ज्ञानों का निरोध (सम्प्रज्ञात) अथवा सर्वव्यावहारिक ज्ञानों का (निद्राज्ञान का भी) निरोध (असम्प्रज्ञात)। अभ्यास का अर्थ है – पुनः–पुनः चेष्टा करना। अतएव बार–बार चेष्टा और इच्छापूर्वक जो चित्तवृत्ति निरोध है, वही योग कहलाता है। इसी क्रम में योग सिद्धि अथवा समाधि हेतु महर्षि पतंजलि ने अष्टांग योग का वर्णन अपने योगसूत्र में किया है। प्रस्तुत शोध आलेख में अष्टांग योग द्वारा युवावर्ग में स्वस्थ्य मानसिकता के विकास को रेखांकित करना मुख्य प्रयोजन है।

WHO के अनुसार समग्र स्वास्थ्य की परिभाषा कुछ इस प्रकार दी गई है। इसके अनुसार स्वस्थ सिर्फ रोग का न होना या आवश्यकता मात्र नहीं, बल्कि पूर्ण शारीरिक, मानसिक और सामाजिक स्वास्थ्य की स्थिति है। विगत वर्षो मे इस परिभाषा का भी विस्तार हुआ है, जिसमे सामाजिक एवं आर्थिक रूप से गुणकारी जीवन व्यतीत करने की क्षमता को सम्मिलित किया गया है। इस परिभाषा को पुनः संशोधित करते हुये कहा गया कि समग्र स्वास्थ्य वह है जिसमे शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक, सामाजिक एवं आध्यात्मिक स्वास्थ्य भी शामिल है। आयुर्वेद मे सुश्रुत के अनुसार स्वास्थ्य की परिभाषा इस प्रकार है–

समदोषः समाग्निश्च समधातु मलक्रियाः।[1]
प्रसन्नात्मेन्द्रिय स्वस्थः इत्यभिधीयते।।

अर्थात जिस व्यक्ति के दोष (वात, पित्त, कफ) समान हो, अग्नि सम हो, सात धातुएँ भी सम हो तथा मल भी सम हो, शरीर की सभी क्रियाएँ समान क्रिया करें, इसके अलावा मन, सभी इंद्रियाँ तथा आत्मा प्रसन्न हो, वह मनुष्य स्वस्थ कहलाता है। सम का तात्पर्य है– संतुलित। उपरोक्त परिभाषा मे यदि हम सिर्फ इसके मानसिक यानी mental aspect को देखें तो यह स्वस्थ का एक अत्यंत महत्वपूर्ण पहलू बन गया है। WHO की तमचवतज को माने तो भारत अवसाद या depression और अन्य मानसिक विकारों के मामले मे दुनिया के अग्रणी देशो मे से एक है। यहाँ तकरीबन 36% युवा मानसिक विकारों से ग्रस्त हैं। मानसिक विकार जैसे– अवसाद, चिंता, तनाव, hypertension, schizophrenia, bipolardisorder इत्यादि है। आज का युवा इन मानसिक विकारों की बेड़ियों मे जकड़ा हुआ है, फलस्वरूप वह borderline sucidial tendency vkRegR;k ;k major sucidial tendency, self inflicting behavior इत्यादि जैसे कदम लेने के लिए बाध्य हो जाता है। WHO के अनुसार मानसिक स्वास्थ्य या mental health, "वह सलामती की स्थिति है, जिसमे किसी व्यक्ति को अपनी क्षमताओं का एहसास रहता है, वह जीवन के सामान्य तनावों का सामना कर सकता है, लाभकारी और उपयोगी रूप से काम कर सकता है और अपने समाज के प्रति योगदान करने मे सक्षम होता है।" – आजकल के युवा वर्ग मे बढ़ती हुई technological dependency, deteriorating lifestyle का कारण धूम्रपान, तंबाकू, शराब इत्यादि का सेवन ही है। इनके फलस्वरूप मानसिक विकार depression, anxiety आदि होते हैं। उपरोक्त मानसिक विकारों का, दिन प्रतिदिन बढ़ते हुए आंकड़ो के कारण युवाओं मे मानसिक स्वास्थ्य का विकास एक अहम सामाजिक ज़िम्मेदारी बन गयी है। युवाओं मे मानसिक अस्वस्थता को बढ़ते देख, मानसिक स्वास्थ्य को बढ़ावा देने और साथ ही मानसिक रोगों के निवारण और उपचार की संभावनाओं पर ध्यान केन्द्रित किया गया है। इस प्रकार मानसिक स्वास्थ्य का संबंध, नियमित दिनचर्या, दिन प्रतिदिन की आदतें, एवं व्यवहार से जुड़ा हुआ है। जिससे जीवन की गुणवत्ता का मूल प्रभावित होता है। इस कड़ी मे यदि हम अपने प्राचीन इतिहास के ग्रंथो मे से एक, योगदर्शन पर गौर करें तो वहाँ भी मानसिक स्वास्थ्य पर बात की गई है। यहाँ इसे चित्त की वृत्तियों के उल्लेख द्वारा बताया है।

योगश्चित्तवृत्ति निरोधः ।।[4]

अर्थात चित्त की वृत्तियों का निरोध करना ही योग है। जहाँ सांख्य दर्शन विद्या द्वारा अविद्या की निवृत्ति पर जोर देता है, वही योग दर्शन इस हेतु क्रियात्मक प्रयत्न पर अधिक महत्व देता है। चित्तवृत्तियाँ जो आत्मा पर आवरण डाले पड़ी रहती हैं सहज ही आत्मा से दूर नही होती। इस हेतु मनुष्य को शारीरिक व मानसिक प्रयत्न करना आवश्यक होता है। इसे ही योग दर्शन में अष्टांग मार्ग के नाम से जाना जाता है जो योगदर्शन के साधनपाद में सूत्र क्र.–28 में उल्लेखित है। महर्षि पतंजलि जो योगदर्शन के प्रणेता है ने कहा कि लक्ष्य को प्राप्त करने के लिये, अभ्यास एवं वैराग्य का अनुसरण करते हुए साधना द्वारा ही अग्रसर हुआ जा सकता है। यहाँ लक्ष्य, को योग या मानसिक स्वास्थ्य से संबंधित किया जा सकता है। ये अष्टांग योग, इन्ही चरणों का उल्लेख करता है जैसे– यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहर, धारणा, ध्यान और समाधि इनमें से प्रथम पाँच बहिरंग साधन एवं अंतिम तीन– धारणा, ध्यान एवं सामाधि अंतरंग साधन कहे जाते है।

1. यमः– यम का अर्थ है– 'नियन्त्रण या संयम'। नियन्त्रण मन, वचन, एवं कर्म तीनों पर हो। यमों का पालन इसे सम्भव बनाता है। यम पाँच प्रकार के हैः अहिंसा, सत्य, असतेय, ब्रम्हचर्य एवं अपरिग्रह।

अहिंसाः–मन, वचन, कर्म से किसी प्राणी को कष्ट न पहुँचाना।

सत्यः–यथावत् कहना तथा वैसा ही व्यवहार करना।

अस्तेयः–मन, वचन, कर्म से चोरी न करना।

ब्रम्हचर्यः–इन्द्रियों पर संयम रखते हुए विषय वासना से बचना ब्रम्हचर्य है

अपरिग्रहः–अनावश्यक रूप से वस्तुओं का संग्रह न करना अपरिग्रह कहलाता है। इन यमों का निषेधात्मक महत्व अधिक है। इन्हें महाव्रत कहा गया है।

2. **नियमः**– यम की भाँति नियम भी 5 बताए गए है– शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय तथा ईश्वर प्रणिधान।

शौचः– इसका अर्थ है– शुद्धि अथवा सफाई। यह शुद्धि मन और शरीर दोनो की हो।

सन्तोषः– सब प्रकार की तृष्णा का त्याग कर उचित प्रयत्न के बाद जो फल मिले, उसे प्रसन्नतापूर्वक ग्रहण करना सन्तोष है।

तपः– उचित रीति और अभ्यास से शरीर तथा मन को सभी प्रकार के द्वन्दों यथा सर्दी, गर्मी, हर्ष–विषाद को सहन करने योग्य बनाना तप है।

स्वाध्यायः– वेद, उपनिषद् आदि धर्मग्रन्थों का नियमपूर्वक अध्ययन करना स्वध्याय है।

ईश्वर प्रणिधानः– ईश्वर में ध्यान लगाना तथा स्वयं को पूर्णतः उस पर आश्रित एवं समर्पित कर देना है।

3. **आसनः**– आसन का अर्थ है– बैठना।

पतंजलि कहते है–

स्थिर सुखमासनम्।।[7]

अर्थात् जिस स्थिति में हम स्थिरतापूर्वक, बिना हिले–डुले और सुख के साथ, बिना कष्ट के दीर्घकाल तक बैठ सकें, वह आसन है हठयोग में आसन के अनेक प्रकार बताए गए है। पद्मासन, सिद्धासन, शीर्षासन आदि। वैसे तो ये आसन शारीरिक विकास मे सहायक हैं, परन्तु इनका मुख्य उद्देश्य, ध्यान में सहायक होना है। पतंजलि कहते हैं, आसन से द्वन्दों को चोट नही लगती। इस प्रकार ये ध्यान में सहायक है।

4. **प्राणायामः**–उचित आसन में स्थिर होने के पश्चात योग दर्शन मे प्राणायाम का निर्देश दिया गया है। महर्षि पतंजलि कहते हैं–

"श्वास प्रश्वास की स्वाभाविक गति को रोकना ही प्राणायाम है।"[8]

पतंजलि ने प्राणायाम के 3 भेद बताए हैं–

1. पूरक 2. रेचक 3. कुम्भक

श्वास को भीतर खींचकर रोकना। भीतर की वायु को बाहर निकालकर बाहर रोक देना रेचक है। बिना पूरक और रेचक किये श्वास प्रश्वास की गति को रोकना।

वैसे तो प्राणायाम के अनेक लाभ हैं, जैसे हृदय एवं आन्तरिक अंगों को शक्ति मिलना, चंचल मन का नियन्त्रण एवं शारीरिक स्थिरिता, किन्तु इसका सबसे बड़ा लाभ यह है कि इससे विवेक ज्ञान जागृत होता है, जिससे चित्त के मल धुलकर, ज्ञान प्रकाश की प्राप्ति होती है।

5. **प्रत्याहारः**– प्रत्याहारका अर्थ है– पीछे की ओर हटाना या लौटना।

इन्द्रियाँ स्वभावतः बहुर्मुखी होती हैं। प्रत्याहार द्वारा इन्हें अंतर्मुखी बनाने का उपदेश दिया गया है। अष्टांग योग के प्रत्याहार मे, इन्द्रियों के उनके बाह्य विषयों से हटकर, उन्हें अंतर्मुखी वृत्ति वाली

बनाने का उपदेश दिया गया है। इससे मन की चंचलता थमती है। ऐसी स्थिति ही ध्यान में सहाय है। युवावर्ग इन बहिरंग साधन– यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार का अनुष्ठान कर मन चंचल से स्थिर बनाकर, उन्हें व्यसनों से बचा सकते हैं और एक स्वस्थ दिनचर्या व मानसिकता विकास कर सकते हैं।

6. धारणाः–

'देशबन्ध चित्तस्य धारणा'[5]

अर्थात चित्त को देश विशेष में बांधना धारणा है। यम नियम द्वारा, शारीरिक तथा मानसि शुद्धि के पश्चात् जब आसन, प्राणायाम व प्रत्याहार द्वारा चित्त स्थिर हो जाता है, तब योगदर्शन अष्टांग योग में पतंजलि धारणा का निर्देश देते हैं।

इसके द्वारा चित्त एकाग्र बनता है। इसके द्वारा मानसिक शक्ति के प्रवाह को एक विशेष विषय की ओ प्रेरित करना संभव होता है। वस्तुतः इससे मन ध्यान की ओर तत्पर होता है।

7. ध्यानः–

तत्र प्रत्यैकतानता ध्यानम्।।[6]

ध्यान वस्तुतः धारणा का ही परिणाम है जब ध्येय से युक्त मन केवल, ध्येय को ही देखता दूसरे पदार्थ को नहीं जानता, उसे ध्यान कहते हैं। ध्यान वह दशा है जिसमें आत्मा को एक वस्तु ज्ञान होता है व अन्य वस्तुओं का विचार मन में उठता नही। ध्येय में वृत्ति का एक सा बने रह ध्यान है। इससे आत्मा, अविद्या के प्रभाव से मुक्त होती है।

8. समाधिः–समाधि अष्टांग योग का 8 वां एवं अन्तिम अंग है।

योगः समाधि।। [7]

योगदर्शन में समाधि का अर्थ है– मन को एकाग्र करना। समाधि व ध्यान में अन्तर यह है कि ध्यान में जहाँ ध्येय का ध्यान होता है, वहाँ समाधि में ध्यान ही ध्येय बन जाता है इससे ध्याता और ध्येय के मध्य का भेद मिट जाता है और ध्याता 'मैं' की सत्ता को भूल ध्येय से एकाकार हो जाता है समाधि, अष्टांग योग का सर्वाधिक महत्वपूर्ण अंग है क्योंकि मोक्ष तक पहुँचने का यह अन्तिम पड़ा है। समाधि से नित्य पद की प्राप्ति होती है, इससे पुरुष आध्यात्मिक चेतना को प्राप्त करता है। इसक सिद्धि के उपरान्त ही उसे तत्वज्ञान की प्राप्ति होती है। तथा परम शान्ति की अनुभूति होती है। इस बाह्य जगत का कोलाहल पूर्णतः शान्त होकर चित्त में शान्ति व स्थिरता की प्राप्ति होती है समाधि में व्यक्ति के समग्र चरित्र को बदलने की शक्ति निहित है।

अष्टांग योग का युवा वर्ग की मानसिक समस्याओं में महत्व व उनका निदान–

इन आठ अंगों द्वारा युवाओं में स्वस्थ मानसिकता, फलस्वरूप स्वस्थ मानसिक स्थिति ए समग्र स्वास्थ्य की स्थिति संभव है जो इस प्रकार है–

1. यम और नियम– यम द्वारा मन को शान्त व स्थिर किया जा सकता है। अनुशासन एवं नियमों द्वा युवावर्ग उस स्थिरता को प्राप्त करता है, जिससे वह स्वयं के एवं अपने देश के विकास में सहाय सिद्ध होता है। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रम्हचर्य एवं अपरिग्रह के पालन से आज का युवा स्वयं आचरण व व्यवहार को शुद्ध बनाकर तथा शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय व ईश्वर प्रणिधान द्वा अनुशासित जीवन जीते हुए, वह सामाजिक एवं आध्यात्मिक स्वास्थ्य को प्राप्त कर पाएगा।

2. आसन, प्राणायाम व प्रत्याहारः– वर्तमान समय में अनेक मानसिक विकार, व्याधियाँ, शारीरि दुर्बलता व शारीरिक पतन युवावर्ग को घेरे हुए है जैसे obesity, depression, Anxiety, hypertensio

frustration आदि। अष्टांग योग के आसनों के अभ्यास से जैसे– पद्मासन, सिद्धासन, भुजंगासन आदि द्वारा युवावर्ग न सिर्फ स्वास्थ्य लाभ, वरन् मानसिक स्वास्थ की स्थिति को प्राप्त कर सकता है एवं प्राणायाम से breathing control तथा प्रत्याहार द्वारा इन्द्रिय संयम के द्वारा युवावर्ग एक उत्तम मानसिक स्वास्थ्य को प्राप्त कर, अनुशासित जीवनयापन कर सकता है वह गलतआदतों से बचकर संयम द्वारा वीर्य की रक्षा करते हुए अनेक शारीरिक एवं मानसिक विकारों से मुक्त हो जाएगा।

3. **धारणा, ध्यान एवं समाधिः–** आज के दौर में युवावर्ग पढ़ाई के बोझ तले दबकर एवं प्रतियोगिता की अंधी दौड़ में फंसकर अनेक मानसिक व्याधियों व विकारों में बंधकर रह गया है। उसमें एक अस्वस्थ मानसिकता घर कर गई है। फलस्वरूप हिंसा, व्यभिचार, भ्रष्टाचार, मदिरा, धूम्रपान सेवन इत्यादि उसके लिये एक आम आदत बनकर, उसके चरित्र व समग्र स्वास्थ्य को लील गई है। इसके परिणामस्वरूप वह मानसिक व्याधि जैसे depression, panic attack, self inflicting behavior, की ओर अग्रसर है, और यह जीवनचर्या उसके पतन की ओर उसे अग्रसर किये जा रही है। समाधि के कठिन होते हुए, यदि युवा वर्ग सिर्फ धारणा पर भी चित्त केन्द्रित करने का प्रयास करे तो उसे मानसिक षांति की प्राप्ति अवश्य होगी। वह अपने ध्येय की ओर एकाग्रचित होकर बिना किसी व्यवधान के आगे बढ़ सकता है एक स्वस्थ जीवन शैली का पालन कर वह बीमरियों से मुक्त होकर शारीरिक बल व मानसिक शान्ति को प्राप्त कर सकता है।

निष्कर्षः–

अतः उपरोक्त कथित योग दर्शन के अष्टांग योग का पालन कर, युवावर्ग पतन के मार्ग और अस्वस्थ जीवन शैली को अपने जीवन से विलुप्त करने की शक्ति रखता है। वह मानसिक विकारों से स्वतन्त्र होकर स्वस्थ मानसिकता एवं सकारात्मक दृष्टिकोण की ओर अग्रसर हो सकेगा। वह स्वस्थ जीवन को ध्येय बनाकर एक स्वस्थ जीवनशैली को अपनाएगा तर्थाभ्की स्वास्थ्य की परिभाषा के अनुसार– शारीरिक, मानसिक, सामाजिक एवं आध्यात्मिक स्वास्थ्यलाभ कर जीवन को सफल बनाएगा। अतः महर्षि पतंजलि का अष्टांग योग, वर्तमान समय के युवावर्ग को सकारात्मक रूप से प्रभावित करने में अत्यंत सहायक व हितकारी है। इसकी प्रासंगिकता को समझते हुए इसे नई शिक्षा नीति में एक अलग विधा का रूप देकर योग विज्ञान को सम्मानित करना चाहिए तथा युवाओं को स्वस्थ मानसिकता के विकास की ओर अग्रसर करने में प्रयत्नरत रहना चाहिये।

संदर्भ–

1. सुश्रुत संहिता 15/10
2. पातंजल योगसूत्र 3/2
3. वही 2/49
4. श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः।" योगसूत्र–2/49
5. योगसूत्र–3/1
6. वही 3/2
7. योगभाष्य 1/1

श्री कीर्ति योग व्याख्यानमाला

मनोदैहिक बीमारियों के उपचार में योग की भूमिका

डॉ. रचना जै
जबलपु

आज का मानव एक ऐसे स्थान पर खड़ा है जहाँ से दो रास्ते जाते है। एक ओर तो वह उ परंपरा को सुरक्षित रखने का इच्छुक है जिसमे वह पला बढ़ा है, तथा दूसरी ओर वह आधुनिक यु के वैज्ञानिक तथ्यों की उपेक्षा नहीं कर सकता। इसका समाधान अपनी परंपराओं को नये ढंग प्रतिष्ठापित करना अर्थात् पाश्चात्य–पूर्व का समन्वय ही है यह समन्वय न हो पाने के कारण मानसि द्वंद की स्थिति उत्पन्न होती है, जो मानव को मानसिक व शारीरिक रूप से बीमार बनाती है मनोवैज्ञानिक एवं मनोचिकित्सकों का मानना है कि 50 से 60 प्रतिशत रोगों का मूल कारण मानसि है। इसी के आधार पर वर्तमान शताब्दि को बढ़ते हुए मानसिक रोगों की शताब्दि (of anxity) का गया है। मानवीय चेतना का यह विखण्डन पारिवारिक और सामाजिक विघटन को जन्म दे रहा है सामाजिक विघटन बढ़कर राष्ट्रीय विघटन का रूप ले लेता है। इस राष्ट्रीय विघटन के मूल में मानव का वैयक्तिक विघटन निहित है। विश्व स्वास्थ्य संगठन W.H.O. ने सन् 1948 में स्वास्थ्य क निम्नलिखित परिभाषा दी –

दैहिक, मानसिक और सामाजिक रूप से पूर्णतः स्वस्थ होना ही संपूर्ण स्वास्थ्य होना है। व्यवि के शारीरिक, मानसिक, सामाजिक एवं आध्यात्मिक पक्षों का स्वस्थ होना ही, उसका सम्पूर्ण स्वास्थ है। स्वास्थ्य सिर्फ बीमारियों की अनुपस्थिति का नाम नही है। स्वास्थ्य का अर्थ विभिन्न लोगों के लि अलग–अलग होता है। लेकिन अगर हम एक सार्वभौमिक दृष्टिकोण की बात करे तो अपने आप स्वस्थ कहने का अर्थ होता है कि हम अपने जीवन में आनेवाली सभी सामाजिक, शारीरिक औ भावात्मक चुनौतियों का प्रबंधन करने में सफलतापूर्वक सक्षम हो।"

"बीमार होना असामान्य है, स्वस्थ होना सामान्य है। स्वास्थ्य हमारे अस्तित्व की सच्चाई है बीमारी का यह अर्थ है कि आप जीवन की धारा के विपरीत जा रहे है और नकारात्मक सोच रहे है ये विचार आपकी तंत्रिकाओ और ग्रंथियों को कमजोर तथा नष्ट कर देते है। वैज्ञानिको के अनुसा हर ग्यारह महीने में हमारा शरीर नया बन जाता है। इसका मतलब की शारीरिक दृष्टि से हम सि ग्यारह महीने बूढ़े हैं। अपने विचार बदल कर अपने शरीर को बदल सकते हैं। डॉ क्विम्बी ए मनोदैहिक चिकित्सा के जनक और प्रथम मनोविश्लेषक थे। उनमें मरीज के कष्ट और दर्द के कार को अतींद्रिय तरीके से भाँपने की उल्लेखनीय क्षमता थी। वे मरीज व खुद को यह विश्वास दिलाते कि रोग उनके अवचेतन मन के झूठे विश्वासों, निराधार डरों और नकारात्मक ढाँचों के कारण है, ज शरीर में प्रकट हो गया है। लेकिन विचारों को बदल कर रोग का उपचार किया जा सकता है।"

"इंस्टीटयूट ऑफ हार्टमैथ, यू एस ने सन् 1990 से 2003 तक डी एन ए व इन्टेंशनली जनरेटे इमोशन्स् विषय पर अनुसंधान किया, जिसका निष्कर्ष उसके न्यूज लेटर में कन्फर्मेशन ऑफ डीएन मॉडयूलेशन विद हार्ट फोकस्ड इन्टेंशन्स के नाम से छापा गया। उन्होंने मानव के डी एन ए को टेस टयूब में बंद कर के कुछ व्यक्तियों को उस पर अपना पूर्ण ध्यान केन्द्रित करते हुए कुछ विशि मनोभावनाओं को जगाने को कहा। ऐसा करने पर टेस्ट टयूब में बंद डी एन ए पर उसकी स्प

प्रतिक्रिया पाई गयी। नकारात्मकता के प्रभाव से डी एन ए में मरोड़ व आकुंचन तथा सकारात्मकता से खुले, शांत व स्वस्थ पाये गये। नेशनल इंस्टीटयूट ऑफ जनरल मेडिकल साइन्स व रेपिट आइ इंस्टीटयूट यू एस ए ने भी उक्त की पुष्टि की।"[3]

"ऐडेल ला ब्रेक ने अपनी किताब हाऊ टू प्रोग्राम योर डी.एन.ए एवं हॅरी कार्पेटर ने अपनी किताब द जीनी विद इन, में यह स्पष्ट किया है कि अवचेतन मन सेल्स व डी एन ए का आपस मे गहरा तालमेल है एवं अवचेतन में जमे गहरे विश्वास, भावनाए तथा विकार डी एन ए के नैसर्गिक प्रोग्राम पर प्रभाव डालते है जिससे डी एन ए द्वारा सेल्स को दिये जाने वाले निर्देश विचार व भावनाओं के अनुरूप बदल जाते है।"[4]

मनोदैहिक बीमारियॉं (Psychosomatic disorders)

इसमें रोग की अभिव्यक्ति शारीरिक होती है परन्तु उसका कारण शारीरिक न होकर मानसिक होता है। अत: इस रोग का कारण emotional conflict and anxieties होता है। यही कारण है कि इस रोग का नाम मनोदैहिक बीमारियाँ रखा है।

इसमें उन्हीं अंगो द्वारा रोग के लक्षण की अभिव्यक्ति होती है जो स्वायत्त तंत्रिका तंत्र(autonomic nervous system) के नियंत्रण में होते हैं ये प्रमुख अंग है – heart, kidney, intestine, skin activities आदि। केन्द्रिय तंत्रिका तंत्र (central nervous system) के अधीन रहने वाले अंग इस रोग से प्रभावित नहीं होते हैं।

"जोन्स ने एक अध्ययन में सांवेगिक तनाव एवं खून जमने की प्रक्रिया में धनात्मक सहसंबंध (positive correlation) दिखलाया है। इन्होंने अपने अध्ययन में पाया की शांत प्रवृति के व्यक्तियों के शरीर से निकले खून को जमने में करीब 8 से 12 मिनिट का समय लगा, शंकालू व्यक्तियो के शरीर से निकले खून को जमने में करीब 4 से 5 मिनिट का समय लगा तथा अत्याधिक व्यग्र, उत्तेजित एवं डरे हुए व्यक्तियों के शरीर से निकले खून को जमने में करीब 1 से 3 मिनिटका समय लगा। इससे स्पष्ट हो जाता है कि किसी व्यक्ति में संवेगात्मक तनाव की स्थिति चिरकालिक (chronic) होती है, तो उनके रक्त नलिकाओं में खून जल्दी जमने लगता है जो हृदय को खून की आपूर्ति करता है। नतीजन व्यक्ति में हृदय रक्तधमनी की विकृति (coronary disease) उत्पन्न हो जाती है।"[5]

"आंत का घाव (peptic ulcer) रोग में छोटी आंत के ऊपरी हिस्से में या आमाशय में एक खुला मुँह का जख्म या घाव हो जाता है। इस मे अमाशय रस (gastric juice) के तीनों प्रमुख तत्व म्युकस, पेपसिन तथा हाइड्रोक्लोरिक अम्ल मे से हाइड्रोक्लोरिक अम्ल की अधिकता देखी गयी है। इस की उत्पत्ति में सतत सांवेगिक तनाव का कारण होता है। जब व्यक्ति इस तरह के तनाव में अधिक दिनों से होता है तो वेगस तंत्रिका का कार्य प्रभावित हो जाता है। वेगस तंत्रिका आमाशय रस तथा अमाशय के क्रमाकुंचन गति (peristaltic motion) को नियंत्रित करता है। वस्तुत:, सतत या चिरकालिक सांवेगिक तनाव के होने से वेगस तंत्रिका पर नियंत्रण करीब करीब हट जाता है और काफी मात्रा में आमाशय रस निकलने लगता है जो धीरे धीरे आमाशय की दिवारों को गलाने लगता है जिससे अंतत: आँत का घाव उत्पन्न हो जाता है।"[6]

डोन चिकित्सा

सम्पूर्ण सृष्टि एक अटल नियम के अनुसार कार्य करती है। इसी तरह स्वास्थ्य विज्ञान के भी नियम हैं, जो हमारे शरीर का संचालन करते हैं। स्वास्थ्य के नियमों की अवहेलना उसे शारीरिक व

मानसिक रूप से बीमार बना देती है। आरोग्य के बिना जीवन संग्राम में सफलता प्राप्त नही की जा सकती है।

राजयोग, योग की ही एक शाखा है जिसने शारीरिक, मानसिक एवं आध्यात्मिक प्रस्फुटन के लिए ध्यान की विधियों को खोजा है। ध्यान अवचेतन मन में छुपी अव्यक्त और दमित भावनाओं को रिक्त करने की प्रक्रिया है। यदि इन दमित वासनाओं का उन्मूलन नही किया गया तो ये व्यक्तित्व दोषों, शारीरिक व मानसिक व्याधियों, मनोस्नायु विकृति, मनोविकृति, स्नायविक दोष और उच्च रक्तचाप आदि के रूप में प्रकट होंगी। वह व्यक्ति जिसने अपनी भावनाओं व संवेदनाओं पर अधिकार प्राप्त कर लिया है तथा अपने को क्षुद्र वासनाओं से ऊपर उठा लिया है, मृत्युपर्यन्त कभी अस्वस्थ नहीं हो सकता।

योग हमारे व्यक्तित्व के पुनर्निर्माण के उपाय प्रदान करता है। यह इन्द्रियों को उनके विषयों से हटाता है, और उसे मनोवैज्ञानिक द्वारा प्रतिपादित मध्यकक्षा अवचेतन में ले जाता है। जब हम ध्यान के द्वारा अपने अवचेतन से संपर्क स्थापित करते है तब गहराई में स्थित हमारे संस्कार एक एक कर ऊपर सतह पर आते है तथा धीरे धीरे, पर निश्चित रूप से विदा होते जाते हैं। यह विधि पूर्णतः आधुनिक मनोचिकित्सीय अभ्यासों के अनुरूप है। अंतर इतना ही है कि यहाँ अपने मनोचिकित्सक हम स्वयं होते हैं।

योग का मनोदैहिक पक्ष अति महत्त्वपूर्ण है। योग का लक्ष्य अपने मन को जगाना तथा अपनी आंतरिक शक्ति को विकसित करना है। शरीर व मन का घनिष्ठ संबंध है। जैसे मन में विचार होंगे वैसी ही शरीर पर प्रतिक्रिया होगी। तनाव, चिन्ता, भय, अवसाद, निराशा, कुण्ठा, आक्रमकता, क्रूरता, ईर्ष्या, जलन व चिढ़चिढ़ापन जैसी नकारात्मक भावनाएँ शरीर को बीमार बना देती हैं वहीं सेवा, करुणा, मैत्री, सहानुभूति तथा प्रेम जैसे सकारात्मक विचार शरीर को स्वास्थ्य व ऊर्जावान बनाएंगे।

"मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्य विषयाणां भावनातश्चित्त प्रसादनम्।
अनुवाद–सुखी जनों से मित्रता, दुखियों पर दया, पुण्यात्माओं में हर्ष और पापियों से उपेक्षा की भावना से चित्त प्रसन्न व निर्मल होता है।"

विगत कई वर्षों से शरीर पर योग के प्रभाव पर अनुसंधान हो रहे हैं। योगासन मात्र व्यायाम नही वरन् यह मानव शरीर की आंतरिक प्रणाली पर प्रभाव डालने वाली क्रिया है। आसन, प्राणायाम, बंध, मुद्रा व षटकर्म अनेक असाध्य रोग जैसे दमा, मधुमेह, अल्सर, रक्तचाप, गठिया रोग आदि रोगों के उपचार में लाभदायी है। यौगिक उपचार के उपकरण निम्नलिखित है–

1. पंचकोष

योग विज्ञान का प्रभाव व्यक्तित्व के सबसे बाह्य पक्ष–अन्नमय कोष अर्थात शरीर से प्रारम्भ होता है। अन्नमय कोष में असंतुलन का अनुभव होने से अंगों, पेशियों और तन्त्रिकाओं के अंतःस्रावी प्रणाली व ग्रंथियों के कार्यकलापों में सामंजस्य नहीं रह जाता, वे एक दूसरे के प्रतिकूल कार्य करने लग जाते हैं जिससे रोग होने की सम्भावना हो जाती है।

अन्नमय कोष के उपचार मे आसन तथा षट्कर्म मुख्य रूप से प्रभावकारी होते है। जैसे जब शशांकासन किया जाता है तब एड्रीनल ग्रंथि से एड्रेनलीन का स्राव संतुलित होता है। जो कि गुस्से या क्रोध को कम करती है तथा श्वसन संबंधी रोगों के उपचार में लाभदायक होती है। षट्कर्म मानव शरीर की शुद्धि मे सहायक होते हैं।

प्राणमय कोष मानवीय जैव विद्युत के रूप में क्रियाशील होता है। प्राणायाम, बंध, मुद्रा आदि योग साधनों के अभ्यास से प्राणमय कोष का जागरण व परिष्कार किया जा सकता है।
मानव मस्तिष्क में स्थित हाइपोथेलेमस सारी स्वचलित क्रियाओं का नियंत्रण व संचालन करता है। इसे प्राणायाम की साधना से संतुलित किया जा सकता है।

तीसरा मनोमय कोष है, जो मानसिक आयाम है। इसकी अनुभूति का स्तर चेतन मन है जो दो स्थूल कोषों अन्नमय एवं प्राणमय को एक साथ एक इकाई के रूप में धारण करता है। इस का असंतुलन समस्त मनोदैहिक बिमारियों का कारण है।

चौथा कोष विज्ञानमय कोष है, जो चित्त के स्तर पर अवचेतन और अचेतन मन को जोड़ता है। विज्ञानमय कोष वैयक्तिक एवं सार्वभौमिक मन के बीच की कड़ी है।

2 षट्चक्र

योग में मानव शरीर में बहत्तर हजार नाड़ियाँ बताई गई हैं। इनमें से तीन अधिक महत्त्वपूर्ण मानी गई हैं जिन्हें इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना नाड़ी कहते हैं। ये रीढ़ की हड्डी के अंदर दायें–बायें और बीच में प्रवाहित होती रहती हैं। इड़ा नाड़ी बायीं तरफ रहती है, इससे मनस् शक्ति का प्रवाह होता है और इस पर सम्पूर्ण मानसिक एवं आत्मिक प्रक्रिया का भार रहता है। पिंगला रीढ़ के दायें तरफ रहती है, इससे प्राणशक्ति का प्रवाह होता है और इस पर सम्पूर्ण स्थूल शरीर एवं इसकी प्रक्रियाओं के संचालन का सम्पूर्ण भार रहता है। सुषुम्ना रीढ़ के बीच से प्रवाहित होती है। योग शास्त्रों में इस नाड़ी को शिथिल अथवा सुप्त नाड़ी कहा गया है। इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना नाड़ियाँ मूलाधार चक्र से प्रारम्भ हो कर भ्रूमध्य के ठीक पीछे स्थित आज्ञा चक्र में पुनः मिलती हैं। मूलाधार चक्र का स्थान रीढ़ के निचले छोर के पास है। यहां एक ऊर्जा होती है जिसे एक सुषुप्त कुण्डलित सर्प के द्वारा दर्शाया जाता है, जिसे कुण्डलिनी शक्ति कहते हैं। रीढ़ की हड्डी में स्थित ये चार मध्यवर्ती चक्र है – स्वाधिष्ठान, जो निचले सिरे पर है; मणिपुर नाभि के ठीक पीछे है; अनाहत वक्ष के मध्य में हृदय के ठीक पीछे है तथा विशुद्धि गले में है। पिंगला नाड़ी परानुकंपी तंत्रिका तंत्र व इड़ा नाड़ी अनुकंपी तंत्रिका तंत्र को प्रभावित करती है। मधुमेह रोग में पेंक्रियास ग्रंथि से निकलने वाला इंसुलिन हार्मोन्स की मात्रा असंतुलित हो जाती है। पिंगला नाड़ी में अवरोध आने से इंसुलिन की मात्रा भी असंतुलित हो जाती है। यदि रोगी को पश्चिमोत्तानासन जैसे आसन जो की पिंगला नाड़ी व मणिपुर चक्र के ऊर्जा अवरोध को दूर करने मे सहायक है तथा बांयी करवट सुलाने से दाहिनी नाक खुल जाती है जिससे पिंगला नाड़ी के अवरोध दूर होते हैं, करने पर मधुमेह रोग का सफल उपचार किया जा सकता है।

मानव शरीर में अंतःस्रावी ग्रंथि तंत्र पाया जाता है। इन ग्रंथियों की मानव शरीर को स्वस्थ्य रखने में महत्त्वपूर्ण भूमिका है। इन ग्रंथियों से एक रसायन सूक्ष्म मात्रा मे स्रावित होता है। जिसे जीवन रस या हार्मोन्स कहा जाता है। यह हार्मोन्स ही शरीर की समस्त क्रिया विधियों को सुचारू रूप से संचालित करता है। इस रस की स्रावण की मात्रा में कमी या अधिकता आने पर शरीर रोगी हो जाता है। इन ग्रंथियों व चक्रों की मानव शरीर में स्थिति अत्यंत पास–पास है। हर एक चक्र की ऊर्जा उसके निकट स्थित ग्रंथि को प्रभावित करती है, जैसे मूलाधार व स्वाधिष्ठान चक्र से जनन ग्रंथियाँ, मणिपुर चक्र से एड्रिनल व पैंक्रियाज ग्लेंड, अनाहत चक्र से थॉयमस ग्लेंड, विशुद्धि चक्र से थाइराइड ग्लेंड आज्ञा तथा सहस्रार चक्र से पीनियल व पिट्यूटरी ग्लेंड। इन ग्रंथियों को योग द्वारा संतुलित रखा जा सकता है।

3 योगनिद्रा

योग एवं निद्रा, इन दो शब्दों से मिलकर योगनिद्रा बना है। जिसमें योग का अर्थ है "आंतरिक चेतना से मिलना" और निद्रा का अर्थ है "नींद लेना" अर्थात ऐसी नींद लेना जिसमें आंतरिक चेतना शक्ति से मिलन हो या सजगता के साथ सोना।

योगनिद्रा एक अत्यंत शक्तिशाली तकनीक है। योगनिद्रा में हम अपने मन की गहराइयों में उतर कर उस के गहरे क्षेत्रों को उद्घाटित कर सकते हैं। जाग्रत अवस्था में मन का जाग्रत अंश ही क्रियाशील रहता है। परंतु योगनिद्रा में विश्राम की अवस्था अवचेतन तथा अचेतन मन भी उन्मुक्त हो जाता है। मनुष्य का अवचेतन मन बड़ा आज्ञाकारी होता है उसे जो आदेश दिये जाते है। उनका वह तत्काल पालन करता है। योगनिद्रा के अभ्यास से अवचेतन मन को समुचित ढंग से प्रशिक्षित कर सकते हैं। जिससे मन और बुद्धि इस प्रशिक्षत अवचेतन मन का अनुसरण करने लगते है। योगनिद्रा द्वारा मन की प्रकृति बदल कर कई बीमारियों को ठीक किया जा सकता है।

योग निद्रा के द्वारा मस्तिष्क में निर्मित तरंगों की आवृत्तियों में कमी आने लगती है। बीटा तरंगे अल्फा तरंगों की गतिविधि में परिणत होने लगती हैं, जो की शिथिलीकरण, शान्ति तथा स्वस्थ भावनाओं से संबंधित हैं। उच्च अवस्था में यह थीटा तरंगों को भी दर्शाता है जो गहरे शिथिलीकरण एवं ध्यानावस्था का प्रतीक है।

4 अजपाजप

अजपाजप का अर्थ है, किसी मंत्र को बार बार दुहराना और अविरल मंत्रों को सजगतापूर्वक जपना। इसके द्वारा मन के गहन स्तरों की खोज तथा मानसिक समस्याओं का निराकरण होता है। इस अभ्यास की प्रारंभिक स्थिति में मंत्र का प्रभाव मन की ऊपरी सतह पड़ता है। नियमित अभ्यास से यह *अवचेतन मन के सूक्ष्म स्तरों में व्याप्त हो जाता है,* फलस्वरूप अनेक संस्कार, कामनाएँ, चिन्ताएँ, भय, परेशानियाँ तथा विक्षिप्तता आदि मन के नकारात्मक विचारों को चेतना की ऊपरी सतह पर लाकर उनको नष्ट करता है। ये नकारात्मक विचार ही अधिकांश शारीरिक एवं मानसिक रोगों के मूल कारण होते हैं। मनोदैहिक बीमारियों का कारण मानसिक होता है, मन में ही बीमारी का संस्कार पहले आरोपित होता है। अतः मन का उपचार सबसे पहले होना चाहिये। अजपाजप मन के उपचार के लिए सबसे अच्छी विधि है। अजपा का उपयोग छोटी–बड़ी अनेक बीमारियों जैसे पागलपन, हिस्टीरिया, उच्च रक्तचाप और कोरोनरी थ्रोम्बोसिस को दूर करने में किया जाता है।

5 अन्तर्मौन

अंतर्मौन ऐसी विधि है, जो वैज्ञानिक एवं क्रमबद्ध है। सर्वप्रथम तो यह बाह्य जगत के कोलाहलों और विषयों की उत्तेजनाओं के प्रति प्रतिरोधात्मक शक्ति को बढ़ाती है, जिसमें मन बाह्य परिस्थितियों से अप्रभावित रहता है। तत्पश्चात यह अवचेतन में दबे हुए विचारों और भावनाओं को पानी के बुलबुले की तरह चेतन मन में लाती है। इसके बाद व्यक्ति अपने अन्दर की भूतकालीन स्मृतियों, भय, घृणा, इत्यादि का सामना करता है। जन्म–जन्मान्तर के जमे हुए संस्कार और भावनायें चेतन मन पर प्रकट होकर शीघ्र ही नष्ट हो जाती है। धीरे–धीरे कुछ समय पश्चात् मन की आन्तरिक स्थिति में संतुलन और सामंजस्य स्थापित हो जाता है तथा मन शान्त और एकाग्र होने लगता है। अतः जिस व्यक्ति की मानसिक वृत्ति अधिक चंचल है, उसके लिये अन्तर्मौन का अभ्यास बहुत ही उपयुक्त है।

6 महर्षि पंतजलि का अष्टांग योग

महर्षि पंतजलि ने अष्टांग योग में योग के आठ सोपान बताए है। जिनका पालन कर मानव

स्वस्थ रह सकता है। रोग के उपचार हेतु सक्षम है। अष्टांग योग बाह्य व अंतर अंग में विभाजित है। आठ अंगों में पाँच बाह्य अंग हैं – यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार तथा अंतरंग है – धारणा, ध्यान व समाधि। पाँच यम – सत्य, अहिंसा, अस्तेय, अपरिग्रह व ब्रह्मचर्य है तथा पाँच नियम – शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय व ईश्वरप्रणिधान है। यम समाज की समस्याओं का हल करने में समर्थ है और नियम व्यक्ति के व्यक्तिगत जीवन में स्थिरता प्रदान करने में सहायक है। इनका उद्देश्य ही व्यक्ति के जीवन को रूपांतरित करना एवं व्यवहार में नैतिकता, प्रामाणिकता आदि लाना है। इस प्रकार जब यम नियम पालन करने से व्यक्ति में इंसानियत आएगी, तभी वह धरातल से ऊपर उठकर मंजिल को प्राप्त कर सकेगा। यम नियम और उनके दृढ़ आचरण से प्राप्त किये जाने वाले लाभ ठीक तरह से समझ जाए तो मानव जीवन के वास्तविक सुख को पहचान कर, उसे अपने जीवन में स्थान देकर, जीवन के अंतिम उद्देश्य को प्राप्त करने का प्रयास करेगा और परिणामतः अच्छे चरित्र का संवर्धन करके आधुनिक परिवेश में जो सामाजिक समस्यायें विद्यमान है, उनका हल किया जा सकता है।

पेनिसिल्वेनिया विश्वविद्यालय के शोधकर्ताओं द्वारा किये गये एक शोध के अनुसार मेडिटेशन व्यक्तित्व के विकास में सहायक होता है। इसके अनुसार मस्तिष्क को तीन बिन्दुओं पर एकाग्रचित किया जा सकता है। साथ ही सक्रिय रहते हुऐ मस्तिष्क को प्रत्येक बिन्दु पर क्रियाशील बनाया जा सकता है। इस शोध के दौरान प्रतिभागियों को प्रतिदिन 30 मिनिट ध्यान करने को कहा गया। एक माह पश्चात उनके मस्तिष्क के परीक्षण करने पर उसमें अत्यधिक सकारात्मक बदलाव पाया गया। उनके मस्तिष्क के नर्व फाइबर घने हो गये तथा अधिक संकेत मिलने शुरू हो गये। शरीर से कार्टिसोल नामक हार्मोन का स्राव सही मात्रा में हुआ जिससे आप का दिमाग शांत रहता है तथा आप तनाव मुक्त होते है।

डेविड क्रेज्वेल, असिसटेट प्रोफेसर सायकोलॉजी द्वारा किये गये शोध से पता चलता है कि जहां मेडिटेशन से मन व मस्तिष्क को नई ऊर्जा मिलती है वहीं इससे हमारे शरीर में नई शक्ति का संचार होता है। इस शक्ति के कारण हम स्वयं को पहले से अधिक स्वस्थ महसूस करने लगते है। उच्च रक्तचाप नियंत्रित होता है तथा सिरदर्द दूर होता है।

मानस योग :

मानस योग की रचना न्यूरोलिंगुस्टिक प्रोग्रामिंग, ब्रह्माण्ड के आकर्षण का नियम तथा निर्देशित ध्यान के संकलन द्वारा की गई है। विचारों को मस्तिष्क की अल्फा या थीटा आवृत्ति पर मानसिक दर्शन द्वारा हम अधिक प्रभावी रूप से मन में ग्रहण कर सकते हैं, इसलिए मानस दर्शन (visualization) की तकनीक विचारों को ग्रहण करने की सर्वोत्तम विधि है। मानसिक चित्रण (imagination) में सिर्फ चित्रण होता है लेकिन मानस दर्शन में मानसिक चित्रण के साथ भावनाएँ व रंग भी शामिल रहते है। मानस योग में मानस दर्शन का प्रयोग करना है मानस दर्शन में हमारी भावनाएँ, रंग और इच्छापूर्ति की आनंददायी भावना शामिल होती है तो इससे हमें आश्चर्यजनक परिणामों की प्राप्ति होती है। इस प्रक्रिया को बहुत प्रभावशाली पाया गया।

मानस योग का लक्ष्य है–अपने मन को जगाना तथा अपनी आंतरिक शक्ति को विकसित करना जिसे हम महान एवं पूर्ण अस्तित्व को प्राप्त कर सकें। इसका अभ्यास न केवल रोगी को रोग मुक्त बना सकता है, वरन् मानव चेतना को परम चेतना बना सकता है।

अध्यात्म की इस स्वीकारोक्ति को विज्ञान भी स्वीकार करने लगा है जैसे–जैसे विज्ञान अनुसंधान करता जा रहा है, उसकी गति स्थूल से सूक्ष्म की ओर होती जा रही है। इस तरह

अनुसंधान कार्यो एवं सर्वेक्षणों के आधार पर यह निष्कर्ष प्रस्तुत किया जा सकता है कि परामानसिक जगत् और उसकी शक्तियाँ एक वैज्ञानिक यथार्थ है । पश्चिम के कई देशों में इस पर व्यापक वैज्ञानिक अनुसंधान भी हो रहे हैं। इसका उपयोग मनोरोगों की चिकित्सा में भी किया जा रहा है। हमारा अपना देश जो ऋषियों का देश कहलाता है, ध्यान, तप एवं योग–शक्तियों के देश के रूप में जिसकी ख्याति है, वहाँ पर इस वैज्ञानिक आयाम पर उतने अनुसंधान नहीं हो रहे हैं, जितने होने चाहिए। जो अध्यात्म की बातें करते हैं, अतिन्द्रिय ज्ञान के दावे करते हैं, उन्हे अनुसंधान की कसौटी में परीक्षित–प्रमाणित होना चाहिए। इससे अतीन्द्रिय सामर्थ्य की वैज्ञानिकता परखे जाने के साथ ही जनकल्याण की नई राह भी खुल सकेगी। विज्ञान एवं योग समानान्तर एक ही दिशा में चल रहे है और अब वे एक ऐसे मिलन बिन्दु पर पहुँच रहे है जिसके फलस्वरूप संपूर्ण ज्ञान मे परिवर्तन आयेगा।

संदर्भ ग्रंथ –

1. hi.wikipedia.org/wiki/LokLF; 10–05–2019
2. आपके अवचेतन मन की शक्तियाँ, जोजेफ मर्फी, मंजुल पब्लिषिंग हाउस, भोपाल, सप्तम् संस्करण, 2012, पृ. 102
3. हाऊ टू प्रोग्राम योर डी.एन.ए. ऐड़ेल ला ब्रेक,
4. द जीनी विद इन, हैरी कार्पेंटर, हेरी कारपेंटर पब्लिशिंग, USA, 2011, पृ. 53
5. अरूण कुमार सिंह, आधुनिक असामान्य मनोविज्ञान, मोतीलाल बनारसीदास, जवाहर नगर दिल्ली, चतुर्थ संस्करण 2004, पे. 346
6. अरूण कुमार सिंह, आधुनिक असामान्य मनोविज्ञान, मोतीलाल बनारसीदास, जवाहर नगर दिल्ली, चतुर्थ संस्करण 2004, पे. 346
7. पातंजल योग प्रदीपिका 1–33

भारत की संत परम्परा का दार्शनिक विश्लेषण

संजय कुमार शुक्ला
एसोशिएट प्रोफेसर दर्शनशास्त्र विभाग
यूइंग क्रिश्चियन कॉलेज, प्रयागराज

भारतीय दर्शन के इतिहास लेखन में जितना महत्व नास्तिक एवं आस्तिक सम्प्रदाय एवं तत्पश्चात् समकालीन भारतीय दार्शनिकों के विचार को प्राप्त है उतना मध्ययुगीन संत परम्परा को नहीं है। अतः संत परंपरा के दार्शनिक विश्लेषण की महती आवश्यकता है जिसके परिणामस्वरूप उनके दार्शनिक अवदानों का समुचित मूल्यांकन हो सके। आचार्य संगम लाल पाण्डेय ने संत मत के संदर्भ में नवीन दृष्टि अपने वैदुष्यपूर्ण लेखन में प्रस्तुत की है और इस शोध आलेख का उद्देश्य उसका अवगाहन करना है। आचार्य पाण्डेय ने दर्शनशास्त्र की विभिन्न विधाओं पर सार्थक लेखन का कार्य किया है और इसी कड़ी में हिन्दी के संत साहित्य का गहन अनुशीलन करते हुए वे संत की पहचान, संत एवं भक्तों की कसौटी, उपासक एवं भक्त में अंतर सत्संग के महत्व, पारम्परिक प्राचीन वेदान्त एवं संत मत के दार्शनिक विचारों का तुलनात्मक एवं समीक्षात्मक अध्ययन भी प्रस्तुत करते हैं। सामान्यतया भक्त, संत, महात्मा, साधु एवं स्थितप्रज्ञ का प्रयोग समानार्थक रूप से किया जाता है। हिन्दी साहित्य के मर्मज्ञ आलोचक संत एवं भक्त में अंतर करते हुए संत को निर्गुणोपासक तथा भक्त को सगुणोपासक मानते हैं और इस निष्कर्ष पर कबीर, दादू आदि को संत तो वहीं सूर, तुलसी को भक्त कहा गया है। हिन्दी साहित्य के मैलिक ग्रन्थों में भक्त प्रवर नाभादास की भक्तमाल अग्रगण्य है और यहां वे कबीर एवं तुलसी दोनों को ही भक्त स्वीकार करते हैं, क्योंकि दोनों ने निर्गुण एवं सगुण ब्रह्म का अनुभव करते हुए उनके समन्वय पर बल दिया है। यद्यपि दोनों के इष्ट अलग होने के कारण उनके तत्ववाद भी भिन्न हैं, किन्तु मात्र तत्ववाद के अन्तर को संत एवं भक्त के अंतर का आधार नहीं बनाय सकता है। भक्त एवं उपासक में भेद का आधार यह है कि जो भक्ति को सर्वश्रेष्ठ पुरुषार्थ मानते हैं वह भक्त तथा जो भक्ति को अन्य पुरुषार्थ का साधन मानता है वह उपासक होता है। उपासक इहलोक अथवा परलोक की कामना से अथवा स्वार्थ से भक्ति करता है, जबकि भक्त को भक्ति के अतिरिक्त अन्य किसी की अपेक्षा नहीं होती है। अतः उपासक जब निःस्वार्थ हो जाता है तो वह भक्त हो जाता है। नाभादास के अनुसार भक्त अथवा संत सभी विधाओं या वर्गणाओं से परे है और इसी कारण से वे उनका वर्गीकरण राम, कृष्ण अथवा शिव भक्त, सगुण अथवा निर्गुण के रूप में नहीं करते हैं। वे भक्त को भक्त की दृष्टि से देखते हैं। सामान्यतः हम भक्तों का वर्गीकरण उनके आराध्यदेव, भक्ति या गुरू के धरातल पर करते हैं, किन्तु नाभदास भक्त के जीवन को परखते हैं, न कि उनके गुरु भगवान अथवा भक्ति को महत्व देते हैं। आचार्य पाण्डेय नाभदास की इसी अवधारणा का समर्थन करते हुए यह प्रतिपादित करते हैं कि इन्हीं वर्गीकरणों के कारण ही अंध परम्परा एवं साम्प्रदायिकता में वृद्धि हुई है। उनकी दृष्टि में इससे भी अनिष्टकर यह वर्गीकरण होता है जो भक्तों को धर्म के आधार पर विभाजित करे यथा हिन्दु भक्त, इस्लाम भक्त, इसाई भक्त आदि क्योंकि यह धार्मिक विद्रोह एवं वैमनस्य उत्पन्न करता है।

नाभादास ने भक्तों अथवा संतों को परखने हेतु एक मौलिक एवं यथार्थ दृष्टि की है और जिसे हम उनके "छप्पय" में उद्धृत संतों के उत्कर्ष प्रसंग के रूप में पाते हैं। उत्कर्ष का आशय प्रगति या उत्थान है। संत अपने साध्य अथवा लक्ष्य को प्राप्त करने में कितना उत्कर्ष प्राप्त कर रहा है? उसे कुछ

सार्थक (आध्यात्मिक) अनुभूति हो रही है अथवा नहीं? उसके अनुभूतियों का कितना लाभ समाज को मिल रहा है? इन सभी प्रश्नों के मूल में एक ही ष्टि है जिसे संत के उत्कर्ष के अभिहित किया जाता है और यही संतों के परखने का एकमात्र निकष है। आचार्य पाण्डेय नाभादास के उक्त निकष को संतमत के अनुकूल स्वीकार करते हैं और उनकी यह मान्यता है कि संतों का वस्तुतः कोई मजहब, जाति, इष्ट या गुरू नहीं होता है। उत्कर्ष में नानात्व से अद्वैत की अनुभूति घटित होती है। संत–साधना के त्रिविध सोपान कमशः नैतिक शुद्धि उद्‌बोध एवं ऐक्य अनुभव है। प्रथम सोपान में संत अपनी वासनाओं पर आत्म–संयम स्थापित करता है। आत्म–संयम की सफलता ही नैतिक शुद्धि है। द्वितीय सोपान उद्‌बोध है और यह एक ऐसा बोध है जो संत की बुद्धि को उर्ध्व ज्ञान की ओर उसके चित्त को उर्ध्व भावना की ओर मन को उर्ध्व प्रयत्न अथवा संकल्प की ओर ले जाता है। यही उत्कर्ष का आरम्भ बिन्दु है जिसके पश्चात् प्रत्येक व्यक्ति मनसा वाचा तथा कर्मणा एक रूपेण व्यवहार करता है। उत्कर्ष के इस आरम्भ बिन्दु से लेकर अद्वैत की अनुभूति होने तक यदि उसे नानात्व की भी अनुभूति होती है तब भी वह संत है, क्योंकि उसकी नानात्व अनुभूति एवं प्रा.तजन की नानात्व अनुभूति में अंतर है। प्रा. तजनों की नानात्व अनुभूति में भय, स्वार्थ तथा छल–छद्म होता है जबकि संतों में यह वस्तुओं का यथा तथ्य अथवा यथार्थ ज्ञान का हेतु है। बुद्धि, मन एवं चित्त तीनों की उर्ध्वगति बिरले ही संतों में होती है किन्तु प्रत्येक संत के जीवन में कुछ न कुछ उत्कर्ष अवश्य होता है। हम यह कह सकते हैं कि जिनमें केवल बुद्धि की उर्ध्वगति उसे दार्शनिक संत अथवा ज्ञानी भक्त (उदाहरणार्थ शंकराचार्य), जिसमें मात्र मन की उर्ध्वगति उसे कर्मठ भक्त (यथा महात्मा गाँधी) तो वहीं केवल चित्त की उर्ध्वगति उसे भावुक भक्त (उदाहरण– मीराबाई) कहा जा सकता है। यहाँ पर भक्त अथवा संत का विभाजन उसकी प्रवृत्ति के अनुरूप होता है और इसलिए इसे उत्कर्ष की ष्टि से वर्गीकरण नहीं समझना चाहिए। उद्‌बोध के अनुरूप संत–जीवन में परिवर्तन होता है। संत के बुद्धि, मन एवं चित्त के उत्कर्ष की फलानुभूति सामान्यजन को भी होने लगती है और इस कारण से वे भी संतों का परीक्षण कर सकते हैं। उद्‌बोध के तदुपरान्त संत ऐक्यानुभव करता है। संत की पहचान वस्तुतः मन, वाणी एवं चरित्र से एक होने में है:

मनस्यन्यत् वचस्यन्यत् कार्यं चान्यद दुरात्मनाम्।
मनस्येक वचस्येकं कर्मण्येक महात्मनाम् ।।

(अर्थात् जिसकी वाणी, मन तथा कर्म में अनेकरूपता हो वह दुरात्मा तथा जिसमें एकरूपता हो वही सरल, सहज तथा कुटिलतारहित साधु भक्त होता है।)

आचार्य एस. एल. पाण्डेय ने संतमत को नवीन वेदान्त अथवा जन वेदान्त की संज्ञा दी है। संतमत भी वेदान्त है क्योंकि उसमें भी आत्मवाद, ब्रहमवाद एवं मायावाद का प्रतिपादन किया गया है। संतमत की नवीनता इसमें निहित है कि पारम्परिक (प्राचीन) वेदान्त में स्वी.त वर्णाश्रम धर्म, वेद पाडित्य, व्यावहारिक भेद–भाव और बौद्धिक विलास का खण्डन यहां किया गया है। यह वस्तुतः व्यावहारिक अद्वैतवाद है जिसके आधार पर वर्गहीन एवं समरस समाज की स्थापना सम्भव है। नवीन वेदान्त 'स्वानुभववाद है जबकि प्राचीन वेदान्त "श्रवणवाद" और व्यर्थ का पाण्डित्य प्रदर्शन है। संत कबीर निःसंकोच कहते हैं कि "मैं कहता आखिन की देखी, तु कागद की लेखी रे।" प्राचीन वेदान्त से सम्बद्ध ऋषियों को भी तत्व की स्वानुभूति हुई थी, किन्तु यह वारजाल में उलझ कर रह गयी और लोक–हित में नहीं प्रयुक्त हो सकी। शास्त्रबद्ध होने के कारण ऋषियों की अनुभूति बुद्धि–विलास तक सिमट कर रह गयी, तो वहीं संतों की सत्यानुभूति संतवाणी में अलग–अलग ढंग से अभिव्यक्त हुई है। किसी को

राम या केशव तो किसी को करीम या रहीम के रूप में अनुभूति संत परम्परा में होती है। कबीर से लेकर रामतीर्थ तक सभी संतों ने स्वानुभव को नए रूप में सहज अपनी भाषा में प्रस्तुत किया है। संत कबीर ने एक नवीन युग संस्कृति का निर्माण किया है, जिसकी प्रमुख विशिष्टताएं अधोलिखित है – 1. विभिन्न धर्मों के वाह्य आडम्बरों की आलोचना एवं एक परमतत्व का समर्थन 2 वैचारिक स्वतंत्रता और सर्वोदयी समाज की स्थापना पर बल 3. आगम निगम के प्रमाण से बाहर निकलकर स्वानुभाव के आधार पर अपने मत की स्थापना।

कबीर ने नाथ सम्प्रदाय, हठयोग, सहजिया संप्रदाय, शाक्तमत, बौद्ध ध्यानमार्ग, इस्लाम धर्म के कलाम और हिन्दु धर्म के कर्मकाण्डों की निन्दा की है। वे मूर्ति पूजा एवं ग्रन्थ पूजा दोनों को अस्वी. त करते हैं जिसके परिणामस्वरूप उनकी धर्म साधना स्वतंत्र है और एक नवीन सामाजिक मार्ग प्रशस्त करती है।

आचार्य पाण्डेय की दृष्टि मे नया वेदान्त करुणामूलक समाज को महत्व प्रदान करते हुए जाति–पाति के भेद को पूर्णरूपेण अस्वीकार करता है। सभी हरि के जन हैं और एक समान है और इस प्रकार 'हरि को भजै जो हरि का होई/प्राचीन (पारंपरिक) वेदान्त में भी सिद्धान्तः सभी को आत्मस्वरूप (आत्मैवेद सर्व) माना गया है, किन्तु, व्यवहार में धर्म, जाति–वर्ग सभी स्तरों पर भेद चरम है। संतों ने भेद–भाव को मानव निर्मित बताया है। हर घट में चूंकि परमात्मा का वास है, अतः यहां कुछ भी तुच्छ या निषिद्ध नहीं है। किसी को तुच्छ समझना परमात्मा का अपमान है और स्वयं अपने को नीचे गिराना है। कबीर ने उचित ही कहा है बेगरि नाम धराये, एक मटिया के भांडे" और जिस दिन समाज एक महान सत्संग बन जायेगा उस दिन सर्वत्र समरसता एवं शान्ति स्थापित होगी। शंकराचार्य व्यवहार में द्वैतवादी एवं परमार्थ में अद्वैतवादी है जबकि संत कबीर व्यवहार एवं परमार्थ दोनों में अद्वैतवादी है। शंकराचार्य शब्द प्रमाण को महत्व प्रदान करते हुए श्रुतिसम्मत ज्ञानमार्ग के पोषक हैं तो वहीं कबीर स्वानुभव पर आधृत भाव–भक्ति को प्रतिष्ठित करते हैं। आचार्य शंकर ने भक्ति को मुक्ति के नीचे रखा है जबकि संत कबीर इन दोनों को समकक्ष स्वीकार करते हैं। आचार्य पाण्डेय ने यह विचार दृढ़ता से प्रतिपादित किया है कि जन–भाषा में होने के कारण नया वेदान्त जन वेदान्त हो गया क्योंकि साधारण जनता के लिए यह अत्यन्त सुलभ एवं सुग्राह्य है तो वहीं प्राचीन वेदान्त संस्कृत भाषा में होने के कारण जन सुलभ एवं लोकप्रिय नहीं हो सका। जन वेदान्त के आशातीत प्रचार एवं लोकप्रियता से क्षुब्ध होकर पुरातनपंथियों ने संतों पर व्यंग्य करते हुए कहा कि कलियुग में सभी वेदान्ती हो गये हैं (कलौ वेदान्तिनः सर्वे)। इस व्यंग्य में किन्तु यथार्थबोध है क्योंकि नये वेदान्त ने वस्तुतः कलियुग में सभी को वेदान्ती बना दिया है, अर्थात् यह वर्तमान का जीवन्त जीवन दर्शन है। नये वेदान्त केसरी के रूप में संतों ने अपनी रहस्यानुभूति का रसास्वादन साधारण जनता को भी करा दिया है। संतमत की यह सबसे महत्वपूर्ण उपलब्धि एवं राष्ट्र–गौरव का परिचायक है। प्राचीन वेदान्त एवं नवीन वेदान्त में भाषा–भेद को संत रज्जब ने इस रूप में प्रस्तुत किया है।

वेद सुवाणी कूप जल, सू प्रापति होय।
सबद साखि सरवर सलिल, सुख पीवै सब कोय।

(अर्थात् वेदवाणी कूप–जल है, जो थोड़े लोगों को उपलब्ध है। संत वाणी (नया वेदान्त) तलाब का जल है, जो सर्वत्र सबको सुलभ है।)

आचार्य संगम लाल पाण्डेय ने अपने महत्त्वपूर्ण शोध आलेख आधुनिक भारतीय दर्शन एवं कबीर" में यह प्रतिपादित किया कि आधुनिक भारतीय दर्शन का जन्म संत–साहित्य से हुआ और

जिसके सशक्त कर्णधार संत कबीर हैं। यह भ्रांत धारणा है कि भारत में आधुनिक युग का सूत्रपात आंग्ल भाषा के प्रवेश से हुआ है। आंग्ल भाषा ने केवल पुनर्जागण का कार्य किया है जबकि वस्तुतः संत परम्परा में ही रचनात्मक कार्य संभव हुए हैं। स्वामी रामकृष्ण परमहंस, विवेकानन्द, रामतीर्थ, श्री अरविन्द, महर्षि रमण, महात्मा गांधी आदि उसी संत–परम्परा के अन्तर्गत आते हैं जिसके प्रवर्तक संत कबीर थे।[1] आचार्य पाण्डेय ने एक अन्य शोध आलेख साधु निश्चल दास आधुनिक वेदान्त के जनक में यह प्रस्तावित किया कि रामचरितमानस के पश्चात् साधु निश्चल दास का मालिक ग्रंथ विचार सागर है जो हिन्दी (गद्य एवं पद्य) में विरचित है। वे "विचार सागर" में गर्वोक्ति देते हैं कि यदि वेद में ही तत्वज्ञान तो सारे प्रकरण ग्रंथ व्यर्थ सिद्ध हो जाते।

ब्रह्मरूप अहे ब्रह्मवित, ताकी वाणी वेद ।
भाषा अथवा संस्त्त, करत भेद भ्रम छेद।[2]

(अर्थात् ब्रह्मवेत्ता की वाणी ही वेद है, फिर चाहे वह संस्कृत में हो या अन्य भाषा में।)

आचार्य पाण्डेय ने रहस्यवाद, भक्तिशास्त्र एवं अध्यात्मविद्या की दृष्टि से संत एवं भक्त के अंतर को अनुचित बताया है। वे अपने मत के समर्थन मे नाभादास के "भक्तमाल" और उसकी परम्परा को प्रमाण के रूप मे प्रस्तुत करते हैं। नाभादास ने संत कबीर एवं रैदास आदि संतों के साथ भक्त तुलसीदास एवं सूरदास आदि भक्तों के चरित्र, उत्कर्ष एवं तित्व का वर्णन करके सिद्ध किया है कि भक्त संत है और संत भक्त है। सभी संतों ने मध्यकाल में भक्ति को ही भगवान प्राप्त करने का सबसे सरल उत्तम साधन स्वीकार किया। यह भक्ति संतों के सत्संग से होती है, अर्थात् संत के समागम से ही भगवान का ज्ञान होता है। आचार्य पाण्डेय संत रविदास के विचार को इस रूप में उद्धृत करते हैं कि प्रेम में प्रतिदान है, अहंकार नही है, कामना है, आत्म–प्रशंसा नही है, योग उपवास नहीं है, इन्द्रिय–ताड़न नही, प्रेमाश्रयी भक्ति केवल प्रेम के लिए ही है, प्रेम ही प्रेम आदि, मध्य एवं अंत है।[3]

सभी दर्शन मध्यकाल में भक्ति को भगवान को प्राप्त करने का सबसे सहज साधन अथवा उपाय माना गया है और यह भक्ति संत के सत्संग से होती है। हम भारत वर्ष के विभिन्न क्षेत्रों के संतों की एक विशाल परम्परा पाते हैं, जिन्होंने अपनी मातृ भाषा में विपुल संत साहित्य का सृजन किया है। हिन्दी भाषी क्षेत्र में कबीर तुलसीदास, सूरदास, रैदास, दादू, नाभादास, पलटूदास, प्राणनाथ निश्चलदास आदि संत हैं। असम में शंकरदेव, बंगाल में महाप्रभु चैतन्य एवं तथा मिथिला मे विद्यापति संतमत के प्रवर्तक है। गुजरात में नरसी मेहता, पंजाब मे नानक तथा महाराष्ट्र में ज्ञानदेव, नामदेव, एकनाथ, रामदास और तुकाराम इस आन्दोलन के उन्नायक संत है। उड़ीसा में पंचसखा अर्थात् बलरामदास, जगन्नाथदास यशोवन्तदास, अनन्तदास एवं अच्युतानन्ददास इस धारा के प्रवर्तक हैं। आन्ध्र प्रदेश में वेमना एवं कर्नाटक प्रदेश में पुरन्दर दास इसी मत के प्रवर्तक हैं। तमिलनाडु के अलवार संत अथवा भक्त इसी मार्ग मूल प्रवर्तक है और उनके ही गीतों में भक्ति दर्शन सर्वप्रथम अपने उत्कृष्ट रूप में अवतरित हुआ। संतमत की प्रमुख विशेषताएं हैं, भक्ति पर बल देना, सत्संग महात्म्य, गुरु को महत्व प्रदान करना एवं स्वानुभव को प्रतिष्ठित करना है। संतमत अनेक पंथ एवं धार्मिक संप्रदाय में विभक्त तो है किन्तु इनमें एक वाक्यता भी है। संत दादू कहते है :–

जे पहुंचे ते कहि गए तिनकी एक बात।
सब सयाने एकमत, उनकी एक जात।
जे पहुंचे ते पूछिए, तिनकी एक बात।
सब साधी का एकमत विच के बारह बार।

सभी संतों में एकमत है जिसे संत विनोबा भावे इस रूप में व्यक्त करते हैं: –

स्वकर्मणि समाधान परदुःख निवारणम्

नामनिष्ठा, सतां संग, व्रत–परिपालनम्।

(अर्थात् देह की आजीविका के लिए कोई उद्योग निरंतर करते रहना (स्वकर्मणि समाधान), अपने देह से दूसरों की यथाशक्ति उपकार करना (परदुःख निवारण), नामसाधना का अभ्यास करना (नामनिष्ठा), सत्संग करना (सतां संगः) और अहिंसा, सत्य, अस्तेय, अपरिग्रह एवं ब्रह्मचर्य का निष्ठापूर्वक पालन करना संतों का लक्षण है।)

संतमत को नवीन वेदान्त से आचार्य पाण्डेय अभिहित करते हैं जिसमें जाति व्यवस्था और उससे जनित भेदभाव का उन्मूलन करते हुए भक्तिपरक नामकरण का विधान करता है, क्योंकि इसके अन्तर्गत सभी लोग अपने को हरिजन या भक्ति मानते हैं। यहां एक ओर वाह्य आडम्बरों का खण्डन तो वहीं दूसरे और भक्तिपूर्ण कथनी करनी एवं रहनी की व्यवस्था है। संत सम्प्रदाय का लक्ष्य सत्संग है जो कि वस्तुतः समतामूलक, भक्तिमूलक तथा निजी आर्थिक व्यवस्था वाला संगठन है। सत्संग का मुख्य कार्य सामाजिक एवं धार्मिक समानता का प्रचार–प्रसार करना है और इससे ही प्रेरित होकर प्राणनाथ ने सभी धर्मों की एकता का संगठन बनाया और जिसे कालान्तर में महात्मा गांधी, सर्वधर्म समभाव कार्यक्रम के रूप में विकसित करते हैं। अतः यह विरक्त साधुओं की जमात नहीं है अपितु गृहस्थ भक्तों का संगठन है जो कि उन्हें उत्पादक श्रम एवं अध्यात्म दोनों की शिक्षा देता है। नामदेव, कबीर एवं रैदास आदि संतों ने जीवनपर्यन्त अपने पेशा का कार्य किया है और साथ ही साथ हरिभजन या नाम–स्मरण से भी कभी विमुख नहीं हुए। अतः नया वेदान्त कर्म एवं अध्यात्मभावना का समन्वय करता है और सत्संग इसका मूर्तरूप है। यह आर्थिक एवं अध्यात्मिक जीवन का समन्वित स्वरूप है। संतमत का नया वेदान्त में भक्ति का अत्यधिक महत्व प्रदान करते हुए ज्ञान को उसके अधीन रखा है और इतना ही नहीं भक्ति को मुक्ति से उच्चतर मूल्य के रूप में कल्पित किया गया है। नया वेदान्त विदेहमुक्ति का निराकरण करते हुए जीवनमुक्ति को स्वीकार करता है। मृत्युलोक में मनुष्य होना ही मुक्ति का सोपान है और जीवन मुक्ति इसी लोक में प्राप्य है। प्राचीन वेदान्त में स्वाध्याय का प्राथमिक महत्त्व है, क्योंकि वही ब्रह्मजिज्ञासा का स्त्रोत है। नये वेदान्त में सत्संग इसका स्थान लेता है, जिसमें विवेक एवं भक्ति का समावेश है। कबीरदास सत्संग के अतिरिक्त बैकुंठ को नही मानते हैं। तुलसीदास भी श्रवण अथवा कथन–भक्ति के स्थान पर सत्संग भक्ति को प्रतिष्ठित करते हैं। भाव–भक्ति को मुक्ति से अधिक मूल्यवान समझना ही नये वेदान्त की विशिष्टता है और भाव–भक्ति को ही कर्म की दृष्टि से निष्काम कर्म–योग कहा जाता है। भाव भक्ति में आत्मा एवं माया के सम्बन्ध में व्याख्या प्राचीन वेदान्त से भिन्न है। माया अनिर्वचनीय है, वह दृश्य है किन्तु असत् अथवा निस्सार है। यहां तक प्राचीन वेदान्त एवं नया वेदान्त एकमत है। नया वेदान्त किन्तु इसके आगे बढ़कर यह प्रतिपादित करता है कि आत्मा का भजन करना माया के प्रति कर्म का दृष्टिकोण रखना है। माया मात्र अवबोध एवं अनुभव के परे है, किन्तु उसके प्रति आत्मा की प्रतिक्रिया ज्ञान, भक्ति एवं कर्म तीनों रूप में संभव है। प्राचीन वेदान्त इसके विपरीत माया के संदर्भ में ज्ञान की आत्म–भावना को ही स्वीकार करता है। माया नितान्त असत् नहीं है, अपितु उसके प्रति हमारा कर्म अथवा व्यवहार सत् है। प्राचीन वेदान्त भी माया को सदसद् विलक्षण कहकर उसे कुछ सत्ता प्रदान करता है, किन्तु उसके प्रति कर्म के व्यवहार को असत् मानता है। नया वेदान्त माया में आत्मा की आत्मीयता देखता है। माया आत्मा नहीं है, किन्तु आत्मीय है और इस अर्थ में जगत् की सभी वस्तुएं आत्मीय है। जीवों के परस्पर सम्बन्ध की व्याख्या प्राचीन वेदान्त की तुलना में नवीन वेदान्त में

अधिक तर्कसंगत एवं उचित प्रतीत होती है। प्राचीन वेदान्त में हर जीव में एक ही आत्म तत्व को स्वीकार किया गया है, किन्तु हर जीव के प्रति प्रेम अथवा करूणा का भाव नहीं रखने को कहता है। नया वेदान्त भक्ति प्रधान होने के कारण जीवमात्र के प्रति करूणा की दृष्टि प्रस्तावित करता है।[4] इसी के आधार पर आदर्श करूणामूलक समाज निर्मित होगा, जिसे नया वेदान्त सत्संग की संज्ञा देता है। मनुष्य–मनुष्य का सम्बन्ध सत्संग है और यह सत्संग ही साक्षात् भक्ति है। स्वामी विवेकानन्द इसे दरिद्रनारायण से सम्बोधित करते हैं तो वहीं साधारण जनता इसके लिए पंचपरमेश्वर अथवा जनार्दन पद का प्रयोग करती है।

संदर्भ ग्रन्थ

1. पाण्डेय, संगम लाल, भारतीय दर्शन का सर्वेक्षण, सेन्ट्रल पब्लिशिंग हाउस, इलाहाबाद, पृ० 445
2. साधु निश्चलदास, विचार–सागर पृ० 80
3. पाण्डेय, संगम लाल, एक्जिस्टेंस डिवोशन एण्ड फ्रीडम, दर्शनपीठ, इलाहाबाद पृ० 69–70
4. पाण्डेय, संगम लाल, भारतीय दर्शन का सर्वेक्षण, पृ० 377

सच्चिदानंद ब्रह्म और आनंद–विद्या

डॉ सविता गुप्ता सागर
प्रोफेसर
दर्शनशास्त्र विभाग
डॉ हरीसिंह गौर केन्द्रीय विश्वविद्यालय, सागर (म.प्र)

तत्त्व अन्वेषण की प्रत्यक्–विश्लेषण प्रणाली से मनुष्य को आत्म तत्त्व के रूप में अन्तःस्थित सत्य प्राप्त हुआ तो पराक् बाह्य जगत् के वस्तुनिष्ठ विश्लेषण से परम तत्त्व मिला ब्रह्म। ब्रह्म के स्वरूप विवेचन को लेकर विभिन्न विचारकों के मतानुसार अनेक धारणाएँ विकसित हुई। जिन्होंने अपनी पूर्ववर्ती विषयक चरम तत्त्व की धारणा की अपेक्षा अधिक स्पष्ट व्याख्या की। अन्ततः निर्गुण ब्रह्म की धारणा विकसित हुई और सुदृढ़ बनी। इसी निर्गुण ब्रह्म के स्वरूप का विवेचन सच्चिदानंद रूप से किया गया जिसमें सत् चित् और आनंद अखण्डैक रस है। ब्रह्म' शब्द 'वृह' धातु से व्युत्पन्न है जिसका अर्थ है वृद्धि। वृह' धातु से व्युत्पत्ति सिद्ध ब्रह्म नित्यत्व, शुद्धत्व, प्रकाशत्व, रसत्व, निरतिशयत्व आदि अर्थ का भी द्योतक है। ब्रह्मनंद सरस्वती' शुद्ध की व्याख्या करते हैं कि ब्रह्म राग–द्वेषादि अशुद्धि से रहित है। ब्रह्म के शुद्ध होने का तात्पर्य उसके निर्धर्मक होने से भी है। ब्रह्म निराकार, निर्विकार, निर्विशेष, निर्गुण, अविनाशी, सत्, चैतन्य व आनंद स्वरूप है। उपनिषदों में वर्णित ब्रह्म के स्वरूप के विश्लेषणाधार पर मुख्यतः पाँच पक्ष दृष्टिगोचर होते हैं एकत्व या अद्वयत्व सत्व चित्व आनंदत्व और निर्गुणत्व उपनिषदों में ब्रह्म का निरूपण विधि और निषेध दोनों ही रूपों से किया है। विधि रूप में ब्रह्म सब कुछ और समग्र संसार के कारण का मूल स्रोत होने के साथ सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान, सृष्टिकर्ता, सर्वान्तर्यामी आदि गुणों से युक्त है। वहीं निषेध रूप में नेति नेति' (वह यह नहीं है) कह कर उसका प्रतिपादन किया है। निषेध वाक्य निर्गुण ब्रह्म और विधि वाक्य सगुण ब्रह्म के प्रतिपादक है जो ब्रह्म के पर और अपर रूप को बताते है। इसके साथ ही ब्रह्म का संकेत देने के लिए उसके स्वरूप और तटस्थ लक्षणों का उल्लेख भी उपनिषदो में मिलता है। स्वरूप लक्षण वह हैं जो तत्व की वास्तविक प्रकृति का संकेत देते हैं और तटस्थ लक्षण तत्त्व की प्रकृति नहीं बताते बल्कि उसकी ओर अभिमुख करने का संकेत करते हैं। स्वरूप लक्षण के अन्तर्गत ब्रह्म का सच्चिदानंद होना आता है एवं जगत् को लेकर ब्रह्म में जितने भी विशेषण (सृष्टिकर्ता पालनकर्ता संहारकर्ता, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान इत्यादि) लगाये जाते हैं वह ब्रह्म के तटस्थ लक्षण कहलाते हैं।

ब्रह्म का स्वरूप है "सत्यं ज्ञानमनन्तम् ब्रह्म" सत्य ज्ञान और अनन्त। अनन्तता में आनंद भी है। दोनो में कोई भेद नहीं है इसलिए कहीं–कहीं ब्रह्म को सच्चिदानंद भी कहा है। ब्रह्म के स्वरूप लक्षण से किन्हीं विशेष गुणों या धर्मों का प्रतिपादन नहीं वरन विरोधी धर्मों का निवारण किया जाता है। सत् पद असत् चित् (ज्ञान) पद अज्ञान तथा अनन्त पद अशान्ति का निवारक है। ये तीनों लक्षण अलग–अलग नहीं वरन एक ही है। ब्रह्म अद्वय है। जो सत् है वही चित् (ज्ञान) है और वही आनंद भी है। ये तीनों एक साथ मिलकर ब्रह्म की ओर संकेत करते हैं।

'सत्' सत्तार्थक भाववचन है जो अस भुवि धातु से शत् प्रत्यय लगाकर निष्पन्न होता है जिसका अर्थ है विद्यमान। जो असत् का विरोधी होने के साथ अविद्यमानता का प्रतिपक्षी है। अतः सत् में नित्यता भी है। सर्वोपनिषदसार में कहा है कि अविनाशी वस्तु सत् है। नाम– देशकालादि का नाश होने पर भी

जो नष्ट नहीं होता, जिसका कभी ध्वस नहीं एवं होता जो सदा एक सा रहे वही सत है। शंकराचार्य[5] सत्य की व्याख्या करते हैं जिस रूप में पदार्थ अनुभूति का विषय बनता वह रूप कभी अन्यथा न हो। व्यभिचरित न हो तो वह पदार्थ सत्य कहलाता है। सत्य बाध रहित[6] भी होता है। बाध रहित का तात्पर्य कभी निषेध न होने से है। संसार की समस्त वस्तुओं का निषेध हो जाता है। सभी के निषेध पश्चात् जो शेष रहता है वही सत्य है। त्रिकालाबाध्य होना भावरूप होना और शून्य से विपरीत होना ही सत्य है। तीनों ही लक्षणों का ब्रह्म में होने से एकमात्र ब्रह्म ही सत् है। सत् के साथ वह निरपेक्ष नित्य एवं अपना अधिष्ठान स्वयं है।

ब्रह्म सत् के साथ चित् स्वरूप भी है। चित ज्ञान स्वरूपता का बोधक होने के साथ जडत्व का निषेधक भी है। चित् शब्द चिती सन्ज्ञाने धातु से क्विप प्रत्यय से निष्पन्न होता है। सन्ज्ञान का अर्थ जीवन चेतना एवं अनुभव है। जगत् के चराचर पदार्थों में ज्ञानशून्य अचर (जड़) से विपरीत होना संज्ञान का मर्म एवं ब्रह्म का चित् होना है। जो सम्पूर्ण ज्ञानों के समस्त वृत्तियों के मूल में अद्वितीय ज्ञान स्वरूप सत्ता है वह चित् है। वही चैतन्य का उत्स है। श्रुति[6] में कहा है ब्रह्म चिन्मात्र है, चिदेक रस है, उत्पत्ति विनाश रहित, अप्रतिहत चैतन्य है। उसे प्रज्ञा रूप से जानें। विज्ञान ही ब्रह्म है। चित् की जीवन ज्ञान और प्रकाश त्रिविध अभिव्यक्तियाँ हैं। चेतन की संकुचित शक्ति जड़ता है। जीवन रहित वस्तु जड़ है। जीवन का उद्घाटन प्राण, मन व बुद्धि द्वारा संभव नहीं प्राण देह निर्मित करने वाले भूतों में एक वायु स्वरूप है जो स्वयं किसी के द्वारा नियंत्रित है।

मन और बुद्धि समस्त स्थूल भूतों के सूक्ष्म रूप से बने होने के साथ अपना संयोग किसी देह के साथ रखने या हटाने में समर्थ नहीं है अतः इन सबसे परे स्थित सत् स्वरूप निरपेक्ष ब्रह्म ही जीवन का उत्स है। चित्र में प्रकाश का तात्पर्य जड़ आलोक नहीं वरन् ज्ञानरूपता की अभिव्यक्ति के साथ अपने सम्पर्क में आने वाले सभी को स्पष्ट अभिव्यक्त एवं ज्ञानगम्य बना देना है। ज्ञान में स्वयं प्रकाशत्व भी है। अपनी उत्पत्ति एवं ज्ञप्ति के लिए किसी अन्य प्रकाश की अपेक्षा ना रखना, किसी का ज्ञेय या प्रकाश्य न होते हुए अपरोक्ष व्यवहार के योग्य होना स्वयं प्रकाशत्व है।[7] ब्रह्म ज्ञाता, ज्ञान तथा ज्ञेय की त्रिपुटी से परे नित्य ज्ञान स्वरूप है।

ब्रह्म सत् चित् के साथ अनन्त स्वरूप है। शंकराचार्यानुसार अनन्त शब्द ब्रह्म के अन्तत्व का प्रतिषेध करने हेतु है। वस्तु देश और कालानुसार अनन्तता भी तीन प्रकार की है। व्यापक होने के कारण ब्रह्म में देशगत नित्य होने से कालगत और सबकी आत्मा होने से वस्तु परिच्छेद से परे होने के साथ तीनों ही प्रकार का आनन्त्य भी है।[8] अनन्तता के साथ ही आनन्द है। दोनों में कोई भेद नहीं है। जिस प्रकार सत और सत्ता ज्ञान और चेतना अभिन्न हैं उसी प्रकार अनन्तता व आनंद एक ही है। ब्रह्म का आनंद स्वरूप उसमें दुःखाभाव के साथ उसके सुख–रूप का द्योतक है जो सम्पूर्ण सुखों का स्रोत है। वृहदारण्यक उपनिषद् ब्रह्म के आनन्द स्वरूप को बताती है। ब्रह्म ही सर्वोच्च प्रिय एवं आनंद है। तैत्तिरीय उपनिषद् में आनंद को सम्पूर्ण सृष्टि का स्रोत मानते हुए कहा है आनंद ही ब्रह्म है। इसी आनंद से सब प्राणी उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होने पर आनंद में ही जीवित रहते हैं और अन्त में आनन्द में ही समा जाते हैं। ब्रह्म ही अद्वैत होने से स्वाभाविक परमानंद स्वरूप है, जिसमें आनंद और आनंदी का अभेद है।

सत् चित् एवं आनंद पदों के लक्ष्यार्थ परस्पर भिन्न नहीं वरन् उनमें अद्वय है। अतः सत् चित् और आनंद तीन सत्ताएँ नहीं सत्ता ज्ञान के बिना और ज्ञान बिना सत्ता के नहीं। ज्ञान के बिना आनंद

नहीं होता और आनंद के लिए उसका भासना (सत्ता) आवश्यक है। अतएव सत् चित् और आनंद का पृथकत्व संभव नहीं हैं। यह सत् चित्, आनंद अद्वय तत्व सच्चिदानंद ब्रह्म है।

सृष्टि का मूल तत्व ब्रह्म है जो सच्चिदानंद स्वरूप है। सृष्टि का उद्‌गम स्रोत आनंद है और मनुष्य को आनंद–प्राप्ति कराना लक्ष्य भी जीवात्म भी ब्रह्म स्वरूप होने से सत्, चिद् और आनंद स्वरूप है किन्तु अज्ञान वंश अपने आनंद रूपी आत्मस्वरूप से विस्मृत चराचर जगत् में विभिन्न भोग–विषयों का उपभोग करता हुआ स्वयं को सुखी और दुःखी मानता हुआ शोकसंतप्त रहता है। वह इनसे परे जाकर एक ऐसे आनंद–प्राप्ति की अभीप्सा रखता है जो निर्बाध अनादि अनंत है जिसे पाकर मनुष्य सदैव के लिए शोक–निवृत्त हो जाता और अपने आनंदमय स्वरूप में अवस्थित हो जाता है।

श्रुतियों में प्रतिपाद्य है कि मनुष्य के अज्ञान अभिमान शोक मोह परतन्त्रतादि की निवृत्ति ब्रह्म–विद्या के बिना नहीं हो सकती। यह ब्रह्म–विद्या, ब्रह्मज्ञान का हेतु है। छान्दोग्य उपनिषद् में ब्रह्म–विद्या की तीन प्रक्रियाओं का उल्लेख मिलता है छठे अध्याय में सद् विद्या की सत्–प्रधान प्रक्रिया सातवें अध्याय में आनंद विद्या (भूम–विद्या) की आनंद–प्रधान प्रक्रिया और आठवें अध्याय में चिद विद्या की चिद–प्रधान प्रक्रिया । यह तीनों सत् चित् और आनंद का साधन नहीं वरन उनकी विधा है उनके जानने की कला उनके अधिगम की एक शैली है। सद्–विद्या का पात्र है श्वेत–केतु जो विद्याभिमानी है। आनंद–विद्या (भूम–विद्या) के पात्र नारद हैं जिनमें अभिमान का दोष नहीं है किन्तु वे शोक–निवृत्ति हेतु सविनय जिज्ञासु हैं और चिद् – विद्या के पात्र इन्द्र हैं जो भोगी होने पर भी धैर्यशील हैं। उनका विचार जागृत है और एक सौ वर्ष ब्रह्मचर्य पालन करके भी तत्त्वजिज्ञासा बनाये रखते हैं। सद्–विद्या के प्रकाशक श्वेतकेतु के पिता आरूणि, आनंद विद्या के सनत्कुमार और चिद–विद्या श्री ब्रह्म जी इन्द्र को प्रदान करते हैं। इन तीनो विद्याओं से मिलकर ही छान्दोग्य उपनिषद् की ब्रह्म विद्या पूर्ण होती है जिसके द्वारा मनुष्य ब्रह्म ज्ञान प्राप्त कर अपने सच्चिदानंद स्वरूप को प्राप्त हो जाता है।

छान्दोग्य उपनिषद् में सनत्कुमार ने नारद के लिए आनंद विद्या का उपदेश कर सम्पूर्ण मानव जाति के लिए परमानंद प्राप्ति की विधा का प्रकाशन किया है। नारद सनत्कुमार संवाद ऋषिलोक में है। ब्रह्म के मानस पुत्र देवर्षि नारद ने समस्त कर्तव्यों का अनुष्ठान करने के साथ सारी विद्याएँ भी प्राप्त कर ली। तत्पश्चात् भी उनके कर्म और विद्या से उनकी शोक–निवृत्ति नहीं हुई। अतएव नारद शोक–निवृत्ति हेतु सनत्कुमार के समक्ष सविनय जिज्ञासु है। नारद को सनत्कुमार आनंद–विद्या का जो उपदेश देते हैं वहीं परमानंद का ज्ञान है एवं आत्मा के निरतिशय श्रेय का साधन भी आनंद विद्या का उपदेश है। यो वै भूमा तत् सुखम" अर्थात जो भूमा है व्यापक, विभु है वही सुख है, आनंद है। जो भूमा होगा वह स्वतंत्र होगा। वस्तुत सारे दुःख के मूल में परतंत्रता ही है। ये परतन्त्रता अज्ञान इन्द्रिय मोहादि की है। जैसे ही मनुष्य अपनी सारी परतन्त्रता से मुक्त हो जाता है वह व्यापक हो जाता है, भूमा हो जाता है। उसकी शोक–निवृत्ति हो जाती है। भूमा में पूर्णतः दुःखाभाव है जिसे जानकर मनुष्य परमानंद को प्राप्त हो जाता है।

सनत्कुमार आनंद विद्या की जो विधा बताते हैं वह शाखा चन्द्र न्याय के समान है। दूसरे के द्वारा दूसरे को दिखाने की विद्या को शाखा चन्द्र न्याय कहते हैं। जैसे वृक्ष की शाखा द्वारा चन्द्रमा का निर्देश किया जाता है। उसी तरह नामादि से प्रारंभ कर उसमे विशिष्ट भूमा तत्त्व का निर्देश किया जाता है। यहाँ शिखर बिन्दु की प्राप्ति हेतु जैसे क्रमशः सोपान पर आरोहण करते है वैसे ही नाम से प्रारम्भ कर क्रम से सूक्ष्म से सूक्ष्मतर तत्व वाक्, मन, संकल्प, चित्त, प्राणादि एक से एक विशिष्ट तत्त्व को बताकर उन सबसे विशिष्ट भूमा तत्त्व का निर्देश मात्र किया जाता है। ये सब उसकी ओर निर्देश मात्र

करते हैं स्वयं उसे बताते नहीं। उसका ज्ञान नहीं कराते हैं क्योंकि शब्द नाममात्र है और इन्हीं से विभिन्न कर्मों का सम्पादन होता है। सारा व्यवहार शब्द द्वारा ही सम्पादित है। शब्द और उसका अर्थ, अभिधान अभिधेय से विकार है अतः आत्मा नही है और इनसे भूमा को जाना भी नहीं जा सकता। नारद ज्ञानी थे परन्तु आत्मज्ञान नहीं होने से शोक संतप्त थे। अतः वे शोक निवृत्ति हेतु सनत्कुमार के शरणागत हुए।

सनत्कुमार नारद को आनंद विद्या का उपदेश करते है–नारद अब तक जो कुछ जाना गया है एवं व्यवहार में जो कुछ जाना गया है वह सब नाम ही है। नाम विकार है यथा–घट क्या है? कलश क्या है? कुम्भ क्या है? तो घड़ा। इसी चक्कर में सारी सृष्टि पड़ी हुई है। इसी असत्य के माया जाल में लोग पड़ जाते है और सत् भूमा तत्व को नहीं देख पाते। विद्या–अर्जन पूर्व तापत्रय के कारण शोक होता है और पश्चात् में अभ्यास का बोझ विस्मरण गर्व और गर्व के भंग होने का भय ये सब आ जाते हैं। ह्रदय में बहुत बड़ी शब्द वासना है उसका संक्षेप करना आवश्यक है। नाम ही ब्रह्म है। यह शुद्ध–अशुद्ध रात–दिन अंदर–बाहर अधिकारी–अनाधिकारी को देखे बिना अपने आप रहता है। अतः केवल एक नाम ब्रह्म की उपासना करनी चाहिए।

नाम का उच्चारण तो करने से होता है अतः नाम से कुछ बड़ा हो उसकी उपासना ब्रह्म–दृष्टि से करने का उपदेश सनत्कुमार करते हैं कि एक से एक बड़ा क्रमशः वाक, मन संकल्प, चित, ध्यान, विज्ञान, बल, अन्न, जल, तेज, आकाश, स्मर (स्मृति) और आशा में ब्रह्म–दृष्टि करनी चाहिए। आशा में ब्रह्म दृष्टि करने से सारी कामनाएँ पूर्ण होने के साथ जहाँ तक आशा की गति है वहाँ तक स्वच्छन्द गति हो जाती है। परन्तु आशा ही अंतिम सोपान नहीं है, आगे प्राण है, अतः प्राण में ब्रह्म–दृष्टि रखनी चाहिए। जो प्राण में ब्रह्म–दृष्टि रखता है वह सम्पूर्ण वेदों के ऊपर नाम से आशा पर्यन्त सब पदार्थों से अतीत होकर बोलता है मैं प्राण हूँ। प्राण भी विकार है अनृत है, अज्ञान है इसमें कोई आनंद नही क्योंकि यह व्यापक नहीं है। यहाँ शंका हो सकती है कि विकार भी सत्य ही है क्योंकि श्रुति में[12] कहा है नाम रूप सत्य है और उनके द्वारा यह प्राण ढक गया है। श्रुति[13] प्रमाण है कि प्राण ही सत्य है। यहाँ ध्यातव्य है कि श्रुतियों में इन्द्रियों की विषयापेक्षा से विकार को सत्य कहा गया है परमार्थापेक्षा में नहीं। अतः इन्द्रियों द्वारा ब्राह्म अनुभव से लेकर बुद्धि में सत्य अनुभव करना और बुद्धि के स्वप्रकाश अधिष्ठान का अनुभव करके सत्य जानना दो अलग तथ्य हैं, जिसे सद्–वस्तु का विज्ञान नहीं होता वह तेज जल, अन्नादि को भी सद् रूप मानता है। परन्तु इन सबसे परे परमार्थ सत्य है। उसी का विज्ञान अपेक्षित है वही भूमा है, आनंद रूप है।

परम सत्य का विज्ञान मनन से होता है। मनन का तात्पर्य तर्क–वितर्क नही वरन मति भाव है अर्थात् मन्तव्य विषय का आदर पूर्वक चिन्तन करना। मनन के लिए श्रद्धा और श्रद्धा के लिए निष्ठा आवश्यक है। निष्ठा इन्द्रियों के संयम और चित्त की एकाग्रता से होती है। इस तरह क्रमश वृत्ति, निष्ठा, श्रद्धा, मनन और विज्ञान होता है। विज्ञान ही सत्य को प्रकाशित करता है जो भूमा है महान् है। जिससे बड़ा और कोई नहीं है। जिसमें देश–काल–वस्तु सजातीय विजातीय, स्वगत् भेद का कोई बन्धन नहीं है। यही भूमा सुख है, आनंद है परमानंद है। छान्दोग्य[14] "उपनिषद् में कहा है जो भूमा है, व्यापक है, वही सुख है, आनंद है। जो अल्प है वह सुख नहीं होता वह आनंद भी नहीं होता। कारण जो अल्प है उससे कुछ न कुछ वृहत् होता है। अतएव अल्प सुख–तृष्णा की वृद्धि करता है। तृष्णा दुःख का बीज है। अतः जिससे वृहत् कोई नहीं, जो व्यापक है वह भूमा ही सच्चा सुख है, आनंद है। उसमें तृष्णादि दुःख–बीजों की संभावना ही नहीं रहती है। वह अपनी ही महिमा में प्रतिष्ठित है। उसको प्रतिष्ठित होने

के लिए किसी की भी आवश्यकता नहीं। वह प्रतिष्ठा एवं आश्रय रहित है।"[15] वह भूमा ही नीचे है, ऊपर है, पीछे, सामने, बायें। इदम के रूप में जो भी प्रतीति है वह सब भूमा ही है। वह एक अजन्मा आकाशवत् सर्वत्र परिपूर्ण अन्य[16] से सर्वदा मुक्त है–ऐसा अनुभव जो कर लेता है उसका अज्ञान सर्वदा के लिए नष्ट हो जाता है और शोक की निवृत्ति हो जाती है। क्योंकि शोक अज्ञान का कार्य है और जब कारण (अज्ञान) नहीं हो तो कार्य (शोक) कैसे रहेगा ऐसा आत्मज्ञ, आत्मरति, आत्मक्रीड, आत्ममिथुन और आत्मानंद हो कर जीवन काल में ही स्वराज्य पद पर अभिषिक्त हो परमानंद को प्राप्त हो जाता है।

संदर्भ–सूची

1. ब्रह्म सूत्र शांकर भाष्य 1/1/1
2. शुद्ध रागद्वेषाय शुद्धि रहितम् न्याय रत्नावली पृ 8।
3. तत्त्वोपदेश 18
4. यद्रूपेण यन्निश्चित, तद्रूप न व्यभिचरति तत्सत्यम्।
   तैत्तिरीय उपनिषद् शांकर भाष्य। 2/1/1
5. सत्यत्वं बाध राहित्यं। पंचदशी 3/29
6. प्रज्ञेत्येनदुपासीत्। विज्ञानमानन्दं ब्रह्म। वृहदारण्यक उपनिषद् 4/1/2, 3/9/28
7. अद्वैत सिद्धि–पृ. 783
8. न व्यापित्वादेशतो नित्यत्वान्नाशि कालत।
   न वस्तुतोपि सार्वात्म्यादानन्त्यं ब्रह्मणि त्रिधा ।। पंचदशी 3/35
9. वृहदारण्यक उपनिषद् – 2/4/5
10. आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्। आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायंते।
    आनन्देन जातानि जीवन्ति। आनन्द प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति।।
    स एव परमानन्द स्वाभाविकोऽद्वैतत्वादानन्दानन्दिनोश्चाविभागोऽत्र ।।
    तैत्तिरीय उपनिषद 3/6/12/8/4
11. छान्दोग्य उपनिषद् 7.23.1
12. नामरूपे सत्यं ताभ्यामयं प्राणश्छन्न। वृहदारण्यक उपनिषद् 1.6.3
13. प्राणावै सत्यं तेषामेव सत्यम् । वही 2.1.20
14. यो वै भूमा तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति। भूमैव सुखम्।
    छान्दोग्य उपनिषद् –7.23.1
15. स्वेमहिम्नि यदि वा न महिम्नीति। छान्दोग्य उपनिषद् 7.24.1।
16. स एवाधस्तात् स पश्चात् स उपरिष्ठात् स पुरस्तात् स दक्षिणतः स उत्तरतः स एवेद सर्वमिति। छान्दोग्य उपनिषद् 7.24.1

कबीर दर्शन में धर्म का वास्तविक स्वरूप

डॉ. रंजना शर्मा
अध्यक्ष दर्शनशास्त्र विभाग
दुर्गा महाविद्यालय, रायपुर (छ.ग.)

यह विडम्बना ही है कि इस समाज में धर्म की सबसे ज्यादा गलत व्याख्या हुई तथा सबसे ज्यादा लोगों ने धर्म की गलत अवधारणा को ग्रहण किया। धर्म के वास्तविक स्वरूप को न समझ कर उसके बाह्य आडम्बरों को ही धर्म समझा गया। धर्म कर्मकाण्ड नही है इस बात को कबीर ने हमेशा अपनी वाणी द्वारा लोगो को समझाने का प्रयास किया। वास्तव में धर्म ईश्वर साक्षात्कार, आत्म साक्षात्कार है। इस लक्ष्य तक पहुंचने के लिए अलग अलग समय में अलग अलग समाज मे समय काल परिस्थिति के अनुसार अलग अलग विधानों का प्रावधान किया गया। लेकिन मनुष्य ने साधन को ही साध्य समझ लिया माध्यम को ही अभीष्ट लक्ष्य समझ लिया। ये समस्त माध्यम मानव कल्याण मार्ग से होकर अभीष्ट गंतव्य तक पहुंचते हैं।

कबीर ने धार्मिक आडम्बरों पर प्रहार करते हुए धर्म के वास्तविक स्वरूप से लोगो को परिचित कराने का प्रयास किया। साधारण मनुष्य धार्मिक कर्मकाण्ड व धार्मिक आडम्बरों में इतना उलझ जाता है कि उसी को धर्म समझने लगता है। कबीर धर्म के वास्तविक स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए धर्म को आच्छादित करने वाले कर्मकाण्ड आडम्बर को जन मानस से हटाने का प्रयास किया और कहा कि केवल कपड़ा रंगवा कर पहनने से कान को चिरवा (कटवाकर) कर बड़े बड़े कुण्डल पहनने से, लम्बे लम्बे बाल बढ़ाकर जटा बनाने से, दाढी बढ़ाने से, धूनी रमाने से, बड़ी बड़ी ज्ञान की बात करने से कोई ज्ञानी नहीं हो जाता और न ही मृत्यु के जाल से यमराज से बच सकता है। मनुष्य को बाह्य आडम्बर करने के बजाय अपने मन को ईश्वर प्रेम में रंगना चाहिये – मन न रंगाये, रंगाये जोगी कपड़ा।

आसन मारि मंदिर में बैठे, ब्रम्ह–छांडि, पूजन लागे पथरा।
कनवा फड़ाय जटवा बढ़ौले, दाढ़ी बढ़ाए, जोगी होई गैले बकरा।
जंगल जाय जोगी धुनिया रमौलें, काम जराय जोगी होय गैले हिजरा।
मनवा मुंड़ाय जोगी कपड़ा रंगौले, गीता बाँच के होय गैले लबरा।
कहहिं कबीर सुनो भाई साधो, जम दरवरजा बांधल जैबे पकड़ा।।

आगे कबीर दास जी कहते है :–

माला फेरत जुग भया, फिरा ना मन का फेर कर का मनका डार दे, मनका मनका फेर।।

मन की माला फेरने वाला ही ज्ञानी है। कर की माला तो आडम्बर है –

माला पहिरै मनमुसी, तायै कछु न होई, मन माला को फैरता जग उजियारा सोई।।

कोई भी व्यक्ति केवल सिर मुंडवाकर सन्यासी ज्ञानी नही हो जाता, जब वह अपने मन के विकारों को मूंडता है, समाप्त करता है तब ही वह ज्ञान प्राप्त करता है –

कैसो कहा बिगडिया जो मुंडे सौ बार, मन को काहे न मूडिये, जामै विषय विकार ।।

ईश्वर तो सत्य का प्रेमी है इससे कोई फर्क नही पड़ता कि, केश लम्बे है या केश रहित, मुंडे हुए है –

साई आगे साँच है, साई साँच सुहाना, चाहे बोले केस रख, चाहे घैट मुंडाय।

मन में अंदर विकारों की अंगार भरकर कोई साधु नही हो जाता, भले ही वह अपनी वेशभूषा में चाहे जितनी माला पहन ले और साधु का भेष धारण कर ले –

साधु भया तो क्या भया, माला पहिरी चार, बाहर भेष बनाइया भीतर भरी अंगार।।

कबीर दास जी कहते हैं

तन को जोगी सब करें मन को करै न कोय,
सहजे सब सिधि पाइये, जो मन जोगी होय।

कबीर दास जी कहते हैं–जो मन के विकारों को समाप्त कर देते हैं, उनके साथ रहना चाहिये। कबि तो कोटि कोटि हैं, सिर के मूडे कोर, मन के मूडे देखी करि, ता संग लीजै ओट। आजकल सभी धार्मिक स्थलों पर बड़े बड़े लाउडस्पीकर लगाये जाते हैं, भजन, कीर्तन, अजान सब शोर मचा मचाकर किया जाता है, जबकि ध्वनि प्रदूषण को रोकने लिए सभी पर्यावारणविद क्रियाशील हैं। अन्य देशों में जहा गाड़ी का हार्न भी नहीं बजाया जाता, हमारे यहां जोर जोर से लाउडस्पीकर पर ईश्वर प्रार्थना की जाती है। इसको रोकने लिए उस समय कबीर ने कहा था कंकर पत्थर जोडके मस्जिद लई बनाय, ता चढ़ मुल्ला बांग दे, का बहिरो भयो खुदाय ।

मस्जिद तो यहां धार्मिक स्थल का प्रतीक है। वास्तव में क्या ईश्वर बहरा है जो हम चिल्ला, चिल्लाकर लाउडस्पीकर लगाकर उसको अपनी बात बताना चाहते हैं। ना जानै साहब कैसा है। मुल्ला होकर बांग जो दैवे, क्या तेरा साहब बहरा है। कीड़ी के पग नेवर बाजे सो भी साहब सुनता है।

माला फेरी तिलक लगाया, लंबी जटा बढ़ाता है।
अंतर तेरे कुफर करारी, यो नहीं साहब मिलता है।

कबीर दास जी कहते है कि खुदा तो कीड़े मकौड़ों के चलने से जो आवाज होती है उसे भी सुनता है, फिर तू बांग क्यों देता है। ईश्वर तो धीमी से धीमी आवाज भी सुन लेता है। कबीर दास जी समाज में साम्प्रदायिक सौहार्द की स्थापना करते हुए कहते है कि हिन्दू मुसलमान दोनो एक है, दोनो ही माटी के पुतले हैं दोनो ही मनुष्य हैं। हिन्दू कहे तो मैं नहीं, मुसलमान भी नहीं। पांच तत्व का पूतला, गेबी, खेल माही।। अर्थात मैं (मनुष्य) न तो हिन्दू हूँ और न ही मुसलमान बस इस गैब (जगत) के खेल में पांच तत्त्व का पुतला हूं।

कबीर धार्मिक संघर्ष को दूर करने के लिए ईश्वर एक है की अवधारणा पर जोर देते हैं और धार्मिक सौहार्द व सदभावना को स्थापित करते हैं। यह मनुष्य की अज्ञानता है कि वह ईश्वर व अल्लाह को अलग अलग समझता है व एक का निवास स्थान पूरब तो दूसरे का पश्चिम मानता है।

पूरब दिसा हरि को बासा, पश्चिम अलह मुकामा,
दिल में खोज दिलहि में खोजी इहै करीम रामा।

वास्तव में राम रहीम (करीम) सबका निवास ह्रदय में है न कि पूरब पश्चिम।।

जो खोदाम मसजीद भसतु है और मुलुक केहिकेश,
तीरथ मूरत राम निवासी बाहर करे को हेरा।।

यदि खुदा केवल मस्जिद में बसता है तो यह दुनियां किसकी है। अगर राम का निवास केवल तीर्थ स्थान की मूर्तियों में है तो फिर उस स्थान के बाहर क्या है (किसका नियास है) कबीर कहते है–

जेते औरत मरद उपानी सो सब रुप तुम्हारा
कबीर पोंगड़ा अलग राम का, सो गुरु पीर हमारा।

औरत और मर्द सब ईश्वर के ही रूप है। कबीर अल्लाह व राम दोनों की संतान है वही गुरु, है और वही हमारा पीर है।

तोर हीरा हिराइल बा किचड़े में।
कोई ढूंढे पूरब कोई पश्चिम, कोई ढूंढे पानी पथरे में।
दास कबीर ये हीरा को परखे, बांध लिहले जियरा के अंचरे में।।

तुम्हारा हीरा कीचड़ में खो गया है. कोई उसे पूरब में तो कोई उसे पश्चिम में ढूंढ रहा है। कोई पानी व कोई पत्थर में ढूंढ रहा है। किंतु कबीर दास उसी हीरे को पहचानते है, और उसे अपने हृदय के आंचल में उन्होंने बांध लिया है। मोको कहाँ ढूंढे बन्दे, मैं तो तेरे पास में, ना मैं देवल ना मैं मसजिद, ना काबे कैलास में। ना तो कौन क्रिया कर्म में नहीं योग वैराग में कहें कबीर सुनो भाई साधो सब स्वासों की स्वांस में।

इससे अच्छा ईश्वर स्थान बताने वाला दोहा दूसरा नहीं होगा कि ईश्वर हर सांस में हमारे अंदर मौजूद है, हमारे पास है। वह न तो मंदिर न मस्जिद, न काबा, न कैलाश, न कोई क्रिया कर्म न भोग न वैराग में है।

हिन्दू कहत है राम हमारा, मुसलमान रहमाना,
आपस में दोउ लड़े मरतु हैं मरम कोई नही जाना।

हिन्दू मुस्लमान राम हमारा है, रहीम हमारा है कहकर आपस में लड़ते मरते रहते है किंतु वास्तव में किसी ने भी मर्म अर्थात् वास्तव में ईश्वर है क्या, यह नहीं जाना है। ईश्वर है क्या?
कबीर कहते हैं–

"माटी एक भेष धरि नाना, सब में ब्रम्ह समाना।

कबीर पूछते हैं –

दुई जगदीस कहां ते आया, कहु कवने भरमाया।

अल्लाह राम करीमा केसो, हजरत नाम धराया, गहना एक कनक ते गढ़ना, इनि महँ भाव न दूजा, कहन सुनन को दूर करि पापिन, इक निमाज इक पूजा, वही महादेव वही अहमद, ब्रम्हा आदम कहिये।

को हिन्दू को तुरूक कहावै, एक जिमी पर रहियें,
बेद कितेब पढे वे कुतुबा वे मौलाना व पांडे ।।
बेगरि बेगरि नाम धरामें, एक मटिया के भांडे,
कहंहि कबीर वे दूनों भूले, रामहि किनहूँ न पाया।।

दो ईश्वर कहां से हो गये किसने तुम्हें भ्रमित किया है। अल्लाह राम सब उसी प्रकार एक है जिस प्रकार एक स्वर्ण से अनेक गहने बनते है। उनमें दो भाव नहीं होता, सब स्वर्ण है। इसी प्रकार महादेव मुहम्मद एक, ब्रम्हा व आदम एक है। हिन्दू मुसलमान, पूजा नमाज़ सब एक है। हिन्दू मुस्लमान दोनों इसी जमीन पर रहते हैं। कोई वेद पढ़ता है कोई कुरान पढ़ता है, कोई मौलाना कहलाता है, तो एक पण्डित कहलाता है। ये नाम अलग अलग है किंतु बने सब एक ही मिट्टी से है। कबीर दास जी कहते हैं हिन्दू, मुसलमान दोनों ही अपने वास्तविक स्वरूप को भूले हैं, दोनों ने ही ईश्वर को प्राप्त नहीं किया है।

ज्यों नैनन में पुतली, त्यों मालिक घर माहि, मूर्ख लोग न जानिए, बाहर ढूंढत जाहि।।

इस ईश्वर की प्राप्ति काम क्रोध, तृष्णा का त्याग करके ही किया जा सकता है

हांसी खैलो हरि मिलै, कौण सहै षरसान, काम, क्रोध, त्रिस्णो तजै, तोहि मिलै भगवान।। जिसका ह्रदय सच्चा होता है ईश्वर का निवास भी वही होता है –

सांच बराबर तप नहीं झूठ बराबर पाप जिस हिरदै में सांच है,
ता हिरदै हरि आप।।

इस ईश्वर की प्राप्ति केवल प्रेम से ही हो सकती है–

भ्रम का ताला लगा महल रे, प्रेम की कुंजी लगाव,
कपट किंवड़िया के रे यहि विधि पिय को जगाव।।

चूंकि ईश्वर की प्राप्ति केवल प्रेम से ही हो सकती है इसलिए घर छोड़कर बाहर जाने की कोई आवश्यकता नही है। ईश्वर की प्राप्ति घर में ही हो सकती है। बस ह्रदय में प्रेम भाव होना चाहिए। घर में जोग भोग घर ही में, घर तज बन नही जावै। घर में जुक्त मुक्त घर ही में, जो गुरु अलख लगावै।

कबीर विद्वता के लिए पोथी पुराण, विशद महान ग्रन्थों के अध्ययन की बात नहीं कहते वह केवल इतना कहते हैं जिसने प्रेम को जान लिया, अपना लिया, वही विद्वान है। ''ढाई आखर प्रेम का पढ़े सो पंडित होय'' जो अपने ह्रदय में दया रखकर जगत के प्रति तटस्थता का भाव रखते हुये कर्तव्य पालन करता है, ईश्वर उसी को मिलता है –

दया राखि धरम को पाले जग सौ रहे उदासी,
अपना सा जिव सबको जानै, ताहि मिलै अविनासी।।

इसी को "वैष्णव जन तो तेने कहिये, जे पीर परायी जाने रे" कहा गया है। अपने जैसा सबको समझो। जिसके अंदर यह भाव आ जाता है, ईश्वर उसी को प्राप्त होता है। इसीलिए कबीर घर छोड़कर ईश्वर प्राप्ति की बात नही कहते है क्योंकि प्रेम व दया भाव से ईश्वर की प्राप्ति होती है इसलिए कबीर घर छोड़कर तीरथ जाने की बात नहीं करते। ऐसा नहीं है कि तीरथ करने से ईश्वर की प्राप्ति हो जायेगी –

तीरथ मे तो सब पानी है होवे नही कुछ अन्हाय देखा।
प्रतिमा सकल तो जड़ है भाई, बोले नही बोलाय देखा।
पुरान कोरान सबै बात है, या घर का परगा खोल देखा अनुभव की बात
कबीर कहै यह, सब है झूठी पोल देखा।
पानी बिच मीन पियासी मोहि सुन–सुन आवै हांसी
घर में वस्तु नजर नहि आवत, बन बन फिरत उदासी।
आत्मज्ञान बिना जग झूठा, क्या मथुरा क्या कासी।

वास्तव में आत्मज्ञान प्राप्त करना ही मनुष्य का लक्ष्य है, यही धर्म है, यही ईश्वर है, यही मोक्ष है, और यह कहीं भी प्राप्त हो सकता है। इसके लिए मथुरा काशी जाने की आवश्यकता नही हैं। कबीर का आत्मज्ञान केवल दूसरो को उपदेश देने के लिए ही नहीं था बल्कि इसका पालन उन्होंने अपने जीवन में भी किया। अपने अंतिम समय में वो इसीलिए काशी छोड़कर मगहर चले गये थे इस मिथ्या धारणा को खण्डित करने के लिए कि काशी में प्राण त्यागने पर मोक्ष की प्राप्ति होती है। कबीर कहते हैं क्या काशी क्या ऊसर मगहर राम ह्रदय बस मोरा। जो कासी तन तजै कबीरा, रामे कौन निहोरा।।

यदि मोक्ष की प्राप्ति काशी स्थान में मृत्यु होने से हो तो इसमें ईश्वर (राम) की क्या महिमा, ईश्वर का क्या प्रताप ईश्वर की क्या कृपा स्थान तो सब बराबर है, असली आवश्यकता आत्मज्ञान प्राप्त

की है जो सत्य प्रेम दया से ही प्राप्त हो सकता है। भ्रम का ताला लगा महल रे, प्रेम की कुंजी लगाव। कपट किवड़िया खोल के रे, यह विधि पिय को जगाव।।

छल कपट से दूर केवल प्रेम भाव से ईश्वर को प्राप्त किया जा सकता है–

चतुराई हरि ना मिले एक बाला की बात,

एक निस प्रेम ही निरधार का, गाहक गोपीनाथ।।

जैसा बोलो वैसा करें तभी ईश्वर प्राप्त होगा जैसी मुख से नीकसे,

तैसी चले चाल पार ब्रम्ह नेड़ा रहै, पलन में करें निहाल।।

जीवन में सत्य से भी कबीर परिचित कराते है और कहते हैं–

पानी केरा बुदबुदा, अस मानस की जात। देखत ही छिप जायेगा, ज्यों तारा परभात ।।

आये हैं सो जायेंगे, राज रंक फकीर, एक सिंहासन चढ़ि चले, एक बांधि जंजीर।।

जीवन के इस सत्य को समझ कर जीवन में आचरण करना चाहिये। कबीर ने इसी सत्य का दर्शन लोगों को कराया और आडम्बर रहित धर्म के वास्तविक स्वरूप से लोगों को परिचित कराया। धार्मिक आडम्बरों पर प्रहार कर वास्तविक धर्म, ईश्वर साक्षात्कार, आत्मसाक्षात्कार को जीवन का लक्ष्य माना जो मनसा, वाचा, कर्मणा जीवन द्वारा ही संभव है जिसमें सच, प्रेम, दया सर्वत्र सबके लिए हैं। आज पुनः समाज में कबीर का पुनर्जन्म उनके विचारों की अलख जगा कर करना चाहिए। जिससे धार्मिक आडम्बर व धार्मिक धर्मांधता को दूर कर धार्मिक सद्भाव को उसके मूल स्वरूप में स्थापित कर कबीर के विचारों के साथ समाज को मानवता के रास्ते पर अग्रसर कर सकें।

संदर्भित पुस्तकें :

01. कबीर वाणी ।

02. कबीर बानी :– अली सरदार जाफरी।

03. कबीर बीजक

सूफी दर्शन एवं भक्ति

डॉ. श्रीमती बी नंदा जागृति
सहा– प्राध्यापक
शासकीय दिग्विजय महाविद्यालय,
राजनांदगांव

दर्शन क्या है?

दर्शन अंग्रेजी के फिलॉसफी शब्द का पर्याय माना जाता है, यह यूनानी भाषा का शब्द है जो दो शब्दो फिलो और साफी से मिलकर बना है। फिलो का अर्थ प्रेम और सूफी का अर्थ ज्ञान है। इस तरह फिलासफी का अर्थ हुआ ज्ञान के प्रति प्रेम। कहते हैं कि दार्शनिक पाइथागोरस से पूछा गया कि क्या आप ज्ञानी है? तो पाइथागोरस ने जवाब दिया नही पर मैं ज्ञान का प्रेमी हूँ।

दर्शन का एक अर्थ आँखों से प्रत्यक्ष रूप से देखना है। दर्शनशास्त्र एक ऐसा शास्त्र है जिसमें आत्मा परमात्मा, जीव–जगत, अनात्मा, प्रकृति, मनुष्य, धर्म, मोक्ष तथा मानव जीवन के उद्देश्य का निरूपण होता है।

इस संसार में जब से मनुष्य जीवन प्रारंभ हुआ तभी से मनुष्य का सोचना प्रारंभ हो गया। कह सकते हैं कि दर्शन का प्रारंभ तभी से हो गया जब से मनुष्य ने सोचना शुरू कर दिया। प्रकृति के सभी अवयव ग्रह, नक्षत्र, आकाश, दिन–रात, जन्म–मृत्यु, आग, हवा, पानी जैसे तत्वों ने मनुष्य को अचंभित किया इसीलिए उसकी उत्सुकता हुई कि यह सब कैसे बना? इसको किसने बनाया? क्यों बनाया? मृत्यु के बाद क्या होता है? अच्छाई–बुराई जैसे तमाम प्रश्न उसके जेहन में उभरने लगे और मनुष्य उसका उत्तर खोजने का प्रयास करने लगा, मनुष्य के इसी प्रयास में 'दर्शन' को जन्म दिया।

हिन्दी साहित्य का मध्ययुग एवं सूफी काव्य धारा –

हिंदी साहित्य का मध्ययुग का प्रथम खंड भक्तिकाल के नाम से अभिहित है। मध्ययुगीन संत कबीर, नानक, रविदास, नामदेव, तुलसीदास, सूरदास, मीरा, जायसी जैसे संतों ने अपने साहित्य के माध्यम से जीवन के शाश्वत् सिद्धांतों का प्रचार किया।

भारत एक धर्म प्रधान देश माना जाता है। यहाँ धर्म और दर्शन की पुष्ट परंपरा रही है। मनुष्य की जिज्ञासा का कोई अंत नही है वह अपनी इस जिज्ञासा की अभिव्यक्ति विभिन्न ग्रंथों का निरूपण करके करता रहा है। "आध्यत्म शास्त्र वास्तविकता अथवा परम सत्ता का संधान करता है, सौंदर्य शास्त्र में कला और सौंदर्य के प्रश्नों की मीमांसा होती है। नीति शास्त्र मानव व्यवहार के अच्छे और बुरे पक्षों पर विचार करता है। तर्कशास्त्र में चिंतन के सही नियमों का निरूपण किया जाता है। अरस्तु तर्कशास्त्र का पहला शिक्षक था।" दर्शन के प्रत्येक संप्रदाय कि अपनी विशिष्ट चिंतन–पद्धति और कुछ बुनियादी विचार है पर प्रत्येक दार्शनिक सम्प्रदाय का लक्ष्य एक ही है, मानव जीवन का कल्याण।

सूफी शब्द की व्युत्पत्ति और अर्थ–

सूफी शब्द का साधारण अर्थ इस्लामी संत समझा जाता है। फारसी का तसव्वुफ हिंदी का सूफी मत है। तसव्वुफ का प्राण है 'इश्के हकीकी' अथवा ईश्वरीय प्रेम सूफी शब्द की व्युत्पत्ति के संबंध में अनेक धारणाएं हैं कुछ लोगों की धारणा है कि मदीना में मस्जिद के सामने सुफा (चबूतरा) था उस पर जो फकीर बैठते थे वह सूफी कहलाए। दूसरे लोगों का कहना है कि सूफी शब्द के मूल में सूफ (पंक्ति) है। निर्णय के दिन जो लोग अपने सदाचार एवं व्यवहार के कारण औरों से अलग एक पंक्ति में खड़े किए जाएंगे वास्तव में उन्हीं को सूफ कहते है। तीसरे दल का कथन है कि सूफी वस्तुतः स्वच्छ

और पवित्र होते हैं। सफा होने के कारण उन्हें सूफी कहते हैं। चौथे दल के विचार में सूफी शब्द सोफिया (ज्ञान) का रूपांतर है। ज्ञान के कारण ही उनको सूफी कहा जाता है। पर अधिकतर विद्वानों का मत है कि सूफी शब्द वास्तव में सूफ (ऊन) से बना है। सूफ धारी ही वास्तव में सूफी के नाम से विख्यात हुए। सामान्य रूप से सूफी का अर्थ है सीधा–सादा पवित्र जीवन व्यतीत करने वाला वह संत जो परमात्मा की भक्ति में लीन रहता है, जो सांसारिक ऐश्वर्य, वैभव से दूर निरंतर परमात्मा के आराधना चिंतन–मनन में रत रहता है। "वह शख्स जो मुहब्बत के वास्ता से मुस्सफा होता है, वह साफी है और जो शख्स दोस्त की मुहब्बत में गर्क हो, गैर दोस्त से बरी हो, वह सुफी होता है।

सूफी मत का मूल उदगम क्षेत्र अरब और ईरान है। अपने उद्भव काल से ही विभिन्न विचारधाराओं से यह मत प्रभावित होता रहा। भारत में सूफी मत कब और कैसे विकसित हुआ इस पर कुछ ठीक ठीक नहीं कहा जा सकता। परंतु यह माना जाता है कि जबसे भारत में मुसलमानों की सत्ता स्थापित होने लगी तभी से सूफियों का आगमन भी आरंभ हो गया ईसा की 13 वी व 14 वीं शताब्दी तक भारत में सूफी मत का बड़ा प्रभाव रहा।

सूफी मत के विभिन्न संप्रदाय :

भारत में सूफी के चार संप्रदाय प्रमुख रूप से माने जाते हैं चिश्ती, सुहरावदी, कादरी एवं नक्शबंदी संप्रदाय।

चिश्ती संप्रदाय –

भारत के सूफी संप्रदायों में चिश्ती संप्रदाय अधिक प्रसिद्ध है। इसके प्रवर्तक ख्वाजा अबू इसहाक शामी चिश्ती माने जाते हैं। इनके उत्तराधिकारी ख्वाजा मुईनददीन चिश्ती अजमेरी ने भारत में चिश्ती संप्रदाय की नींव डाली। ये उच्चकोटि के सूफी संत माने जाते हैं। इनके शागिर्दों में कुतुबुद्दीन बख्तियन, शेख फरीदुद्दीन शकर गंज, निजामुद्दीन औलिया, अली अहमद साबिर और शेख सलीम अधिक प्रसिद्ध है। अमीर खुसरो निजामुद्दीन औलिया के शिष्य माने जाते हैं। कवि उसमान के गुरु भी चिश्ती संप्रदाय के थे।

सुहरावर्दी संप्रदाय

इस संप्रदाय के प्रवर्तक बगदाद के शहाबुद्दीन सुहरावर्दी थे। इन्हीं के शिष्यों ने भारत में इस संप्रदाय का प्रचार किया जिनमें प्रमुख रूप से बहाउदीन जकारिया का नाम प्रसिद्ध है। सैयद जलालुद्दीन ने भी भारत में इस संप्रदाय का प्रचार किया इनके अतिरिक्त जलालुद्दीन तबरीजी, सैयद जलालुद्दीन, मखदूमे जहानिया, बुरहानुद्दीन कुतुबे आलम आदि सूफी संतों ने भारत के पंजाब, सिंध, गुजरात, बिहार और बंगाल में सूफी मत का प्रचार किया। मृगावती के रचनाकार कुतुबन इसी संप्रदाय के मानने वाले थे।"[4]

कादरी संप्रदाय –

इस संप्रदाय के प्रवर्तक अब्दुल कादिर अल जिलानी माने जाते हैं। भारत में इसका प्रचार करने वाले सैयद मोहम्मद गौस थे। दिल्ली के सुल्तान लोदी गौस के शिष्य थे। इस मत के संतों में "शाह कुमेश बहलूल शाह, हाजी मुहम्मद, शाह, लालहुसैन मियाँ मीर आदि के नाम प्रसिद्ध हैं। इनमें शेख मीर मुहम्मद उर्फ मियाँ मीर विशेष रूप से उल्लेखनीय है। दारा शिकोह इनके ही शिष्य थे।"[5]

नक्शबंदी संप्रदाय –

इसके प्रवर्तक ख्वाजा बहारुदीन नक्शबंदी थे। भारत में ख्वाजा बाकी बिल्लाह 'बेरंग' इस संप्रदाय के प्रथम प्रचारक माने जाते हैं।

हिंदी साहित्य में सूफी काव्य परंपरा–

हिंदी साहित्य में सूफी काव्य परंपरा के प्रवर्तक "फिरोजशाह तुगलक बादशाह के राजत्वकाल में मौलाना दाऊद नामक सूफी कवि थे और अब तक उपलब्ध सामग्री के प्रेम काव्य का आरंभ उनके ग्रंथ 'चंदायन' ही से मानना चाहिए।"[5] इसमें नूरक चंदा की प्रेम कहानी है। इसके पश्चात् कुतुबन अथवा कुतबन कवि की रचना 'मृगावती' का नाम आता है। यह भी प्रेमाख्यानक काव्य है। 'मृगावती' के बाद नाम आता है मलिक मुहम्मद जायसी का सुप्रसिद्ध काव्य "पद्मावत" का यह सूफी काव्य परंपरा का महाकाव्य है। सूफी काव्य की विशेषताओं के अध्ययन से इस मत की विशिष्टता का ज्ञान होता है।

सूफी काव्य में उदात्त प्रेम भावना–

सूफी कवियों की मूल भावना-प्रेम भाव का प्रसार है। "उनकी साधना का मूलमंत्र है, प्रेम वे ईश्वर को प्रियतम अथवा प्रियतमा के रूप में देखते हैं। उनकी मुहब्बत में उन्हें दुनिया का सारा मजा मिलता है और वे उसके 'जिक्र' (नाम स्मरण) एवं फिक्र (ध्यान) में दीवाने रहते हैं। सृष्टि के कण–कण में उस परम प्रिय रूप का 'जलवा' देखना और उसके विरह में तड़पना उनके जीवन का प्रधान लक्ष्य है।"[6]

"बे हिजाबी यह कि हर जर्रे में जलवा आशिकार।
फिर भी पर्दा यह की सूरत आज तक देखी नहीं।'

सूफी कवियों ने लौकिक प्रेम के आधार पर अलौकिक प्रेम का वर्णन किया है। इस तरह के वर्णन के लिए कवियो ने रूपकों एवं प्रतीकों का आश्रय लिया तथा पारलौकिक परम प्रिय सत्ता की ओर इंगित किया।

सूफी संत मूलतः दार्शनिक एवं तत्त्व चिंतक थे। जाति, धर्म, देश जैसे विभेदों को वे नहीं मानते थे। धार्मिक आडंबरों का समर्थन नही करते थे। ईश्वर प्राप्ति के लिए प्रेम को ही एक धर्म या उपासना पद्धति मानते थे किसी के लिए कोई उपासना बंधन ये नहीं मानते थे–

"विधिना के मारग तेते।
सरग नखत तन रोवाँ जेते ।।"[8]

सूफी कवि प्रेम को ही सृष्टि का मूल मानते हैं। प्रेम जिसके हृदय में है वह अजर अमर हो जाता है। उसके लिए इहलोक और परलोक दोनों खुला रहता है

"हौं प्रेमी है प्रेम को चंचल ताई बाय
जा मन जामा प्रेम रस मा दोउ जग को राय।।"[9]

प्रत्येक जीवात्मा उस परम सौंदर्यशाली परब्रह्म का बिंब बनना चाहता है

"मुकुर बने चाहा सब कोई, जागो आई परी मुख सोइ।"[10]

जिसके हृदय में परम ब्रह्म के लिए प्रेम है वह दुःख में भी सुख का अनुभव करता है। प्रेम की पीर का कोई उपचार नहीं है–

"जा के देह प्रेम दुख होई, औषद करें न पारे कोई।"

सूफी कवियों के काव्य का मूलाधार लोक कथाएं रही है। लोक कथाओं में वर्णित वियोगी के माध्यम से जीवात्मा के हृदय की वास्तविक तड़प अभिव्यक्त हुई है।

परमात्मा का स्वरूप–

सूफी निर्गुण निराकार परमात्मा की उपासना करते हैं। वह निराकार निर्गुण होते हुए भी संपूर्ण सृष्टि में व्याप्त हैं। सारे नाम रूपात्मक जगत में उसका प्रसार है। वह एक परमात्मा प्रत्येक आत्मा में रम रहा है। संसार में वही एक, दूसरा कोई नहीं जायसी कहते हैं

"एक से दूसर नाहि, बाहर भीतर बझि ले।
खांडा दुई न समाहि, मुहम्मद एक मियान महँ।"

मंझन कवि ने 'मधुमालती में इसी भाव को प्रकट करते हुए हुँमा ऊस्त' (वही सब कुछ है) का पोषण करते है। 'तौहीद' अथवा केवलत्व की भावना का समर्थन किया है। वह गुप्त है, वही प्रकट रूप में सर्वत्र व्याप्त है–

"गुपुत्र रहे परगट जग बे रसै, सरब बियापक सोहू।
दूजा कोई न आहे, और भवा नहिं होई।"[12]

अद्वैतवादी दर्शन

सूफियो ने इस भावना को समझाने का प्रयास किया है कि मनुष्य के शरीर में भिन्न–भिन्न अंग है प्रत्येक अंग का कार्य अलग, रूप अलग परंतु आत्मा एक है। समस्त अंगों में परिव्याप्त है फिर भी आत्मा का कोई विशेष स्थान नही है वह हर जगह है और कहीं नहीं। शरीर के प्रत्येक अंग अपना अलग–अलग कार्य करते हुए दिखाई देते हैं। परंतु वास्तव वह एक आत्मा ही सब कुछ कर रही है। आत्मा नही तो कुछ भी नहीं, सब मिट्टी है। समस्त ब्रह्मांड एक शरीर के समान् है। इसके कण–कण मे परमात्मा विद्यमान है। वह निराकार है, वह किसी विशेष दिशा में नहीं, फिर भी सर्वत्र है। यही सूफियों का 'अद्वैतवाद' है। इस सिद्धांत का भक्त के ह्रदय पर गंभीर प्रभाव पड़ता है। दारा शिकोह ने लिखा है–

'मैने एक कण भी सूर्य से पृथक् नही देखा।
प्रत्येक जल की बूंद स्वयं ही समुद्र है।।"[13]

परमात्मा समस्त जीवों तथा कार्यकलापों में अंतर्निहित है। वह एक होकर अनेक रूप मे व्यक्त हो रहा है। जायसी 'पद्मावती' को ईश्वर का प्रतीक मानते हैं। इसी दृष्टि से उसमें सर्वशक्तिमानता और सर्वव्यापकता का आरोप करके सारे संसार को उसके ही रूप में देखते हैं। वही प्रेम है, वही प्रेमी है और वही प्रिय है। कवि नूर मोहम्मद ने इन्ही भावों को व्यक्त किया है–

"आपुहि माली आपुहिं आपुहिं मंदर फूल पर भूला।
X X X
आपुहि परगट गुपुत अकेला गुरु होई कहुँ कहुँ होई चेला।।"[14]

सूफी काव्य में अद्वैतवाद की झलक स्थान–स्थान पर दिखाई पड़ती है। जीवात्मा में परमात्मा के दर्शन तफक्कुर कहलाता है। तफक्कुर अर्थात बातिल (असत्य) से हक (सत्य) की ओर जाना।

बुंदहि समुद समान, यह अचरज का सौं कहौं?
जो हेरा सो हेरान, मुहम्मद आपुहि आप महँ।।

कवि कहते हैं यह अजीब बात है और मैं इसे किससे कहू हा एक ही बूंद में तो सारा सागर समाया हुआ है। जीव और ब्रह्म में कोई भेद नहीं। यही अद्वैत है।

सौंदर्य बोध :–

सूफी संतों का सौंदर्य बोध अद्वितीय है। वे अपने प्रभु के सौंदर्य पर रीझते हैं। सृष्टि के समस्त सौंदर्य पर उसी परम प्रियतम का रूप देखते हैं। "ब्रह्म की भावना भी वे जमाल और जलाल इन दो रूपों में करते हैं। जमाल में कल्पना करने वाले जमाली केवल ईश्वर की सुंदरता ही को देखते हैं और जलाल रूप में कल्पना करने वाले जलाली उसके ऐश्वर्य शक्ति और शील को।" कवि ईश्वर के असीम सौंदर्य को देखते हैं इसीलिए वह प्रेम का पात्र है वह स्वयं प्रेम रूप भी है। पद्मावती के रूप की चर्चा

करते हुए सूर्य से भी अधिक उसके सौंदर्य की व्यंजना की गई है

"सुरुज किरिन जसि निरमतु ते हिते अधिक सरीर ।

X X X

नयन जो देखा कँवल भा, निरमल नीर सरीर ।

हँसत जो देखा हँस भा, दसन जोति नगर हीर।।"[18]

सूफी संत सूर्य, चंद्र, नक्षत्र सभी में अनंत सौंदर्य युक्त प्रभु की झलक देखते हैं। परम तत्व के परम सौंदर्य रूप पर मुग्ध होकर उससे पावन और पवित्र प्रेम करते हैं। सौंदर्य का प्रेम से अविच्छिन एवं अटूट संबंध है। इसीलिए प्रेम स्वरूप परमात्मा के चिरस्थायी शाश्वत आनंद में तल्लीन रहते हैं–

"है वह रूप दीप उजियारा है पतंग तापर संसारा।"

विरह भाव–

सूफी संत यह मानते हैं कि प्रेम का एकमात्र आलंबन परम तत्त्व है और आश्रय जीवात्मा अथवा समस्त प्रकृति है जो परमात्मा से बिछुड़ जाने पर दुखी पीड़ित और व्यथित हो जाती है। इनके काव्य में कोमलता एवं कठोरता जलाल और जमाल दोनों रूप है। सारी प्रकृति अपने परम प्रियतम से अनादि काल से वियुक्त है। अतः प्रत्येक पल, प्रत्येक क्षण अपने प्रिय के विरहाग्नि में जल रही है। रुदन कर रही है। पहले तो दोनों ब्रह्म और प्रकृति एक थे। धरती सरग मिले हुत दोउ।' और जब से दोनों विलग हुए हैं प्रकृति उनसे मिलने के लिए व्याकुल है, आतुर है संपूर्ण संसार उनके वियोग मे पीड़ित है सारे नक्षत्र, ग्रह, सूर्य, चांद, तारे के साथ–साथ समुद्र एवं नदियां भी विरह मे जल रहे हैं। प्रकृति सर्वत्र प्रेम की पीर में विरह की व्यथा में जल रही है।

संत नूर मुहम्मद जीवात्मा के परमात्मा से बिछड़ने की बात कहते हैं–

"जीव एक राजा का नाऊँ। सो सरीरपुर पाये ठाऊँ ।

रह वह जिउ के एक नरेसू। सो दीन्हा जिउ को वह देसू ।।

जब ठाकुर सो आयसु पावा। तब जिउ राय सरीरहि आवा।

साथी बहुत साथ जिऊ लीन्हा । तब सरीरपुर आवत कीन्हा।।"[19]

बत्रा जी कहते हैं कि उनमें परम प्रियतम के मिलन की प्रबल उत्कंठा, परम उत्सुकता, असीम आतुरता, अपार अधीरता, अनंत आकुलता, अपरिमित कातरता और उत्कट प्रतीक्षा सदैव रहती है। विरह की अग्नि में तप कर कुंदन की भांति शुद्ध एवं निर्मल रूप धारण किए हुए अपने पावन एवं पुनीत प्रेम को प्रकट करने में वे पूर्णरूपेण सिद्धहस्त हैं। वे व्यथित विरहियों के दुखड़े रोते हैं, प्रपीड़ित प्रेमियों के आंसुओं से हार पिरोते हैं, अतः उनके शब्द दर्दोगम के झरने हैं 'प्रेम की पीर की मुंह बोलती तस्वीरें हैं।

निष्कर्ष–

सूफी काव्य का प्रमुख माध्यम प्रतीक है। प्रतीकों के माध्यम से रहस्यमय में निगूढ़ एवं अवर्णनीय भावों एवं विचारों की अभिव्यक्ति है। इन काव्यों के प्रतीक इनकी अमूलय निधियां है। इनमें अद्वैतवाद एवं हठयोग साधना का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है।

सूफियों ने अपने भावों की अभिव्यक्ति के लिए मसनवी, गजल, रुबाई तथा कता जैसे काव्य रूपों या शैली का प्रयोग किया है, विशेष रूप से मसनवी शैली का। श्रीनिवास दास कहते है कि हिंदी सूफी प्रेमकथानक, फारसी–मसनवी के बहुत समीप है। अतः इन्हे हिंदी मसनवियाँ भी कहा जाता है

यद्यपि यह प्रेम कथानक फारसी मसनवी पद्धति पर लिखे गए हैं तथापि इनमें भारतीय महाकाव्य के कुछ तत्वों का भी समावेश हुआ है।

सूफी काव्य की भाषा में प्रांजलता, प्रवाहिता एवं अभिव्यंजना शक्ति है। लोकोक्तियों एवं मुहावरों का स्वाभाविक व्यवहार हुआ है। सरल, सहज, सरस, सजीव है इनकी भाषा में माधुर्य है। संक्षेप में कह सकते हैं कि इनकी भाषा में 'दरिया की रवानी और शीशे की सफाई है। यह प्रेममयी काव्य धारा भारत में बड़े वेग से प्रवाहित हुई और उसने विभिन्न जातियों के ह्रदय की असहिष्णुता की भावना को दूर कर उन्हें सहिष्णुता, सहानुभूति एवं पर दुःख कातरता की भावना से ओतप्रोत करते हुए तत्कालीन समाज में भावात्मक एकता स्थापित करने में महत्वपूर्ण सहयोग दिया।

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. विश्व प्रकाश गुप्त, मोहिनी गुप्त महात्मा गांधी व्यक्ति और विचार, राधा पब्लिकेशन, नई दिल्ली 2011, पृष्ठ 65
2. डॉ. रवींद्र भ्रमर पद्मावत में लोकतत्व, मित्र प्रकाशन, इलाहाबाद, 1965, पृष्ठ 43 44
3. डॉक्टर द्वारिका प्रसाद सक्सेना पद्मावत में काव्य, संस्कृति और दर्शन, विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा 1974, पृष्ठ 36
4. डॉ. द्वारिका प्रसाद सक्सेना – पद्मावत में काव्य संस्कृति और दर्शन, विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा 1974, पृष्ठ 42
5. डॉ. द्वारिका प्रसाद सक्सेना – पद्मावत में काव्य संस्कृति और दर्शन, विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा 1974, पृष्ठ 42
6. श्री निवास बत्रा – हिंदी और फारसी सूफी काव्य का तुलनात्मक अध्ययन, नागरी प्रचारिणी सभा वाराणसी सं. 2027, पृष्ठ 71
7. डॉ रवींद्र भ्रमर पद्मावत में लोकतत्व, पृष्ठ 46
8. डॉ रवींद्र, भ्रमर पद्मावत में लोकतत्व, पृष्ठ 48
9. श्री निवास बत्रा हिंदी और फारसी सूफी काव्य का तुलनात्मक अध्ययन, पृष्ठ 130
10. श्री निवास बत्रा – हिंदी और फारसी सूफी काव्य का तुलनात्मक अध्ययन पृष्ठ 130 11. श्री निवास बत्रा हिंदी और फारसी सूफी काव्य का तुलनात्मक अध्ययन, पृष्ठ 171
12. श्री निवास बत्रा – हिंदी और फारसी सूफी काव्य का तुलनात्मक अध्ययन, पृष्ठ 171
13. श्री निवास बत्रा – हिंदी और फारसी सूफी काव्य का तुलनात्मक अध्ययन, पृष्ठ 171
14. श्री निवास बत्रा – हिंदी और फारसी सूफी काव्य का तुलनात्मक अध्ययन, पृष्ठ 172
15. श्री निवास बत्रा – हिंदी और फारसी सूफी काव्य का तुलनात्मक अध्ययन, पृष्ठ 185
16. श्री निवास बत्रा – हिंदी और फारसी सूफी काव्य का तुलनात्मक अध्ययन, पृष्ठ 188
17. श्री निवास बत्रा – हिंदी और फारसी सूफी काव्य का तुलनात्मक अध्ययन, पृष्ठ 190

कबीरदास का समाज–दर्शन

डॉ. भवानी प्रधान
अतिथि व्याख्याता
शास दिग्विजय स्नातकोत्तर महाविद्यालय
राजनांदगाँव (छ.ग.)

सारांश :

भारतवर्ष संत–महात्माओं, ऋषि–मुनियों की पवित्र धरा है। इस पावन भूमि में समय–समय पर अनेक महामुनियों और संत–महात्मा पैदा हुए, जिन्होंने मानव–समाज को नई दिशा दिखाकर मानवता के कल्याण का मार्ग प्रशस्त किया और सामाजिक, सांस्कृतिक एकता को कायम रखा। ऐसे ही महामनीषियों में संत कबीरदास का स्थान सर्वोपरि है। संत कबीरदास का नाम उन महान संत कवियों में बड़े ही आदर व सम्मान से लिया जाता है, जिन्होंने भारत की महान संत काव्य परंपरा के उच्च आदर्शों को अंगीकार कर स्वयं को स्थापित किया कि वे उच्च कोटि के संत होने पर भी जन समान्य से पूरी तरह जुड़े रहे।

प्रस्तावना

भक्तिकाल के निर्गुण धारा के महात्मा कबीर का समग्र व्यक्तित्व एक निष्कपट, सरल, सहज और सीधा–सादा व्यक्तित्व था। कबीरदास केवल संत–कवि ही नहीं थे, अपितु ये महान युगदृष्टा और सच्चे मार्गदर्शक भी थे। कबीर ने जहाँ धार्मिक और दार्शनिक क्षेत्र में सुधार लाने का प्रयास किया है, वहीं उन्होंने समकालीन जीवन में परिव्याप्त जातिगत ऊँच–नीच और भेद–भाव की भावना, छुआछूत की भावना आदि कुप्रवृत्तियों पर तीव्र प्रहार किया है। समाज सुधारक की दृष्टि से कबीर के दार्शनिक विचार इतने अधिक मार्मिक है कि वे मध्यकालीन समाज पर ही नहीं अपितु आधुनिक कालीन सामाजिक कुरीतियों पर भी पूर्णतः चरितार्थ होती है। उनके सामाजिक सुधार के कुछ महत्वपूर्ण सिद्धांत थे, जिनका भारतीय समाज में काफी प्रभाव पड़ा तथा उन्होंने आजीवन उनके परिपालन कराने की दिशा में प्रयास किया। वे सिद्धांत निम्न है– (1) धार्मिक पाखण्ड का खण्डन, (2) हिंसा का विरोध (3) बाह्याडम्बरो का खण्डन, (4) मूर्ति पूजा का विरोध, (5) पुस्तकीय ज्ञान का खण्डन (6) श्राद्ध कर्म का विरोध, (7) राम रहीम की एकता पर बल (8) सदाचरण पर बल (9) हिंदू–मुस्लिम एकता पर बल, (10) निंदा का खण्डन आदि। निश्चय ही कबीर प्रगतिशील विचारक और महान समाज सुधारक थे।

दर्शन क्या है ?

दर्शन का सीधा अर्थ है आँखों से प्रत्यक्ष रूप से देखना, साक्षात्कार करना। दर्शन वह शास्त्र है जिसमें ब्रह्म, जीव–जगत, आत्मा, प्रकृति, धर्म, मोक्ष, मानव जीवन के उद्देश्य आदि का निरूपण हो। दर्शन शब्द का अंग्रेजी पर्याय फिलॉसफी है, यह यूनानी भाषा के दो शब्दों से 'फिलो' तथा 'साफी' से मिलकर बना है। 'फिलो' का अर्थ है प्रेम और साफी का अर्थ है 'ज्ञान'। अतः फिलॉसफी का अर्थ हुआ ज्ञान के प्रति प्रेम भारत में विश्व–चिंतन के आदिस्रोत वेद है। वेदों से ही छह दर्शनों का विकास हुआ सांख्य, योग, वैशेषिक, न्याय मीमांसा और वेदांत। मध्ययुगीन संत कबीर, नानक, रविदास, तुलसीदास, नामदेव आदि ने साहित्य द्वारा जीवन के शाश्वत सिद्धांतों का जन–साधारण के बीच, प्रचार किया। कबीर के दार्शनिक विचारधारा पर प्रकाश डालते हुए सुप्रसिद्ध आलोचक डॉ. द्वारिका प्रसाद सक्सेना ने लिखा है– कबीर ने अपने दार्शनिक विचारों को अत्यंत सरल तथा सीधी–सादी भाषा में जनता के

सामने प्रस्तुत किया है। इसी कारण कबीर के विचारों की ओर शिक्षित वर्ग उतना आकृष्ट नहीं होता, जितना कि अशिक्षित एवं अल्पशिक्षित वर्ग आकृष्ट होता है। कबीर के इन विचारों में जन–साधारण के हृदय तक पहुँचने की अपूर्व क्षमता है, क्योंकि कबीर ने दर्शन के गूढ़ातिगूढ़ सिद्धांतों एवं विचारों को अत्यंत सरल एवं सुबोध बनाकर जनता के समक्ष रखा है और रात–दिन व्यवहार में आने वाले पदार्थों के उदाहरण द्वारा उन्हें संक्षेप में समझाने की चेष्टा की है।'

धार्मिक पाखण्ड का खण्डन

संत कबीरदास ने हिंदू और मुसलमान दोनों धर्मों में व्याप्त पाखण्ड का खण्डन किया और धर्म के ठेकेदार बनने वाले ढोंगी–पाखण्डी साधु–महात्माओं, पण्डे–पुजारियों तथा मुल्ला–मौलवियों को डटकर फटकार लगाई। धार्मिक पाखण्ड अपनी चरम सीमा पर था तथा धर्म के ठेकेदार स्वार्थ की रोटियाँ धार्मिक उन्माद के चूल्हे पर सेंकते थे। ऊँच–नीच, जाति–पाँति के भेदों ने सामाजिक समरसता की नींव हिला दी थी। मानवता कराह रही थी और इंसानियत दम तोड़ रही थी। ऐसे समय में कबीरदास जी ने निर्भिकता एवं साहसिकता का परिचय देते हुए इन बुराइयों पर करारा प्रहार किया तथा दोनों संप्रदायों को डटकर फटकार लगाई।

"हिन्दू अपनी करे बड़ाई गागर छुअन न देई।
वेश्या के पॉयन तर सौवे यह देखो हिन्दुआई।।
मुसलमान के पीर औलिया मुर्गा मुर्गा खाई।
खाला केरी बेटी ब्याहै घर में करे सगाई।"

कबीरदास जी समाज के कूड़ा–करकट को निकाल कर एक स्वस्थ समाज की कल्पना करते थे। समाज सुधारक की दृष्टि से कबीर का एक महान कार्य सात्विक आचरण पर बल देना माना जाता है।

मूर्ति–पूजा आदि बाह्याडम्बरों का विरोध

संत कबीरदास जी ने मूर्ति पूजा का विरोध करते हुए कहा कि ईश्वर किसी मंदिर में नहीं अपितु अपनी अंतरात्मा के भीतर रहता है। पत्थर पूजने से ही अगर भगवान मिलता तो फिर इंसान को पहाड़ की पूजा करनी चाहिए। इससे भगवान जल्दी प्रसन्न होकर वरदान दे देंगे, क्योंकि उससे बड़ा पत्थर तो कोई हो ही नहीं सकता। कबीर घर में रखी चक्की की उपयोगिता का बखान करते हुए कहते हैं कि जिस चक्की से पिसा आटा हमारा पेट भरता हो उससे महान पत्थर कोई हो ही नहीं सकता।

"पाहन पूजे हरि मिले तो मैं पूजूं पहार।
घर की चकिया कोई न पूजे जेहि का पीसा खाई।"
"माला फेरत जुग गया, गया न मनका फेर।
करका मनका डारि दे, मनका मनका फेर।"[4]

कबीरदास ने किसी प्रकार की मूर्ति पूजा, माला जाप करना, सिर मुड़ाना, तिलक छाप लगाना आदि की कटु आलोचना करते हुए विरोध प्रकट किया है।

ऊँच–नीच की भावना व हिंसा का विरोध

कबीर ने जाति–प्रथा व ऊँच–नीच की भावना का विरोध किया है, वे मानव मात्र को एक समान मानने के पक्षधर थे। कोई ब्राह्मण होने से ऊँचा या शूद्र होने से नीचा नहीं हो जाता। सबके शरीर में बहने वाला खून एक ही रंग का होता है। धर्म के नाम पर समाज में व्याप्त हिंसा के घोर विरोधी थे। हिंदुओं के शाक्त–धर्म में पशुओं की बलि देने की प्रथा थी तथा मुसलमानों में कुर्बानी के नाम पर

पशुओं का वध किया जाता था। कबीर ने इनका डटकर विरोध किया ये मुसलमानों को फटकारते हुए कहते हैं कि तुम लोग दिन में रोजा रखते हो और रात को गाय काटते हो इससे भला खुदा तुम पर कैसे प्रसन्न हो सकता है।

"हमारे कैसे लहू तुम्हारे कैसे दूद।
तुम कैसे बामन पाण्डे हम कैसे सूद।।
दिन में रोजा रखत है राति हनत है गाय ।
यह तो खून वह बन्दगी कैसे खुसी खुदाय।।"[8]

महात्मा कबीर ने हर प्रकार की हिंसा का विरोध किया है। मुसलमानों पर करारा व्यंग्य करते हुए कहते हैं कि दिन में रोजा रखने का ढोंग करते हो और रात को गाय काटते हो, ये कैसा धर्म है। तत्कालीन कुरीतियों पर कुठाराघात करते हुए समाज में सुधार लाने का विशेष प्रयास किया है।

लोक–कल्याण की भावना

कबीर की साखियों में सर्वत्र लोक कल्याण की भावना विद्यमान है। उन्होंने जो कुछ कहा संसार के कल्याण को ध्यान में रखते हुए ही कहा। उन्होंने सच्ची मानवता की प्रतिष्ठा की। वस्तुतः वे मानव–प्रेमी महापुरुष थे। इसलिए उन्होंने नर में नारायण की कल्पना की और सबको ब्रह्म की प्राप्ति का संदेश दिया।

संत कबीरदास जी का आगमन जिस काल में हुआ वह मध्यकालीन युग भारतवर्ष के इतिहास में अत्यंत उथल–पुथल भरा अनेक परिवर्तनों का समय माना जाता है। प्राचीन परंपरा और रूढ़ियों में जकड़ा समाज भयभीत और असमंजस की स्थिति में था। हिंदू समाज सामाजिक परिवर्तन के लिए तैयार नहीं था, किंतु महान संत कबीरदास जी ने समाज के मूलाधार यानि धर्म के माध्यम से धर्म एवं समाज में व्याप्त संकीर्ण विचारधारा को दूर कर समता, स्वतंत्रता और बंधुत्व का संदेश दिया, जिसे आम जनता ने ईश्वर के संदेश की भाँति स्वीकार किया। ऐसे युग में संत कबीरदास का यदि लोगों ने सम्मान किया तो अवश्य ही संत कबीरदास जी का महत्व उन संतों से और भी अधिक बढ़ जाता, जिन्होंने उच्च कुल में जन्म लिया। कबीरदास जी ने जाति–पांति के खिलाफ अपने साखियों के माध्यम से जन–आंदोलन चलाया था, जिसके कारण लाखों लोग अपनी जाति को त्यागकर कबीर पंथ में शामिल हुए थे। उनके ही प्रयासों से समाज में जातीय वैमनस्यता की भावना कम हुई यह सब किया है परोपकार के विचार से लोगों को सुमार्ग पर ले जाने के विचार से अज्ञान में पड़े हुओं को ज्ञान के मार्ग पर लाने के विचार से और रूढ़ियों की जंजीर में बंधे हुओं को मुक्त करने के विचार से कबीर इस लोक–कल्याण के कर्म में पूर्णरूपेण सफल हुए।

दार्शनिकता

करीरदास न केवल एक महान विचारक और भक्त थे, अपितु ये एक बहुत बड़े दार्शनिक महात्मा भी थे। उनका दर्शन भारतीय अद्वैतवाद और वेदांत सूफी संप्रदाय, वैष्णव संप्रदाय, बौद्ध, नाथ, सिद्ध संप्रदाय सहित तत्कालीन अन्य दर्शनों से भली–भाँति प्रभावित। इन्होंने ब्रह्म को सगुण–निर्गुण के घेरे से निकाल कर स्वतंत्र रूप प्रदान किया जीवात्मा परमात्मा का एक अंश है, जिसे माया मोह के बंधन से मुक्त होना चाहिए, तभी वह परब्रह्म का साक्षात्कार करके मोक्ष को प्राप्त कर सकती है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि कबीर के दार्शनिक विचार अत्यंत परिष्कृत, स्पष्ट और बोधगम्य है।

निष्कर्ष

इस प्रकार कबीरदास जी तत्कालीन परिस्थितियों की उत्पत्ति थे। अपने समय की पाखण्डपूर्ण परिस्थितियों में कबीर ने अपने विचार स्वातंत्र्य से काम लेकर सब धर्मों के उपयोगी तत्वों का संग्रह कर एक सरल और सहज धर्म के पालन करने का उपदेश दिया। पाखण्ड एवं मिथ्याडम्बर को मिटाने की अडिग दृढ़ता, साहस तथा रूढ़ियों से लड़ने की अथक साधना परिस्थितियों से ही प्राप्त हुई। उनका समस्त साहित्य तत्कालीन विषम परिस्थितियों से ओत–प्रोत है।

संदर्भ–सूची

1. गुप्त, रामविलास, भक्तिकालीन काव्य, पृ. 21–22
2. दास, श्यामसुंदर, कबीर ग्रंथावली, पृ. 43.
3. वही, पृ. 44.
4. गुप्त, रामविलास भक्तिकालीन काव्य. पृ. 6.
5. दास, श्यामसुंदर, कबीर ग्रंथावली. पृ. 45.

संतों की दृष्टि में धर्म

डॉ. रोशनी मिश्रा
हिन्दी विभाग, सहायक प्राध्यापक
दुर्गा महाविद्यालय, रायपुर (छ.ग.)

हिंदी साहित्य के इतिहास में निर्गुण भक्ति के ज्ञान मार्गी भक्तो को संत कवि कहा गया है। इन संत कवियों द्वारा प्रतिपादित काव्य धारा को संत काव्य धारा कहा जाता है। संत से अभिप्राय उस व्यक्ति से है, जिसने सत्य रूप परमात्मा का साक्षात्कार किया है। निस्वार्थ भाव से लोक कल्याण में रहा है। गोस्वामी तुलसीदास ने रामचरित मानस में लिखा है–

साधु चरित शुभ परिस कपासू, निरस विषद गुणमय फल जासू।
जो सहि दुख परछिद्र दुरावा वंदनीय जेहि जगज स पावा।।

अर्थात संतों का चरित्र कपास के समान शुभ है, जिसका फल निरस, विषद और गुणमय है। कपास निरस होती है, संत चरित्र में विषयासक्ति नही है, इससे वह निरस है। कपास उज्जवल होता है संत का ह्रदय भी अज्ञान और पाप रूपी अंधकार से रहित होता है, अतः वह विषद है। कपास का यह गुण है कि वह तन ढाँकने के काम आता है। संत स्वयं दुःख सहकर भी दूसरों के दोषों का निराकरण करते हैं, इसलिए जगत में वंदनीय यश को प्राप्त करते है।

संत काव्य तत्कालीन सामंत वादी और रुढ़ीवादी परिवेश में मानवतावादी चेतना की प्रखर अभिव्यक्ति हैं। यह उस सांस्कृतिक जागरण की सशक्त अभिव्यक्ति है, जो गहरे मानवीय संस्कारों से उपजी है। इनके द्वारा प्रतिष्ठित सार्वभौमिक मानव मूल्य कालातीत है, अर्थात् हर युग में प्रासंगिक है। संत काव्य परंपरा के लिए बहुत पहले से पृष्ठभूमि तैयार हो रही थी। पूर्व में बौद्धधर्म बज्रयान और सहजयान में परिणत हो गया था। दक्षिण से चला वैष्णव संप्रदाय पूरे देश में व्याप्त था। इन सभी ने संत काव्य को दार्शनिक आधार तैयार करने में योगदान किया। शंकराचार्य एंव उपनिषदों द्वारा प्रतिपादित अद्वैत दर्शन, सूफी धर्म एवं इस्लाम दर्शन इन सबों का एकीकृत रूप ही संत काव्य का दार्शनिक आधार है। उपनिषदों में वर्णित ब्रह्म, जीव, जगत एवं माया के स्वरूप को संतो ने ज्यों का त्यों ग्रहण किया है। इनका साधना पक्ष शंकराचार्य के अद्वैत दर्शन की देन है। नाथ पंथ से संतों ने शून्यवाद, योग साधना और गुरु की महिमा का तत्व ग्रहण किया। इस्लाम के प्रभाव से मूर्तिपूजा एवं अवतारवाद का घोर विरोध किया। सुफी संतों से प्रेम भावना ग्रहण करने के साथ–साथ दाम्पत्य प्रतीकों का प्रयोग अपनी भक्ति की अभिव्यक्ति हेतु किया। बौद्धों और वैष्णवों से इन्होंने अहिंसावाद ग्रहण किया। सिद्ध संप्रदाय की गुह्म शक्तियाँ, उलट बासियाँ और वैदिक परंपराओं और धार्मिक कर्मकाण्ड का विरोध संत काव्य में मिलता है।

संत कवियों की परंपरा का आरंभ 12वीं शताब्दी में जयदेव से होता है। तेरहवी चौदहवी शताब्दी में संत ज्ञानेश्वर, नामदेव, तुकाराम आदि संत इस परंपरा को आगे बढ़ाते है। इसके बाद कबीरदास के गुरु रामानंद आते है। रामानंद जी का भक्तिमार्ग चारों वर्णों के लिए खुला था। ब्रह्म साकार है या निराकार ऐसा भी कोई विवाद न था जहाँ कबीर निगुर्ण उपासक थे। रविदास जी साकार और निराकार दोनों के उपासक थे। वे कहते थे

हरि को भजे सो हरि का होय।

जात पात पूछे नहि कोय।

संत काव्य के शिखर कबीर को माना जाता है। इस परंपरा में अनेक पंथों की स्थापना हुई। नानक पंथ, दादूपंथ, मलूक पंथ अस्तित्व में आते गए। संतों की वाणी जीवन के प्रति आस्था और मानवीय सरोकार से जुड़ी है। उनका मूल्यबोध सामाजिक यथार्थ से उपजा है। इनकी शिक्षा न द्वैतवाद है न अद्वैतवाद सब कहते हैं मालिक एक है तो उससे परे क्या रह जाता है।

एकंकार से समजग उपजिया एकंकार सतनाम। संत अपने सामजिक उत्तरदायित्व का पालन करते हुए ब्रह्म की उपासना करते थे। उनका दृष्टिकोण समन्वयकारी था। बैद्धिक, दैविक, भौतिक तापों में लोग जल रहे हैं। कबीर का कहना है–

आग लगी आकाश में झरपर पड़े अंगार

जो संत न होते जगत में जल जाता संसार ।

आज भौतिकतावादी विचार व्यवहार की आँधी सब जगह व्याप्त है। खुली बाजार व्यवस्था के आगमन से परस्पर प्रेमभाव के स्थान पर गला काट प्रतिस्पर्धा के कारण शत्रुता का भाव फैल रहा है। संवेदन हीनता बढ़ रही है। अध्यात्म और प्रेम भाव के गायक कबीर का कहना है–

कबीर बादल प्रेम का हम पर बरस्या आई।

अंतरि भीगी आत्मा हरि भई बनराई।।

सहजो बाई ने इसी भाव को बिनु घन परत फुहार कहा है।

संतों के जीवन की प्रगाढ़ता में धर्म दर्शन को विकसित किया। जीवन और अस्तित्व उनके लिए सर्वोपरि रहा है। जहाँ धर्म के लिए जीवन को हाशिये पर ले जाकर मठों, मस्जिदों में कैद करने की हठ धर्मिता दिखी, वहीं संतों ने बाह्याडंबरों को खुले शब्दों में नकारा। संत मलूक "राम" का सुमिरन करते हुए कहते है

माला जपौं न कर जपौं, जीभ्या कहौं न राम।

सुमिरन मेरा हरि करै, मैं पायों विश्राम।।

संत रविदास कहते है – मन है चंगा तो कठौति में गंगा कबीर दास का कहना है

पोथी पढ़ि पढ़ि जग मुवा पंडित भया न कोय।

ढ़ाई आखर प्रेम का पढ़े सो पंडित होय।।

संत काव्य हमारी संवेदनाओं के मानवीयता से जोड़ता है। मनुष्य की नई परिभाषा करता है नया धर्म स्वतः है यह नया धर्म लोकधर्म है। जिसके प्रति समूचा संत साहित्य समर्पित है। मध्ययुग में संतों की वाणी की मुखरता मुख्य रूप से समाज अध्यात्म क्रांति का प्रर्वतन है।

मनसा मंदिर धूप धुपाइए। प्रेम प्रीत की माला बढ़ाइए।

चहूँ दिसि दिवला चर रहे, जगमग ही रहयो है।।

मानव का शरीर ही मंदिर है। भारतीय संस्कृति मानवीय संस्कृति है, क्योंकि उसका आधार मूल्य सार्वभौम है। भावना के तल पर ह्रदयगत भावों में लेकर व्यवहार करने वाली विचार धारा वसुधैव कुटुम्बकं को अंगीकार करके चलती है।

मलूका सोई पीर है जो जाने पर पीर।

जो पर पीर न जानई सो काफिर बेपीर।।

बड़ों के प्रति तो हमारे मन में आदर का भाव होता है पर जो पद में हमसे छोटे है जैसे–हमारे अनुचर सेवक आदि में भी भगवान के रूप का ही दर्शन करें। एक बहुरूपिये के ही ये नानावेश हैं। वे ही हमारे प्यारे प्रभु, माता, पिता, बंधु नौकर के वेश में आते है। इन सब भेदों में अभेद है।

सीय राममय सब जग जानी, करहुँ प्रणाम जोरि जुग पानी।

यदि जगत में विश्व बंधुत्व की स्थापना होती तो इस आत्मभाव से ही होगी। जहाँ सारा विश्व हमारा परिवार हो जाता है, वहाँ फिर कैसा संघर्ष? डॉ. राम विलास शर्मा लिखते है– "संत साहित्य भारतीय जनता के प्रेम, आशाओं और वेदना का दर्पण है।

भारतीय संत किन्हीं धर्मग्रंथों से पूजा विधियों से प्रतिबद्ध न थे, न पूजा स्थानों से बल्कि सार्वभौम चेतना के जीवन रूप जीवों और उनकी सलामती बेहतरी के लिए प्रतिबद्ध थे। संतों की वाणी में उनकी चाहना नहीं, सर्वजन, सर्व सृजन के हित की इच्छा रहती है, जिसके फलस्वरूप ब्रह्म में ब्रहमाण्ड का प्रादूर्भाव हुआ।

सभी संतों मे नाम महिमा, सतगुरु की कृपा परमात्मा की सर्वव्यापकता, प्रेम, लोककल्याण हित संदेश की अभिव्यक्ति मिलती है।

हरि नाँव हीरा हरी नाँव हीरा
हरि नाँव लेत मिटे सब पीरा

नाम ही भक्ति और मुक्ति का दाता है। सतगुरु नामदेव की .पा परम आवश्यक है। घट–घट रामहिं रतन है दादू लखें न कोह।
सतगुरू सबदों पाईये, सहजें ही गम होई।। संत दादु दयाल

कबीर सतगुर ना मिल्या, रही अधूरी सीप।

संत काव्य का महत्त्वपूर्ण तत्त्व है मानव को एक ऐसे विश्वव्यापी धर्म के सूत्रों में निबद्ध करना जहाँ कोई भेद न हो। संत संप्रदाय विश्व संप्रदाय है उसका धर्म विश्व धर्म है इस विश्व धर्म का मूलाधार है हृदय की पवित्रता समस्त वासनाओं इच्छाओं और द्वेषों से रहित हृदय की सीमाओं में विशाल धर्म का प्रवेश और समावेश संभव है। वह भक्ति और मुक्ति का दाता और ज्ञान चक्षुओं का उद्घाटक है। संत संप्रदाय ने गुरु को ब्रह्म से भी महान माना है। कबीर ने स्वयं कहा है–

गुरु गोविंद दोऊ खड़े, काके लागू पाय।
बलिहारी गुरू आपकी गोविंद दियो बताय।।

संत मलूक दास ने कहा

अब मैं सतगुरु पूरा पाया।
मन तै जनम–जनम ढहकाया।।

संतों के चुंबकीय प्रभामंडल, आध्यात्मिक संस्पर्श तथा सात्विक किंतु ऊर्जामयी तपस्या में बड़ी शक्ति होती है, जो शिष्यों को ऊर्ध्वमुखी साधना की ओर उन्मुख करती है। उनके हृदय में प्रेम, त्याग और तपस्या की लव जगाती है। जहां सरोवर किनारे बैठने से शीतलता और अग्नि के पास बैठने से गर्मी का ऐहसास होता है तो (संतो के) रूहानी बादशाहों के पास बैठने से उनका रंग क्यों नहीं चढ़ेगा? कबीर दास जी कहते है

मन मेरा पक्षी भया, चढ़कर उड़ा अकाश।
स्वर्ग लोक खाली पड़ा, सब हित संतन पास।।

संतो की संगत हो जाए तो तीर्थाटन की जरूरत नहीं होती। सभी तीर्थ संतसंग में ही निवास करते है। परमात्मा के नाम का संकीर्तन होता है– त्रिवेणी की धारा प्रवाहित होने लगती है इसीलिए

ईश्वर से कुछ माँगना हो तो

संतों की कृपा माँगिए।

ईश्वर से कुछ पूछना हो तो

सद्गुरू का पता पुछिए।

संत कृपा है पावन धारा सदगुरू है श्री दयासागर ।

एक नजर से कर दे जीवन सुंदर पावन पुण्यवान ।।

संदर्भ सूची –

1. सात संत शिखर –डॉ. बलदेव वंशी, राजपाल एण्ड सन्न काश्मीरी गेट नई दिल्ली संस्करण–2010
2. संत साहित्य– डॉ. प्रेम नारायण शुक्ल, राम बाग, कानुपर, द्वितीय संस्करण 1986
3. रामचरित मानस गोस्वामी तुलसीदास
4. कबीर वानी कबीर

भारतीय संत परंपरा का दार्शनिक दृष्टिकोण

डॉ. अभिजीत जोशी
सहायक प्राध्यापक
हैदराबाद केन्द्रीय विश्वविद्यालय
दर्शन विभाग
ईमेल: abhijitioshi1977@gmail.com

भारतीय सांस्कृतिक पुनर्जागरण और आदी शंकर

यह तो भारत भूमि का ही प्रताप है कि यहां संत सहज ही मिल जाते हैं। यह हमारा सौभाग्य है कि हमें दुर्लभ संतों का संग भी प्राप्त होता है। अज्ञान वश हम इस असीम कृपा को प्रायः ठुकरा देते हैं। हरी अनंत हरी कथा अनंता की तरह भारतीय संतों की परंपरा की कथा भी अनंत है। अतः इस शोध पत्र में केवल 8वीं/9वीं सदी के महान संत और दार्शनिक आदी शंकर पर ही ध्यान केन्द्रित्त किया गया है। पुनः आदि शंकर भी अन्य बहुत से संतों की तरह बहु आयामी व्यक्तित्व के धनी हैं और उनके व्यक्तित्व के हर आयाम को इस लघु शोध पत्र में ढाला नहीं जा सकता। अतः यह शोध पत्र केवल आदी शंकर के भक्त पक्ष को उभारने का प्रयास है।

इस शोध पत्र का प्रारंभ भारतीय परंपरा के मूल की चर्चा से होगा। तत्पश्चात् आदि शंकर के जीवन की छाँव मे निर्गुण ब्रह्म वादी शंकर के सगुण भक्ति की चर्चा की जाएगी। अंत में हम यह देखेंगे कि, यही निर्गुण भक्ति सगुण भक्ति में अवतरित होकर समस्त भारत भूमी को एक ऐसे सांस्कृतिक सूत्र में बांधती है कि आधुनिक सभ्यता भी इस प्रणाली को न केवल स्वीकार कर रही है, अपितु इसे आधुनिक पर्यटन व्यवस्था में सफलता पूर्वक ढाल भी रही है।

जहाँ अन्य दार्शनिक परंपराओं में ज्ञानानुराग[1] दर्शन का सर्वोच्च लक्ष्य है, वहीं भारतीय दर्शन ज्ञानानुराग से परे ज्ञानानंद[2] की अनुभूति से ही तृप्त होता है। जिस प्रकार समस्त स्थावर जंगम प्राणी प्रकृती से उपजते हैं, ठीक आनंद करुणा की उर्वर धरा से ही अंकुरित होता है। हिंदी के प्रसिद्ध कवि सुमित्रा नंदन पंत के शब्दों में वियोगी होगा पहला कवि, आह से उपजा होगा गान यदि आनंद भारतीय दर्शन का सर्वोच्च लक्ष्य है तो करुणा इसका मूल। ऐसा केवल भारत में दर्शन के ही साथ नहीं है अपितु समस्त भारतीय परंपरा की इमारत करुणा की नींव पर ही खड़ी है। अतः यदि यह कहें कि भारतीय दर्शन और भारतीय संत परंपरा का स्रोत और लक्ष्य एक ही है, तो अतिशयोक्ति न होगी। जहाँ भारतीय दर्शन अन्विक्षा की सहायता से परम आनंद तक की यात्रा करता है, वहीं संत परंपरा भक्ति की सरिता में अवगाहन कर परमानंद के रस में सराबोर रहती है। सामान्य तथा भारतीय दर्शन के अध्येता दुःख को इसका मूल मानते हैं और यह गलत भी नहीं है। परंतु यदि पीड़ा वैयक्तिक हो तो यह दुःख है और जब यह दुःख सहज ही प्राणी मात्र के लिए हो तब यही करुणा कहलाती है। सुख और आनंद का अन्तर भी ऐसा ही है अर्थात् सुख और दुख बिना कारण के नहीं होते और करुणा और आनंद कारण पर निर्भर नहीं होते। आइए यहां आप को भारतीय आचार शास्त्र की एक मूल भावना से परिचित कराएं। एक सुभाषित के अनुसार 18 पुराणों में महर्षी वेद व्यास ने केवल दो ही वचन कहे हैं परोपकार से बड़ा पुण्य नहीं और किसी को पीड़ा पहुंचाने से बड़ा पाप नहीं[3,4,5,6]

यहाँ हम देखेंगे कि दुःख की चर्चा किस तरह से हमारे सामने आती है? तीन प्रकार के दुःख' से आक्रांत हम यह जिज्ञासा करते हैं कि भला दुःख का एकांतिक तथा आत्यांतिक निवारण कैसे हो?" यह थी अन्वीक्षा की भाषा । संतों या भक्तों की भाषा मे यही जिज्ञासा किस रूप में अभिव्यक्त हुई किसी भी व्रत कथा या महत्वपूर्ण पुराण के प्रारंभिक सम्वादों पर ध्यान यहाँ किसी विशेष पुराण का उल्लेख नहीं है। एक बार नैमिष्यारण्य में शौनक आदि ऋषी सूत जी के पास पहुंचे और हाथ जोड़ कर सूत जी से कहने लगे कि इस घोर कलि काल में प्राणी बारबार घोर दुःख और यातनाओं को भोगता है। हमें प्राणी मात्र के कल्याण के लिए इस से मुक्ति का सरल उपाय बताएं। सूत जी ने कहा, ऐसा सुंदर प्रश्न तो आप जैसे ऋषीगण ही कर सकते हैं। अतः ध्यान से सुनें इस कलि काल में केवल हरी नाम ही भव सागर तार सकता है। अतः मैं तुमसे यो कहता हूँ।...' तत् पश्चात् व्रत कथा या पुराण के अनुसार कथा चरित्रों का संत चित्रण करते हैं और भक्ति रस के आनंद का प्रसाद जन साधारण को प्रदान करते हैं।

ऐसा कम ही देखा जाता है कि कोई एक, एकाधिक परंपराओं में एक सा स्थान रखता हो। जो एक उदाहरण अनायास ही अभी सामने है वह है महर्षी पतंजली का, जिन्होंने व्याकरण में अष्टाध्यायी पर महाभाष्य भी लिखा और योग सूत्रों की भी रचना की। एक ऐसा और उदाहरण शंकराचार्य के रूप में भी मिलता है, जिन का समय आठवीं और नवीं सदी का है। कालांतर में शंकराचार्य एक पद हो गया। अतः प्रथम शंकराचार्य को हम आदिशंकराचार्य के रूप में भी जानते हैं। ऐसा प्रसिद्ध है कि, सन् 788 ईसवी में उनका जन्म आज के केरल प्रदेश में हुआ और सन् 820 ईसवी में उन्होंने केदार खण्ड जो आज उत्तराखण्ड का भाग है, में समाधि ले ली। इन 32 वर्षों में उन्होंने जो कुछ भी किया उसे भारत की सभी परंपराएं सम्मान की दृष्टि से देखती हैं। यहाँ उनके जीवन की एक ऐसी घटना का वर्णन है, जो उनके संत होने का सहज ही प्रमाण है।

कहते हैं, "होनहार वीरबान के होत चिकने पात। चार वर्ष की अल्प आयु में अपने पिता को खो देने वाले शंकर अपनी माँ तथा अपने मातुल (मामा) की सहायता से अपनी प्रारंभिक शिक्षा अर्जित कर रहे थे। जैसा कि बहुतों को मालूम ही है कि प्राचीन गुरुकुल शिक्षा में विद्यार्थी ब्रह्मचारियों को भिक्षाटन से आश्रम के लिये कुछ न कुछ प्रबंध करना होता है। बालक शंकर भी गुरुकुल के नियमों का पालन करते हुए एक दिन भिक्षाटन करते करते एक वृद्धा के घर जा पहुंचे और भीक्षाम् देही ऐसा कहा। वृद्धा ने एक बाल ब्रह्मचारी को द्वार पर आया देख, भीक्षा के लिये कुछ देना चाहा। पर देने को तो कुछ था नहीं, तो वह थोड़ी देर सोच में पड़ गई। पर देने के लिये एक आँवले का फल मिल ही गया और वृद्धा ने वह फल बालक शंकर के हाथ में रख दिया। संभव तो यह भी था कि, शंकर उस फल को स्वीकार कर वहाँ से चले जाते पर करुणावश उन से रहा न गया और उन्होंने माँ लक्ष्मी की स्तुति की। कहते हैं उस स्तुति के कारण वृद्धा के घर सोने के आँवलों की वर्षा हो गई और वह स्तुति कनक धारा स्तोत्र के रूप में जानी जाती है। यह घटना हमें यह भी दर्शाती कि प्राचीन भारत में भिक्षाटन संयमित जीवन का प्रतीक था न कि वृत्ती का।

जिस भगवत् गीता को यूरोपीय वैदिक परंपरा का प्रतिनिधि ग्रंथ मानते वह मूल रूप से महाभारत का एक अंश है। यह कृष्णार्जुन सम्वाद महाभारत के भीष्म पर्व का भाग है और महाभारत युद्ध के प्रथम दिवस का वर्णन भी। जब शंकर ने महाभारत का अध्ययन किया तो पाया कि यह कृष्णार्जुन सम्वाद तो अपना स्वतंत्र महत्व रखता है और यह शंकर ही थे जिन्होंने भगवत् गीता को महाभारत से पृथक् कर अपने लिखे भाष्य से सजाकर भारतीय जन मानस को सौंप दिया। ठीक उसी तरह (जिस

तरह आधुनिक भौतिकी जगत् में मैडम क्यूरी ने रेडियम को यूरिनिय से पृथक कर एक नए तत्व का परिचय विश्व से कराया।) शंकर ने भगवत् गीता को वेदांत के आधार भूत ग्रंथ श्रृंखला में भी ब्रहम सूत्र और उपनिषदों के साथ उचित स्थान दिया, जिन्हें संयुक्त रूप से वेदांत परंपरा में प्रस्थान त्रयी के रूप में स्वीकारते हैं। इससे लाभ यह हुआ कि उपनिषदों का गूढ़ ज्ञान जन जन तक सहज ही पहुंच गया। विवेक चूड़ामणी, जो अद्वैत परंपरा का एक महत्वपूर्ण प्रकरण ग्रंथ है में शंकर कहते हैं इस संसार में केवल तीन ही वस्तुएं दुर्लभ हैं पहला मनुष्यत्व, दूसरा मुमुक्षत्व और तीसरा संत की संगति।[9] इसके अलावा इसी ग्रंथ में गुरु की योग्यता के बारे में वे जो कुछ कहते हैं वह एक संत का ही लक्षण हो सकता है।[10]

भारतीय दर्शन परम्परा में शंकर का वही स्थान है जैसा पूर्णिमा की रात्री में सत्ताईस नक्षत्रों के साथ चंद्रमा का आकाश में है। शंकर अद्वैत दर्शन में अपने विशेष और मौलिक योगदान के लिये प्रसिद्ध हैं। अद्वैत दर्शन की इसके अतिरिक्त क्या चर्चा करें कि, यह दर्शन अन्य के संप्रत्यय (concept of other) का खंडन कर अद्वितीय चेतना का प्रतिपादन करता है। नाम रूपात्मक यह जगत् देश और काल की सीमा में आबद्ध होने के कारण सीमित और अनित्य हो जाता है।[11] जो ब्रह्म को सत्य तथा जगत् को मिथ्या है ऐसा निश्चय करता हुआ नित्य और अनित्य वस्तु में विवेक रखता है वह अद्वैत वेदांत को समझने वाला है।[12]

शब्द भक्ति भज् धातु से बना शब्द है जिसका अर्थ है बाँटना या साझा करना। बाँटने या साझा करने के लिये कम से कम दो का होना तो आवश्यक है और अद्वैत तो "अन्य" को स्वीकारता ही नहीं, तो अद्वैत में भक्ति कैसे हो? यही आक्षेप अद्वैत दर्शन पर लगाकर समस्त भक्ति वादी दार्शनिक इसे भक्ति विरोधी दर्शन के रूप में चित्रित करते हैं। पुनश्च इस अद्वितीय चेतना का निर्गुण तथा अनिर्वचनीय होना उनके इस आक्षेप को बल ही प्रदान करता है। "भक्त तो ईश्वर का अंश होकर ही संतुष्ट है।"[14] वह तो समस्त जगत् को ईश्वरमय मानता है।[15] शुद्धाद्वैत के प्रसिद्ध आचार्य तथा छत्तीसगढ़ की इस पावन धरा पर जन्मी पुण्यात्माओं में से एक श्री वल्लभाचार्य जिन्हें ब्रह्म और जीव के ऐक्य में माया[16] की बाधा भी स्वीकार नहीं, परंतु भक्ती के लिये वे भी द्वैत वादी हो जाते हैं। वल्लभ संप्रदाय में सायुज्य मुक्ति[17] (जो कि संत आण्डाल को प्राप्त हुआ) से भक्ति को श्रेष्ठ माना जाता है।

कठोर पर्वत से ही शीतल एवम् मधुर जल का सोता फूटता है। कठोर आवरण में ही नारिकेल फल और मधुर जल होता है। सज्जन भी बाहर से कठोर दिखाई देते हैं पर भीतर से वे करुणाशील होते हैं।[18] शंकर की यह मौलिक विशेषता है कि वे निर्गुण एवं निरपेक्ष ब्रह्म वादी होते हुए भी अद्वैत जैसी कठोर दार्शनिक परंपरा से भक्ती रसामृत का मंथन कर जन जन को इसका पान कराते हैं। शंकर के जीवन की एक घटना इस तथ्य का प्रमाण है कि वे रुढीवादी निर्गुणब्रह्म वाद के समर्थक नही थे। घटना इस प्रकार है। अपने अंतिम समय में शंकर की माँ ने अपने इष्ट के दर्शन की इच्छा उनके आगे रखी। तब शंकर ने उन्हें शिव के विभिन्न रूपों के दर्शन कराए। पर माँ के आग्रह पर उन्होंने भगवान विष्णु का स्वरूप अपनी माँ को दिखलाया और अपनी माँ की अंतिम इच्छा पूरी की। कालांतर में भले ही संत कबीर पर निर्गुण राम भक्त की छाप लगा दी गई हो पर निर्गुण वादी न तो शैव होता है, न वैष्णव न ही वह शाक्त होता है। उसके लिए तो वह अद्वितीय चेतना ही शिव, विष्णु या शक्ति है। उसके लिए वह अद्वितीय चेतना ही माता पिता, वही बंधु और सखा है, वह चेतना ही विद्या भी है वह चेतना ही सब देवों में देव है।[19]

रमता जोगी और बहता पानी एक स्थान पर रहते नहीं और ठहर जाएं तो रहते नहीं। अर्थात् एक स्थान पर आवश्यकता से अधिक ठहरा जोगी भोग में पड़ जाता है और ठहरा पानी सड़ांध की दशा को प्राप्त होता है। एक समय की बात है कि शंकर अपने शिष्यों के साथ यात्रा कर रहे थे। उन्होंने देखा कि एक वृद्ध वैयाकरण अपने किसी शिष्य से व्याकरण के किसी सूत्र पर यूं झगड़ रहा था जैसे उसका जीवन ही दाँव पर लगा हो। तब शंकर ने कहा अंत समय यह डुकृं तुम्हारी रक्षा कदापि न करेगा इसलिये हे मूढ़ मन केवल गोविंद को भजो, गोविंद को भजो, हे मूढ़ मन।[20] गंगाष्टक, अष्ट लक्ष्मी स्तोत्र आदि न जाने कितने स्तोत्र शंकर ने रचे जिन्हें आज भी मंदिरों में अलग अलग समय पर गाया या बजाया जाता है। जिन्होंने केवल ब्रह्म सूत्र पर शंकर विरचित शारीरक भाष्य ही पढ़ा है और शंकर को महान भाषाविद् या परम ज्ञानी कहते हैं, वे जब कभी विष्णु सहस्र नाम पर शांकर भाष्य पढ़ें तो उन्हें सहसा विश्वास ही न होगा कि निर्गुण ब्रह्म तथा सगुण भक्ति पर एक व्यक्ति एक सा अधीकार भला कैसे रख सकता है? अहं निर्विकल्पो निराकार रूपम् या शिवोहम् की घोषणा करने वाला भला कैसे भज गोविंदम् कह सकता है? यही तथ्य घोर बुद्धिवादी दार्शनिकों और घोर भावना वादी भक्तों को चक्कर में डाल देता है। भवानी अष्टक जो आदि शंकर की अन्यतम रचना है, सगुण और निर्गुण भक्ति के मध्य ऐसे शोभा पाती है मानो दिवा और रात्री के मध्य संध्या। वे चित् शक्ति उन भवानी से प्रार्थना करते हुए कहते हैं, न तात (पिता) न माता न बंधू न दाता(जिनसे दान मिलता है) न पुत्र और न पुत्री, न सेवक और न स्वामी यहां तक की विद्या और वृत्ती (आजीविका) में मेरी गति नहीं है, हे भवानी तुम ही तो मेरी एक मात्र गति हो।[21, 22] निर्गुण मानस पूजा, शिव मानस पूजा और परा पूजा जैसी 2 रचनाओं में वे सगुण भक्ति के प्रतीकों को ले कर वे ऐसी पूजा करते हैं मानो समस्त जगत ही उस विराट की पूजा कर रहा हो या शंकर मानो समष्टि रूप से ही उस परम् चेतना की शरणागती ले रहे हों।[23] भक्ति की पराकाष्ठा तो यह है कि एक स्थान पर वे कहते हैं, मेरी इस देह से मेरी मनादि इंद्रियों से जो कुछ भी बाह्यांतर क्रिया हो, वह आप अपनी आराधना रूप में मान लें और स्वीकार करें। मेरा बोलना आप का मंत्र जप हो, शिल्पादि बाह्य क्रिया मुद्रा प्रदर्शन हो, देह की गति आप की प्रदक्षिणा हो, भोजनादि हवन प्रकार हो, देह का सोना साष्टांग नमन हो, और हे माँ, दूसरे शारीरिक सुख भोग आत्मार्पण भाव से आप ग्रहण करें।[24] मेरा क्या सामर्थ्य कि मैं आप की विधि पूर्वक पूजा भी कर सकूं।

जो चिंतक और संत अपने परिवेश एवम् समय के साथ चलते हैं और उनकी व्यापक दृष्टि भी हो तो वे काल के कपाल पर ऐसा गहरा लेख लिख जाते हैं कि काल भी प्रसन्न हो कर भावी समाज को प्रेरित करता रहता है। शंकर यह भली भाँति जानते थे कि, दर्शन के मापदंड पर तर्कों द्वारा निर्गुण को भले ही साध लिया जाए पर साधारण मानव तो भावना और ममता की भाषा ही समझता है। अतः शंकर ने जन साधारण को भक्तिी सागर में ऐसा स्नान कराया कि, आज भी आम आदमी विभिन्न पीठों के शंकराचार्यों में उन्हीं की छवि देखता है। शंकर के भारतीय संस्कृति में अवदान को समझने के लिये हमें तत्कालीन भारत को समझना होगा।

जो भूभाग समुद्र के उत्तर में है और हिमाद्री के दक्षिण में उसे भारत वर्ष कहते हैं और उसकी संतति भारती कहलाती है।[25] आज के संदर्भ में भारत की परिभाषा भले ही अप्रासंगिक लगे, शंकर के समय यह परिभाषा बिलकुल ठीक थी। ये वो भारत था जो मौर्य और गुप्त काल जैसे स्वर्णिम अतीत को पीछे छोड़ आया था और अभी अपने संविधान और गणराज्य (Republic) की व्यवस्था से सदियों दूर था। कोई राजनैतिक शक्ति ऐसी न थी जो समस्त आर्यावर्त को एक सूत्र में पिरो सके। बौद्ध और जैन परंपराओं का विभिन्न कारणों से क्षरण या तो हो चुका था या जहाँ थोड़ा बहुत बच रहा था वहाँ

प्रायः लुप्त होने की कगार पर आ चुका था। वैदिक परंपरा का इनसे भिन्न हाल न था। अपितु इसका हाल उनसे भी बुरा था। भारतीय जन समुदाय एक अनिश्चितता के दौर से गुंजर रहा था। भारतीय समाज बिना लक्ष्य के ठीक उसी तरह भटक रहा था जैसे हवा सूखे पत्ते को उड़ा ले जाती है। इस घोर निराशा में भारतीय समाज किसी महान अवतार की बाट जोह रहा था। बाहर के आक्रमणकारी भी भारत की स्थिरता के लिए खतरा बन रहे थे। ऐसे में किसी भी चिंतक का चिंतित होना स्वाभिक ही था तो भला शंकर जो न केवल प्रखर दार्शनिक थे परंतु वे एक संवेदनशील संत भी थे चिंतित कैसे न होते? यदि बिना लक्ष्य का व्यक्ति घोर असफलता को प्राप्त होता है, तो बिना लक्ष्य का समाज तो विनाश के गहरे गह्वर में समस्त मानवता को ही झोंक देता है। उस समय की परिस्थितियां ऐसी न थी कि वे किसी को शक्तिशाली राजा बनाने हेतु तैयार करते, जैसा कि पूर्व मे चाणक्य ने किया, न ही इस बात की प्रतीक्षा करना ही ठीक था कि कोई दैवीय शक्ति हस्तक्षेप करेगी और सब कुछ ठीक हो जायगा। आंभी सरीखे कई राजाओं ने अपने निहित स्वार्थों के चलते भारत के बाहर सहायता के लिए हाथ फैलाया। भला कोई बाहरी हमारी सहायता क्यों करेगा। वे इसे समझ ही न पाए वरन बाहर के लोगों को तो भारत को लूटने का सुनहरा अवसर थाल में सजाकर दे दिया। इसके घातक परिणाम से भारतीय जन समुदाय परिचित ही था। आचार्य शंकर कोई राजनैतिक व्यक्ती तो थे नहीं और न ही उन्हें कोई राजनैतिक संरक्षण ही था। यदी उनके पास कुछ था तो दृढ़ संकल्प शक्ती, शास्त्रों का ज्ञान और उनका परिव्राजक होना। अतः उन्होंने भारतीय आध्यात्मिक और सांस्कृतिक चेतना को ही जगाना ठीक समझा। सर्व प्रथम शंकर ने भक्ति रूपी शीतल औषधि से घायल भारतीय समाज की चिकित्सा की। भारत के कोने कोने से खोई हुई प्रतिमाओं को प्राण प्रतिष्ठित कर मंदिरों मे स्थापित कराया। जहाँ मंदिर न थे वहाँ मंदिरों का निर्माण भी कराया। हम सभी जानते है कि भारत मे श्रुति की परंपरा है। अतः शंकर ने गेय पदों में संबंधित देव की स्तुति के साथ साथ यह संदेश भी अनुस्युत रखा कि, भारत वर्ष को केवल भारतीय ही बचा सकते हैं। भारत की रक्षा भारतीयों को ही करना होगा। अन्य तो है ही नहीं जो भारत में आएगा और भारत को सुरक्षित रखेगा। हम किसी की रक्षा को तब तक उद्यत नहीं होते जब तक वह हमारा अपना न हो। यही कारण था कि, भारतीय समाज जब थोड़ा चैतन्य हुआ तब शंकर ने चार धाम की यात्रा को पुनः प्रारंभ कराया। भारत के चार कोनो मे ये चार धाम हैं। उत्तर में बदरी धाम, दक्षिण मैं रामेश्वरम्, पश्चिम में द्वारिका तो पूर्व में जगन्नाथ पुरी। यदि आप इन चार धामों की यात्रा करते है तो लगभग आप पूरे भारत का भ्रमण कर लेते हैं। जहाँ भी हम जाते हैं और वह हमारी भावना से जुड़ा हो तो वह स्थान अपना सा लगता है। अर्थात् यदि हम भारत का प्रत्यक्ष स्वयम् करें तो हम स्वयम् भारत की रक्षा को उद्यत होंगे। शंकर ने भारत के चारों कोनों में चार मठों की स्थापना भी की, बदरी के निकट जोतिर्मठ, दक्षिण मे शृंगेरी में शारदा मठ, द्वारिका और जगन्नाथ पुरी के मठ। इन मठों मै एक सशस्त्र बल भी गठित किया गया, इसे हम अखाड़ों के रूप में जानते हैं। इन अखाड़ों का उद्देश्य आध्यात्मिक साधना के साथ साथ भारतीय सीमा की रक्षा करना भी था। जब आम भारतीय इस योग्य हो जाता कि, वह भारत की सुरक्षा कर सके। तब शंकर भारत वर्ष भारतीय समाज को लौटा कर अपनी सन्यास धर्म में लौट जाते। इससे पहले कि वे भारत के प्रति इस पावन कर्तव्य को संपूर्ण कर पाते, उनका इस संसार में समय पूरा हो गया और मृत्यु उन्हें अपने साथ ले गई। दो सदियाँ भी न बीती थी कि अद्वैत परंपरा उन्हीं बुराइयों का शिकार हो गई जिन का विरोध कर शंकर ने इस परंपरा की पुनर्स्थापना की थी। इस का परिणाम यह हुआ कि साधारण जन इस परंपरा से कट सा गया। अब मंदिरों से पुनः हे देव त्राही माम की उद्घोषणा गुंजने लगी। पुनः भारतीय समाज में यही प्रचारित किया

गया कि कोई दैविय शक्ति ही हमें बचा सकती है। और यह आशा भी जगाई गई कि यह शीघ्र होगा। यह दैविक हस्तक्षेप न तो होना था, न हुआ। हाँ यह अवश्य हुआ कि बाहरी आक्रमण जो अब तक एक खतरा था वास्तविकता में परिणित हो गया। बचाओ बचाओ का क्रंदन सुन देवता तो नही आए पर बाहर के लोगों ने सहानुभूति का स्वांग रच कर भारत को भीतर से तोड़ दिया। गोरों का साहस तो इतना हुआ कि, उन्होंने हमें हमारी ही परंपरा का मखौल उड़ाना सिखा दिया। आज हम बड़ी शान से भारतीय परंपराओं को Mythology कहते हैं। बल्कि यदि हम ऐसा न करें तो हम स्वयं ही कुंठा ग्रस्त महसूस करते हैं। हम गोरों की संस्कृति का यदि ठीक ठीक पालन न कर पाए तो हम हीन भावना से ग्रसित हो जाते हैं।[18] अधिक क्या कहें जो कुछ है वह हमारे सामने है "प्रत्यक्षम् किम् प्रमाणम्"

समय बदलता है। संदर्भ बदलते हैं। पर नहीं बदलते तो मूल्य। उनकी व्याख्या समय के अनुसार अवश्य बदल जाती है। यदि ऐसा न हो तो सब कुछ जड़ हो जाय। शंकर ने भारतीय सांस्कृतिक एकता के लिए जो चार धाम यात्रा पुनः प्रारंभ कराई थी वह आज सर्किट के स्वरूप में ढल गई है। कुंभ का उदेश्य आज विशाल सम्मिटों में पूरे होते हैं। पर इससे भारत भ्रमण की परंपरा का महत्व कम न हुआ। स्वामी विवेकानंद और महात्मा गांधी दोनों को ही उनके मार्ग दर्शकों ने भारत भ्रमण का सुझाव दिया और दोनों ने ही इस पर अमल भी किया इतिहास में गांधी जी और स्वामी विवेकानंद का क्या स्थान है वह किसी से छिपा नहीं। जिसने भी भारत घूमा है उसने यही अनुभव किया है कि भारत की सुरक्षा एक भारतीय ही कर सकता है। सेना तो इस निमित्त अपनी भूमीका निभा ही रही है। देश की सीमाओं को तो वे बचा भी लें पर हमारी अस्मिता, परंपराएं, संस्कृती को तो हमें ही बचाना पड़ेगा। मिट्टी से अंतरिक्ष तक और मन से ले कर साईबर स्पेस तक हमें ही अपनी रक्षा करनी होगी। कहते हैं न, "अपना हाथ, जगन्नाथ" "हिम्मते मर्दा मददे खुदा यही संदेश दार्शनिक और संत शंकर का भी है और परंपरा की ओर से हमारा भी यही संदेश है कि हम रहें या न रहें भारत सदा रहना चाहिये।

संदर्भ ग्रन्थ–

1. Philos+Sophia+Philosophy
2. दृष्यते अनेन इति दर्शनम्
3. अष्टादश पुराणेशु व्यासस्य वचन द्वयम्।
   परोपकाराः पुण्याय पापाय पर पीडनम्
4. पर हित सरिस धरम नहीं भाई पर पीड़ा सम नही अधमाई श्रीराम चरितमानस
5. पुण्य ते पर उपकार पाप ते पर पीड़ा। संत तुकाराम
6. वैष्णव जन तो तेणे कहइये जे पीर पड़ाई जाने रे।नरसींह मेहता(गांधी जी का प्रिय भजन)
7. अधि भौतिक,अधि दैविक और आध्यात्मिक तीन तरह के दुख भारतीय परंपरा में स्वीकृत है।
8. दुःख त्रयाभीघातात् ... सांख्य कारिका 1
9. दुर्लभ त्रयमेतत्... विवेक चुरामणी 3
10. विवेक चूरामणी 34–36
11. एकमेवाद्वितीयम् छांदोग्य 6.2.1
12. ब्रहम सत्य जगत् मिथ्या। विद्यारण्य त शांकर दिग्विजय से उधित
13. ब्रहम सत्यम् जगत् मिथ्येति रूपो... विवेक चूरामणी 20
14. ईश्वर अंश जीव अविनाशी।। श्री राम चरित मानस उत्तर काण्ड
15. ईशावास्यम् जगत् सर्वम्। ईशोपनिषद् 1

16. सन्नाप्यसन्नाप्युभयात्मिकानो... विनोक चूरामणी 111 किसी किसी संस्करण में यही पद 109 के क्रम पर मिलता है।
17 वैष्णव वेदांत में विदेह मुक्ती और विदेह मुक्ति के चार सोपान सालोक्य, सामिप्य, सारूप्य और सायुज्य
18 नारिकेल समाकाराः दृष्यंते खलू सत् जनाः
19. त्वमेव माता च पिता त्वमेव... पारंपरिक प्रार्थना
20. सम्प्राप्ते संनिहिते काले न हि नहि रक्षति डुकृकरणे। भज गोविंदम् भज गोविंदम् भज गोविंदम् मूढ मते चरपट मंजरी से उद्धृति
21. न तातो न माता, न बंधू न दाता न पुत्रो न पुत्री... भवानी अष्टक 1
22. सा काष्टा सा परा गती कठोपनिषद 3.1.11
23. सर्वंखलविदम् ब्रह्म छांदोग्य 3.14.10
24. सौंदर्य लहरी 27.
25. उत्तर यत् समुद्रस्य। हिमाद्रश्चैव दक्षिणं।।
तद्वर्षम्भारतं नाम। भारती तत्र संतती। विष्णु पुराण 2.311
26 सामने है जो उसे लोग बुरा कहते हैं।
जिसको देखा ही नहीं उसको खुदा कहते हैं।। सुदर्शन फाकीर

भारतीय संत परम्परा और तुलसीदासजी की समन्वयात्मक तत्त्व दृष्टि : एक विमर्श

- डॉ. नवीन दीक्षित
सहायक प्राध्यापक, भारतीय दर्शन विभाग
साँची बौद्ध भारतीय ज्ञान अध्ययन विश्वविद्यालय,
बारला रायसेन (म.प्र.)
navindixit16@gmail-com

प्रस्तुत शोध–आलेख का मुख्य उद्देश्य भारतीय संत परम्परा का सामान्य परिचय देते हुए तुलसीदासजी द्वारा सम्पन्न, प्रतीयमान विरोधी तत्त्वों के समन्वय का दिग्दर्शन कराना है। इस कार्य हेतु सर्वप्रथम आचार्य परम्परा के द्वारा संत परम्परा के उद्भव एवं विकास में दिए गए योगदान की झलक प्रस्तुत करते हुए यह प्रमाणित करने का प्रयास किया गया है कि आचार्य परम्परा एवं संत परम्परा एक दूसरे की विरोधी नहीं है। भारतीय संत–साहित्य एवं विशेषकर तुलसीदासजी के साहित्य में विभिन्न प्रकार के द्वन्द–युगलों का समन्वय प्राप्त होता है। तत्कालीन लोकजीवन एवं साहित्य में इस प्रकार के द्वन्द्वों को पहचानकर इनमें समन्वय के स्थलों को रेखांकित करने का यहाँ प्रयास किया गया है।

वेद–उपनिषद् के रूप में विद्यमान भारतीय संस्कृति के आद्य स्रोत और इस वेदादिक साहित्य के भाष्यकार ही भारतीय संत–परम्परा की प्रेरणादायिनी शक्ति रहे हैं। संत रामानंद के द्वारा भक्ति की जो अखंड धारा, दक्षिण भारत से उत्तर भारत में प्रवाहित हुई, उसके मूल मे भाष्यकार रामानुजाचार्य का सगुण ईश्वरवाद और प्रपत्ति योग ही विद्यमान है। काशी के आचार्य श्री राघवानंदजी रामानुजाचार्य के श्री सम्प्रदाय के प्रधान आचार्य थे। उन्होंने ही रामानंदजी को दीक्षा प्रदान की थी।[1] इसी धारा के दूसरे बलवती प्रवाह का नाद, शायद सूरदासजी के काव्य में गुंजित न होता यदि वेदांत के आचार्य वल्लभ की प्रेरणा उन्हें न मिली होती।[2] इस आचार्यत्व और संतत्व के समरसत्व में भक्ति हमारे स्रोत–साहित्य में ही अंतर्निहित सिद्ध होती है अन्यथा आचार्य, भक्ति आंदोलन के प्रेरक न होते। फिर इस आचार्य–संत समागम या संत परम्परा में दर्शन और धर्म, ज्ञान और भक्ति, सगुण और निर्गुण ब्रह्म रहस्यात्मक योग–साधना और सरल भक्ति, सूफीवाद और अद्वैतवाद जैसे दार्शनिक धार्मिक द्वन्द्व तथा गार्हस्थ्य और संन्यास, अर्थ–काम और धर्म–मोक्ष, व्यक्तिगत मोक्ष और लोकसंग्रह, उच्च वर्ण और निम्न वर्ण आर्य और अनार्य, पुरातनता और नवीनता, परम्परा और वैयक्तिक स्वातंत्र्य पुरुषवाद और स्त्रीवाद, वंशवाद और जनतंत्र जैसे सामाजिक, समुदायवादी एवं अस्मितापरक विरोधयुगल एकत्रित होकर समरस हुए हैं।

रामानंद से दीक्षित हो कबीर ने परम्परा और पुरातनता के प्रति आदरभाव रखते हुए अद्वैत तत्त्व ग्रहण किया किंतु अपने वैयक्तिक स्वातंत्र्य को अक्षुण्ण रखते हुए अधुनातन दृष्टि अपनाकर प्रचलित सूफीवाद के एकेश्वरवाद के प्रभाव में आकर विभिन्न देवी–देवताओं की उपासना किए जाने कटु आलोचना की। नाथ और सिद्धों के पारम्परिक रहस्यात्मक हठयोग को अपनाकर भी निर्गुण–निराकार आत्माराम के प्रति वैराग्यपूर्ण भक्ति का उपदेश दिया।[3] संस्कृतज्ञों के विपरीत, आम लोगों के निकट की देशज सधुक्कड़ी भाषा में दिए उपदेशों में उन्होंने जातिविभाजन का विरोध किया। इसी उदार एव

वैयक्तिक साधना की पक्षधर निर्गुण ज्ञानाश्रयी संत–काव्य परम्परा का निर्वहन रैदास, धर्मदास, गुरुनानक, दादू, सुंदरदास और मलूकदास आदि संत कवियों ने किया। सांस्कृतिक आदान प्रदान की अभिव्यक्ति कुतुबन, मंझन और जायसी आदि द्वारा स्थापित प्रेममार्गी शाखा द्वारा होती है। इन्होंने प्रेमगाथाओं के माध्यम से ईश्वर–योगपथ का दिग्दर्शन किया।

तुलसीदासजी के रूप में रामभक्ति शाखा में जनता को अपना प्रतिनिधि कवि मिला, जिनकी वाणी में व्यक्तिगत साधना और सामाजिक दायित्व मुखर हुए विदेशी शासन के शासकत्व के दम्भ और दर्प के पैरों तले लोकभाव कुचला जा रहा था। लोग अपने अतीत के वैभव को विस्मृत कर वर्तमान धार्मिक और सामाजिक दुर्दशा से ग्रसित हो, दैन्य भाव से परधर्मपालक बनने में सचेष्ट हो रहे थे। एक ओर तो हठयोगी सिद्धियों और चमत्कारों का मायाजाल फैलाकर, भोली–भाली जनता को ठग रहे थे तो दूसरी ओर अभिमान भाव से फूले हुए अद्वैती वैदांतीय पदों का छिछलेपन से व्यवहार कर उनका अवमूल्यन कर रहे थे। तुलसीदासजी ने इन दशाओं को लक्ष्य करके निम्न उदगार व्यक्त किए थे।

श्रुति सम्मत हरिभक्ति पथ संजुत विरति विवेक। नहि परिहरहि विमोहबस कल्पहि पथ अनेक।।
साखी सबदी दोहरा कहि कहनी उपखान। भगति निरूपहिं भगत कलि निंदहि वेद पुरान।।
बादहि शूद द्विजन सन हम तुमतें कछु घाटि। जानहि ब्रह्म सो विप्रवर आँखि देखावहि डाटि।।

ध्यान–समाधि के मद में मस्त हो, स्वैर वैयक्तिक आचरण से भारतीयों के वर्णाश्रम निर्देशित लोकजीवन का ताना–बाना नष्ट–भ्रष्ट हुआ जा रहा था। योगमार्गी अपने को गूढ़ बताकर गुप्त भाव का प्रचार करते थे। तुलसीदासजी ने इसके स्थान पर सर्वसुलभ सरला भक्ति का प्रचार किया। योगमार्गी जहाँ अंतःस्थ परम तत्व का निर्देश कर रहे थे तो वहीं दूसरी ओर तुलसीदासजी अंदर–बाहर सभी जगह उस तत्त्व का दिग्दर्शन करा रहे थे। उनके निम्नलिखित पद्य द्रष्टव्य है।

अंतर्जामिहू तें बड़ बाहिरजामी हैं राम, जो नाम लिए तें पैज परे प्रहलादहू को प्रगटे प्रभु पाहन तेंन हिए तें।।

'घट के भीतर' कहने से गुह्य या रहस्य की धारणा फैलती है जो भक्ति के सीधे स्वाभाविक मार्ग में बाधा डालती है। जबकि तुलसीदासजी को मन की सरलता, वचन की सरलता, और कर्म की सरलता अभीष्ट है।

सूधे मन, सूधे बचन, सूधी सब करतूति। तुलसी सूधी सकल विधि रघुबर प्रेम प्रसूति।।

एक ओर तो ज्ञानियों द्वारा भक्ति को अविद्याकृत मानकर त्याज्य घोषित कर दिया गया, वहीं दूसरी ओर भक्तिपथगामी भी, ज्ञानियों को शुष्क और हृदयविहीन बतलाकर धार्मिक परिवेश में कटुता और कोलाहल भर रहे थे। श्रीकृष्ण की बहुरंगी छटाओं में से केवल उनके माधुर्य भाव को प्रेमाभक्ति का आधार बनाकर काव्य रचना की जा रही थी, जो पार्थिव और कामुक लोगों के हाथों में पड़कर कामुक–चरितावलि बनती जा रही थी। लोगों से संवाद बनाने के लिए आतुर कवियों का भाषा–संस्कार नष्ट हुआ जा रहा था। भाषा ढीली, स्वैर, नियमविरूद्ध और अमर्यादित होती जा रही थी। श्रृंगारिक प्रस्तुतिकरण के बाहुल्य से नारी अस्मिता का हनन हो रहा था। ऐसे असमंजस भग्न आशाओं और अशांति के समय तुलसीदासजी का भारतीय जातीय जीवन के रंगमंच पर पदार्पण होता है। तुलसीदासजी इन सभी चुनौतियों का सामना, साक्षात् ब्रह्मरूप मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम के लोकनायक व्यक्तित्व और शक्तिस्वरूपा माता जानकी के सती– चरित्र के यशगान के द्वारा करते हैं। श्रीराम एवं सीताजी की यह सहचारिता विशिष्टाद्वैत मत के अनुकूल ही है। जगत् केवल राममय ही नहीं है, वरन वह सियाराममय है सियाराममय सब जग जानी। करों प्रनाम जोरि जुग पानी। राम ब्रह्म हैं चित् हैं एवं सीता ब्रह्म का अचित् पक्ष है। चित् एवं अचित् एक ही है। इसका निर्देश उन्होंने निम्न शब्दों में किया है–

गिरा अरथ जल बीचि सम कहियत भिन्न, न भिन्न।
बंदौ सीताराम पद जिनहि परम प्रिय खिन्न।।[8]

श्रीराम वंशवादी शासक नहीं वरन जन–मन में बसने वाले पहले प्रजातांत्रिक प्रशासक थे। रामराज्य में वर्णित धार्मिक–सामाजिक सुव्यवस्था की झलक दिखाकर, तुलसीदासजी तात्कालिक दुर्दशा से उबरने का उपाय बताते हैं। वे न तो एकाग्रता ध्यान द्वारा प्राप्त मनःशांति के साधन, योग के विरोधी थे, न ही श्रवण–मनन–निदिध्यासनरूप अद्वैत साधना के, बल्कि वे तो इन दोनों के समन्वय से उपजी सरला भक्ति के पक्षधर थे, जिसमें आश्रम धर्म का परिपालन भी निहित था। सगुणोपासना का निरूपण गोस्वामीजी ने कई ढंग से किया है। रामचरित मानस में नाम और रूप दोनों को ईश्वर की उपाधि कहकर वे उन्हें उसकी अभिव्यक्ति मानते हैं –

नाम रूप दुइ ईस उपाधी। अकथ अनादि सुसामुझि साधी ।।
नाम रूप गति अकथ कहानी। समुझत सुखद न परति बखानी ।।
अगुन सगुन बिच नाम सुसाखी। उभय प्रबोधक चतुर दुभाखी।।"[11]

वे भक्ति को ज्ञान की तुलना मे सरल मानते हैं। समाधि की मस्ती में मस्त हो, सामाजिक जीवन का तिरस्कार करने वाला वैयक्तिक स्वातंत्र्य उन्हें अभीष्ठ नहीं था वरन वे तो लोकसंग्रह व लोकशिक्षण के अभिलाषी थे। उन्होंने अपनी काव्य रचना में सभी रसों को शामिल किया माधुर्य रस की मर्यादित अभिव्यक्ति से उन्होंने इसका शांत रस से विरोध नहीं होने दिया। उन्होंने तत्कालीन ब्रजभाषा और अवधी में समान अधिकार के साथ लिखकर लोक आदर्श की स्थापना की अपनी काव्य–रचना में उन्होंने तत्कालीन सभी शैलियों का नियमानुसार प्रयोग करके भाषा और प्रस्तुतिकरण के वैविध्य को बनाए रखा। इस प्रकार तुलसीदासजी विभिन्न विरोधी दिखाई देने वाले तत्त्वों में समन्वय लाकर एक समरस लोकजीवन और लोकसाहित्य का निर्माण करते हैं। प्रकारांतर से यही कार्य सूर, मीरा और रसखान आदि कवियों ने भी किया।

उपर्युक्त विवेचन से जहाँ एक ओर सामान्य रूप से हिंदी–भक्ति संत परम्परा का दार्शनिक एवं सामाजिक स्वरूप प्रकट होता है, वहीं दूसरी ओर तुलसीदासजी के तत्वचिंतन की समन्वयात्मक दृष्टि का लोककल्याणकारी पक्ष प्रकाश में आता है।

संदर्भः

1. शुक्ल, आचार्य रामचन्द्र हिन्दी साहित्य का इतिहास (नयी दिल्ली वाणी प्रकाशन 2011) पृ.104
2. वही, पृ. 137
3. वही, पृ. 73
4. मिश्र, भगीरथः 'जीवनी और युग सिंह, उदयभानु (संपा.) तुलसी (नयी दिल्ली राधाकृष्ण प्रकाशन, 2014), 29
5. शुक्ल, आचार्य रामचन्द्र हिन्दी साहित्य का इतिहास (नयी दिल्ली वाणी प्रकाशन, 2011) पृ.121
6. वही
7. वही, पृ. 122
8. वही, पृ.124
9. वही
10. वही, पृ. 123

भारतीय चिंतन परम्परा में कबीर की वैचारिकी

डॉ. नरेन्द्र कुमार बौद्ध
अतिथि व्याख्याता
दर्शनशास्त्र विभाग,
डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय
सागर (म.प्र.)

कबीर जिस समय भारतीय समाज में पैदा हुए थे, वह बहुत उथल–पुथल का समय था। उस समय भारतीय समाज तीन रूपों में बँटा हुआ था एक रूप यहाँ का विशाल जनसमूह जो अनेक मत–मतान्तरों जैसे सनातनी, गैर–सनातनी, ब्रह्मवादी, पौराणिक, कर्मकाण्डी, शैव, वैष्णव, शाक्त, स्मार्त, जैन एवं बौद्ध आदि में विभक्त था, जिसका एक संयुक्त नाम था हिन्दू

भारतीय समाज अपनी व्यवस्थाजनित खामियों को नई व्यवस्था के विकास के माध्यम से दूर कर सकता था किन्तु आत्म स्वतंत्रता के अभाव में उसके लिये ऐसा कर पाना असम्भव था। क्योंकि कोई एक समाज व्यवस्था किसी न किसी वैचारिकी पर आधारित होती है और वैचारिकी का विकल्प स्वतंत्र मन से ही खोजा जा सकता है जब तक वैचारिकी का विकल्प नहीं खोजा जाता, तब तक उस पर आधारित समाज व्यवस्था का विकल्प ढूँढना सम्भव नहीं होता। यदि व्यवस्था का विकल्प ढूँढ भी लिया जाये तो उसे लागू करने के लिये जिस अधिकार की आवश्यकता होती है वह स्वतंत्रता के अभाव में नहीं मिल पाता। अर्थात् पराधीनता के चलते तत्कालीन भारतीय समाज में गतिशीलता एवं नवाचार की कोई गुंजाइश नहीं थी, केवल आत्मरक्षा ही उसकी नियति बन गयी थी। परिणामस्वरूप यह लचीला होने की जगह कठोर हो गया।

दूसरा रूप यह कि तत्कालीन समाज जातियों में सिकुड़कर अपनी परम्परा और पहचान बनाये रखने में ही लगा रहा। जिसकी शक्ति का स्रोत शास्त्रीय धर्म था। परम्परा और जाति की खोल से बाहर निकलकर नवाचार का खतरा मोल लेने की उसमें ताकत नहीं थी, जिस कारण वह बहिर्मुखी, प्रभावशील और खुला बनने की जगह अधिक अंतर्मुखी, अप्रगतिशील और संकीर्ण हो गया।

दूसरी ओर इस्लाम था, जिसने मूर्तिपूजा बहुदेवतावाद, अवतारवाद तथा जन्मगत असमानता, भेदभाव व ऊँच–नीच सम्बन्धी ब्राह्मणवादी सिद्धान्त एवं आचार व्यवस्था को खुली चुनौती दी और राहतस्वरूप इस्लाम में सम्मिलित होने का विकल्प भी प्रस्तुत किया। उसमें धार्मिक स्तर पर समानता के बावजूद सामाजिक विषमता थी।

भारतीय समाज का तीसरा रूप हिन्दू एवं मुस्लिम की प्रतिक्रिया के स्वरूप अभ्युदय के रूप में अभिप्रकट हुई, जिन्होंने दोनों संस्कृतियों में आक्रमण–प्रत्याक्रमण से उत्पन्न गतिरोध को कम करने की कोशिश की और उनके बीच सामंजस्य स्थापित करने का प्रयास किया। सांस्कृतिक संघर्ष और समन्वय के इस दौर में रैदास, कबीर, नानक आदि भारतीय समाज में सन्तों का आविर्भाव हुआ, उनमें निर्गुणपंथी परम्परा के सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण महान संत कबीर हैं जिन्होंने दोनों समुदायों का ध्यान उनके आचारों एवं क्रियाओं में व्याप्त विसंगतियों की ओर आकृष्ट किया।[1]

हिन्दू जनता जिस तरह जाति व्यवस्था के भेदभाव और धार्मिक कर्मकाण्ड की चक्की में पिस रही थी उसी तरह मुस्लिम जनता भी इस्लाम की कट्टरता और कर्मकाण्ड की चक्की में। इन दोनों के

ऊपर राजसत्ता और शोषण का चक्र चल रहा था। ऐसी सर्वग्रासी चक्की में पीसी जाती हुई जनता को देखकर कबीर ने कहा होगा :

चलती चक्की देखकर दिया कबीरा रोय
दो पाटन के बीच में साबुत बचा न कोय।।

उस कठिन समय में भारतीय मनुष्य की मनुष्यता खतरे में थी। वह हिन्दू या मुसलमान होकर अपनी चेतना और संवेदना को धर्म के हाथों गिरवी रखकर ही बच सकता था। उसकी स्वतन्त्रता और मनुष्यता की रक्षा का कोई मार्ग नही दिखाई दे रहा था।

ऐसे समय में एक ऐसे व्यक्ति की जरूरत थी जो उस काल के भारतीय समाज की समग्रता को जानता हो। दोनों धर्मों की वास्तविकता को पहचानता हो और लोकधर्म के भ्रमों से भी परिचित हो। साथ ही मनुष्य की मनुष्यता में जिसकी अटूट आस्था हो। ऐसे ही व्यक्ति थे कबीर उनमें हिन्दू और इस्लाम की रूढ़ियों संकीर्णताओं और कट्टरताओं के विरुद्ध खड़े होने की जैसी दृढ़ता थी वैसी ही सच को कहने की निर्भीकता भी थी।[2]

कबीर ने उस समय के भारतीय समाज में मनुष्य की पहले से बनी बनाई पहचान को अस्वीकार किया। उस समय के समाज में मनुष्य की पहचान के दो आधार थे एक था धर्म, जिसके अनुसार प्रत्येक मनुष्य हिन्दू या मुसलमान था। दूसरा आधार जाति भेद का था, जिसके अनुसार मनुष्य ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र था। कबीर ने न तो किसी धर्म को अपनी पहचान का आधार माना और न जाति को उन्होंने केवल मनुष्य के रूप में अपनी पहचान समाज के सामने रखते हुए कहा था

हिन्दू कहो तो मैं नहीं, मुसलमान भी नाहि।
पाँच तत्त्व का पूतला, गैबी खेलै माहिं।।

कबीर जिस साँच को कहने की घोषणा करते हैं वह मूलतः मानुष सत्य है। कबीर को यह सत्य किसी ग्रन्थ वेद या कुरान से नहीं मिला था। वह उन्हें अपने समय और समाज के मानव जीवन के अनुभव से मिला था, इसीलिए उसे वे अनमै साँचा कहते हैं। जिस का अर्थ है अनुभव का सत्य और अनमय सत्य भी।[3] असल में अनुभव से पाया हुआ सत्य ही अनमय या निर्भय सत्य होता है, किसी से मिला हुआ सत्य नहीं। जीवन के विभिन्न प्रसंगों में सत्य का अनुभव तो बहुत लोगों को होता है, लेकिन कभी शास्त्र के भय से और कभी लोक के डर से उसे कहने का साहस सबमें नहीं होता। विरला ही कोई निर्भय होकर अपने अनुभव का सत्य सबसे कहता है, वही कबीर होता है।

इस प्रकार कबीर की वैचारिकी की दो बुनियादी विशेषताएँ हैं – एक अथक आलोचनात्मक चेतना और प्रश्न की प्रवृत्ति।[4] जो सुकरात आदि महान दार्शनिकों में देखी जा सकती है। उनकी आलोचनात्मक चेतना मूलगामी है। वह जनता को जगाने वाली है और रूढ़ियों को चुनौती देने वाली इस आलोचना की एक विशेषता है प्रश्न करने की प्रवृत्ति। यह प्रवृति इतनी प्रखर है कि उस समय का समाज उसका धर्म और उसकी व्यवस्था का कोई ऐसा पक्ष नहीं है जो कबीर के प्रश्नों से बच पाया हो। वे कभी–कभी सुकरात की तरह अज्ञानी बनकर प्रश्न करते हैं और बड़े–बड़े पंडितों तथा मुल्लाओं के ज्ञान की पोल खोल देते हैं।[5]

कबीर की मूलगामी आलोचनात्मक दृष्टि केवल प्रश्न करने तक सीमित नहीं है, उनकी दृष्टि समाज में मनुष्यत्व की भावना विकसित करने के लक्ष्य पर भी रहती है। प्रश्न करने की पद्धति उस लक्ष्य का साधन है। वे समाज में मनुष्यत्व के विकास के लिए हृदय के धर्म अर्थात् मानवीय भावों को लोकधर्म बनाने पर जोर देते हैं, इसलिए वे एक ओर ईर्ष्या, क्रूरता, कामुकता, कपट, अहंकार आदि की

आलोचना करते हैं तो दूसरी ओर प्रेम, करुणा, दया, उदारता, अहिंसा और समता का विकास चाहते हैं।

कबीर की इच्छा है कि इन मानवीय भावों और गुणों के अनुसार मनुष्य स्वयं आचरण करे न कि उसके लिए कोई अवतारी राम या कृष्ण। वे अवतारवाद की आलोचना करते हैं, क्योंकि अवतारवाद मनुष्य की निरीहता और परावलम्बन की माँग करता है।[5] वे मनुष्य की स्वतन्त्रता के पक्षधर हैं। वे चाहते हैं कि मनुष्य अपनी आस्था, विश्वास और क्षमता के अनुसार अपना जीवन जिए या नति करे। वे मनुष्य की स्वतंत्रता को सीमित करने वाली हर बात का विरोध करते हैं, चाहे वह सामाजिक हो या धार्मिक ये गौतम बुद्ध की तरह कहते हैं कि अपना दीपक स्वयं बनो।

यही कारण है कि रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने कबीर को मुक्तिदूत और भारत पथिक कहा था और उन्हें राजा राममोहन राय का अग्र पथिक घोषित किया था। कबीर केवल अपने युग की नई चेतना के जागरण के प्रेरणा स्रोत ही न थे, वे आधुनिक भारतीय नवजागरण के अग्रदूत भी हैं।[7]

मानव जीवन की सार्थकता के लिये कबीर तीन सूत्र निरूपित करते हैं पहला सूत्र यह कि संसार में रहते हुये मनुष्य को सांसारिक राग–द्वेष, लोभ, ईर्ष्या, मोह और अहंकार से बचना चाहिये। अगर वह ऐसा नहीं करता है तो जीवित रहते हुये भी मरे के समान है। राग द्वेष से मुक्ति सद्ज्ञान और मन को वश में करके ही प्राप्त की जा सकती है। दूसरा सूत्र जो सांसारिक आचरण से सम्बन्धित है। वे कहते हैं, व्यक्ति को विद्वान, बलवान और धनवान बनने की जगह आचरण पर अडिग रहना चाहिए। क्योंकि यह युग अन्य युगों से भिन्न है, इसलिये इस युग में दुरात्माओं का सत्कार होते देखकर आश्चर्य नहीं करना चाहिये।

कबिरा कलियुग कठिन है, साधु न माने कोय।
कामी क्रोधी मसखरा तिन कर आदर होय।।

अर्थात् दुराचरण वालों का समाज में आदर सम्मान होते देखकर सदपुरूषों को सदाचरण करना नहीं छोड़ना चाहिये। क्योंकि दुराचरण से अंततः दुःख ही मिलता है, दूसरों को ठगने से तो खुद ठगा जाना अच्छा है, क्योंकि खुद ठगा जाने से सुख मिलता है, जबकि दूसरों को ठगने से दुःख होता है। उनकी दृष्टि में जो दूसरों के दुःख–दर्द को समझता है और उनकी मदद करता है, उसी का जीवन सार्थक है। सार्थकता का तीसरा और सर्वाधिक महत्वपूर्ण सूत्र प्रेम है, क्योंकि प्रेम ही भक्ति को सरस व सजीव करता है और मनुष्य को माया रूपी भवजाल से मुक्ति दिलाता है। उनके अनुसार प्रेम सबको सुलभ है किन्तु इसके लिये व्यक्ति में त्याग करने की वृत्ति का होना जरूरी है। प्रेम से ही मुक्ति और निर्भय मुक्ति सम्भव है। सच्चे प्रेम एवं ईश्वर से अनन्य प्रेम की दशा में मृत्यु भय आदि की वस्तु नहीं अपितु आनन्द का विषय बन जाती है।

सामाजिक वैचारिकी

साधारणतः समाज वैचारिकी से आशय विचारों की एक ऐसी व्यवस्था से है जो समाज के लिये एक विशिष्ट ढाँचे का प्रतिपादन करती है एवं उसका सैद्धान्तिक व तार्किक औचित्य दर्शाती है। इस प्रकार समाज वैचारिकी में दो बातें अन्तर्निहित होती हैं पहली सामाजिक संरचना की एक रूपरेखा का रेखांकन और दूसरी एक सामाजिक वैचारिकी अर्थात् जिसमें विचार विश्वास एवं मूल्यों की एक व्यवस्था जो सामाजिक संरचना की सैद्धान्तिक औचित्य का प्रतिपादन करती है, उसका निरूपण।

कबीर की सामाजिक वैचारिकी वस्तुतः भक्तिपरक है जो ईश्वर के सन्दर्भ में एक औचित्यपूर्ण समाज व व्यक्ति की कल्पना करता है, जिसमें सम्पत्ति, सत्ता एवं जन्मगत आधार पर गुण व व्यवसाय

सम्बन्धी भेद नहीं हैं। वे तो केवल ब्रह्म और जीव की एकात्मता के आधार पर समाज में व्यक्तियों के बीच स्वतंत्रता समानता व भाईचारे की बात करते हैं। समता, सामाजिक न्याय व साम्प्रदायिक सद्भाव का उनका दर्शन वस्तुतः उनकी निर्गुण भक्ति का उपोत्पाद है।

वस्तुतः उनकी भक्तिपूर्ण वैचारिकी समाज के आर्थिक व राजनैतिक ढाँचे में बुनियादी परिवर्तन की कोई रचनात्मक योजना प्रस्तुत नहीं करती, जिससे तत्कालीन समाज वैचारिक, आर्थिक, राजनैतिक व तकनीकी प्रगति के उस स्तर तक पहुँच पाये। जिससे सामाजिक जीवन के विविध क्षेत्रों में क्रांतिकारी परिवर्तन को व्यवहारिक स्वरूप दिया जा सके। लेकिन सामान्यजनों के विचार, दृष्टिकोण एवं सोच में निश्चित रूप से प्रभावकारी परिवर्तन अवश्य ला देती है, जिससे परम्परागत सामाजिक बन्धन शिथिल हुए और निश्चित रूप से आधुनिक युग में मौलिक परिवर्तन का मार्ग भी प्रशस्त हुआ।

जीवन के प्रति उनका दृष्टिकोण यथार्थवादी था। उनके अनुसार तो केवल ब्रह्म जो कि निराकार एवं सर्वव्यापी है, वही सत्य है। उसे राम कहें, अल्लाह कहें, कृष्ण या खुदा कहें, इससे कोई फर्क नहीं पड़ता। वे कहते हैं कि इस लोक से तो सभी अपनी–अपनी करनी लेकर जाते हैं लेकिन उस लोक से कोई नही आता, जिससे उस लोक के बारे में पूछा जा सके।

बाह्याचारों का परिहास करते हुये कहते हैं कि माला फेरने से कुछ नहीं होता। असली चीज तो मन का फेर मिटाना है, बाल मुड़ाने से हरि नहीं मिलते। अगर ऐसा होता तो अब तक सब भेड़ें बैकुण्ठ चली गई होतीं। नंगे फिरने, मृगचर्म धारण करने और सिर मुड़ाने से सिद्धि नही होती और न ही स्वर्ग मिलता है। वे जोगी, जती व संन्यासी सबको समझाते हैं कि केवल राम का नाम ही असली सहारा है। सच्चे मन और भक्ति भाव से राम का स्मरण करने से ही मुक्ति मिलती है।

कबीर हिन्दू और मुसलमान दोनों से पूछते हैं कि तुम्हारा साहिब कैसा है? क्या बांग देने से ही वह सुनता है और रोजा रखने, नमाज गुजारने या आसन मार कर लम्बी माला जपने से ही वह मिलता है ? तुम्हारे मन में जो छल कपट है क्या साहिब वह नहीं देखता है। दरअसल, साहिब तो सभी के भीतर रहता है चाहे वह हिन्दू हो या मुसलमान हो। जब हिन्दू और मुसलमान दोनों में एक ही साहिब बसता है तो दोनों में भेद किस बात का है। कबीर की समाज वैचारिकी का अन्य महत्त्वपूर्ण पक्ष साम्प्रदायिक सद्भाव एवं सर्वधर्म समन्वय है। हालाँकि कबीर का विभिन्न सम्प्रदायों में सद्भाव पैदा करना और उनमें एकता लाना मूल उद्देश्य नहीं था, यह तो तत्कालीन समाज की एक ज्वलन्त समस्या थी, जिसका मूल कारण लोगों का अज्ञान था।

अज्ञान के कारण ही लोगों में सामाजिक भेदभाव व्याप्त है। इसके उन्मूलन के लिये एक भक्त के रूप में उन्होंने अनुभव किया कि मूल तत्त्व तो ईश्वर है, व्यक्ति की मुक्ति जीव का ईश्वर से एकात्म होने में है, जो ईश्वर के प्रति प्रेम भक्ति से सम्भव है। धर्म और सम्प्रदाय के नाम पर पाखण्डपूर्ण विधि विधान एवं अन्धविश्वास धर्म के तथाकथित रहनुमाओं ने बना रखे हैं। जिनके माध्यम से वे आम जनता को गुमराह कर अपना स्वार्थसिद्ध करते हैं। मूल रूप से सभी धर्मों का सारतत्त्व जीवन का ब्रह्म से साक्षात्कार है, जो निर्गुण भक्ति के द्वारा ही सम्भव है। इसके लिये बाह्याचार की आवश्यकता नही। यदि हिन्दुओं के भगवान मन्दिर में और मुसलमानों के खुदा मस्जिद में रहते हैं तो जहाँ मन्दिर, मस्जिद नहीं हैं वहाँ कौन रहता है? किसकी सत्ता है? वास्तव में कबीर के अनुसार हिन्दू और मुसलमान दोनों के मार्ग ठीक नहीं हैं। इसलिये इनमें किसी को भी स्वीकार नहीं किया जा सकता। वे कहते हैं राम और रहीम, हिन्दू और तुर्क एक हैं, क्योंकि सभी का सृजनहार ईश्वर है। वही सभी जगह वास करता है।

कबीर के अनुसार सर्वधर्म समन्वय के लिये जिस मजबूत आधार की जरूरत है, वह है भगवान के प्रति अहेतुक प्रेम और मनुष्य मात्र को उसके निर्विशिष्ट के रूप में समझना। यही उनके सर्वधर्म समन्वय की विधा थी। वे केवल मनुष्यता को ही प्रेम भक्ति का ही पात्र मानते हैं। वे कहते हैं कि सन्तों की कोई जाति नहीं होती, जो ईश्वर को भजता है, वह ईश्वर का होता है। इसलिये केवल एक ही पहचान (जाति) होती है[6], वह है ईश्वर भक्त की। कबीर का छुआछूत का विरोध भक्तों के दायरे तक ही सीमित नहीं है। वे इसे वृहद्तर करते हुये कहते हैं एक ही पवन, एक ही पानी, और एक ही जाति से सारा संसार बना है। सभी बर्तन एक ही मिट्टी से बने होते हैं और उनको बनाने वाला भी एक ही होता है।[8] काठ में अग्नि के समान सबके भीतर एक ही तत्व समान रूप से व्याप्त है। एक ही जननी ने सबको जन्म दिया है तो फिर वह कौन सा ज्ञान है और उसका क्या तार्किक आधार है जो सबको एक–दूसरे से अलग करता है, जब सब लोग एक ही माँ से एक ही तरह से पैदा होते हैं तो आपस में सभी समान हैं ऐसे में यदि कोई अपने को औरों से भिन्न मानता है तो वह अलग ढंग से क्यों नही पैदा होते? उनकी सामाजिक वैचारिकी को निम्न रूप में रेखांकित किया जा सकता है –

(1) वे वैकल्पिक समाज व्यवस्था का कोई निश्चित स्वरूप प्रस्तुत नहीं करते, लेकिन तत्कालीन सामाजिक संरचना की कमियों पर प्रहार करते हुये विसंगतियों के विरुद्ध जन–जागृति को जन्म देते हैं।

(2) वे सामाजिक विषयों से सम्बन्धित लोगों में अंधविश्वास व कर्मकाण्ड की जगह तार्किक व नैतिक सोच का विकास करते हैं, जिससे जनमानस में व्यापक उदारवादी व मानवतावादी दृष्टि विकसित होने की संभावना बनती है।

(3) कबीर लोगों में जीवन में आत्मनिर्भरता व स्वावलम्बन का आदर्श प्रस्तुत करते हैं, जिससे लोगों में सामाजिक विषमताओं को सूक्ष्म रूप में देखने का नजरिया पैदा होता है।

(4) वे प्रेम भक्ति के माध्यम से सामाजिक वैषम्य दूर कर समाज में सौहार्द व सामंजस्य स्थापित करने का प्रयास करते हैं।

(5) वे व्यक्तिवादिता एवं स्वार्थपरता से ऊपर उठकर प्रेमभाव के विकास पर बल देते हैं, क्योंकि वे मानते हैं कि प्रेम में ही मानव जीवन व व्यक्तित्व की पूर्णता सम्भव है।

आधुनिक सन्दर्भ में कबीर की वैचारिकी की प्रासंगिकता हमें स्पष्ट दिखाई पड़ती है:–

(1) वे बाह्य और आंतरिक जगत के बीच प्राथमिकता के विषय पर जो नजरिया रखते हैं वह मध्ययुगीन समाज के आदमी की तुलना में आधुनिक उच्च तकनीकी समाज के आदमी का पथ–प्रदर्शन करने और उनकी समस्याओं को सुलझाने में कहीं अधिक उपयोगी है।

(2) धर्म के मामले में तत्कालीन समाज में विद्यमान कर्मकाण्डों, पाखण्डों एवं आडम्बरों की सार्थकता पर कबीर ने जो सवाल उठाये हैं, वे आज भी समीचीन हैं। यह सही है कि विगत 600 वर्षों के दौरान सामाजिक एवं धार्मिक कुरीतियों में सुधार अवश्य हुआ है किन्तु जिस स्तर से धर्म एवं समाज में लचीलापन व सुधार स्थापित होना चाहिये था, उसकी कमी आज भी है, जिस कारण विभिन्न जातियों व सम्प्रदायों के बीच परस्पर सद्भाव और विश्वास पैदा होने की जगह कटुता ही बढ़ी है। आज पहले से कहीं ज्यादा समाज से इन बुराईयों को दूर करने के लिये कबीर के संदेशों को प्रसारित करना आवश्यक हो गया है। भले ही इस तीव्र तकनीकी युग में कबीर प्रासंगिक हों, ना हों, लेकिन जीवन को समझने और परखने की उनकी अपनी सत्यान्वेषक दृष्टि, आदर्श व मूल्य आज भी प्रासंगिक हैं।

सन्दर्भ :–

1. धर्मकीर्ति, महान बुद्ध दार्शनिक, नई दिल्ली, सम्यक् प्रकाशन, 2003
2. कीर, धनंजय, डॉ. अम्बेडकर लाइफ एण्ड मिशन, बॉम्बे, पापुलर प्रकाशन, 1981 3.सतेन्द्र, जीवन परिचय, पृष्ठ 1–10. कबीर (सम्पादित) नई दिल्ली, प्रकाशन विभाग (भारत सरकार) 2000
3. शाह, आर.सी. भारत की दुर्दशा की नायपाली धारणा, धर्मयुग, 45 (11) पृ. 25–28, 1994
4. सिंह, मोती, कबीर की भक्ति आस्था और साधना, पृ. 129–57 (सम्पादित) कबीर 5, दिल्ली राधाकृष्ण
5. सिंह, रामगोपाल, सामाजिक न्याय एवं दलित संघर्ष, जयपुर, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, 1994
6. देवा, पूर्व कबीर का सामाजिक दर्शन, 2 (5) : पृ. 23–26, 1996
7. देवा, पूर्व कबीर की प्रासंगिकता, 3 (11) पृ. 72–84, 1997
8. शम्भूनाथ, दलित आत्मपहचान की लड़ाई और कबीर, आलोचना, अप्रैल–जून 2000, 305–307

संत गुरु घासीदास का दर्शन

मनीष कुमार कुर्रे
शोध छात्र
डॉ. चन्द्रकुमार जैन
हिन्दी विभाग, शास. दिग्विजय स्वशासी महाविद्यालय,
राजनांदगाँव (छत्तीसगढ़)

शोधसार – गुरु घासीदास का जन्म 18 दिसंबर सन् 1756 को बालौदाबाजार जिले के गिरोदपुरी नामक स्थान पर हुआ था। इस समय समाज में छुआछूत, जाति–पाँति, अंधविश्वास, सती प्रथा, बलि प्रथा जैसी कुरीतियों का प्रचलन था, जिसका अनुभव बाबा गुरु घासीदास ने स्वयं किया और उनके दर्शन पर भी इसका प्रभाव पड़ा। बाबा गुरु घासीदास हर घटना को तर्कशील होकर चिंतन करते और लोगों मे सामाजिक अलख जगाने का प्रयास करते बाबा गुरु घासीदास सभी मनुष्यों को समान समझते थे। जातिभेद को अपराध मानते थे। उनके दर्शन काल्पनिक न होकर वास्तविक एवं व्यवहारिक है। बाबा घासीदास के आध्यात्मिक, सामाजिक एवं नैतिक दर्शन सदैव ही मानवतावादी दृष्टिकोणों का संवाहक रहा। है। बाबा घासीदास ने सत्य को ही ईश्वर माना है। गुरु घासीदास के दर्शन को सतनाम दर्शन के नाम से आज जाना जाता है जो मूलतः गुरु घासीदास के विचारधाराओं एवं सप्त सिद्धांतों पर आधारित है। सत्य, अहिंसा, सदाचार भाईचारा, समता, सहयोग, ईश्वर या सतनाम का स्वरूप गुरु घासीदास के दर्शन की सामाजिक एवं नैतिक क्षेत्र का विशेष पहलू रहा है। सामाजिक एवं नैतिक दर्शन में ही समस्त सिद्धांतों एवं गुरु उपदेशों को समाहित किया जा सकता है

शोधपत्र का उद्देश्यः

1. गुरु घासीदास के विभिन्न दर्शन क्षेत्र का ज्ञान प्राप्त करना।
2. दर्शन क्या है? जानने में सक्षम होंगे।
3. गुरु घासीदास के प्रमुख सिद्धांतों से परिचित होंगे।
4. दर्शन के क्षेत्र में गुरु घासीदास के दर्शन का विस्तार पूर्वक अध्ययन करेंगे।

मुख्य शब्द – सतनाम, सत्य, संत, दर्शन, फिलॉसफी, समानता, सदाचार, अहिंसा

विषय प्रवेश – भारतीय संस्कृति में धर्म, आध्यात्मिक एवं दर्शन का सदैव ही विशेष महत्व रहा है। प्राचीन समय से ही भारत में धर्म को सबसे ऊँचा आदर्श माना गया है। भारत में स्वतंत्र बौद्धिक चिंतन की परम्परा रही है और इस चिंतन ने अनेक धर्मों, संप्रदायों और दार्शनिक परम्पराओं को जन्म दिया है। हमारे देश में धार्मिक क्षेत्र के अंतर्गत समय–समय पर जिन मतों और सिद्धांतों का प्रतिपादन हुआ उनमें कतिपय आधारभूत विचारों की प्रतिष्ठा हुई। उदाहरण स्वरुप एकेश्वरवाद, आत्मा की अमरता, कर्म, पुनर्जन्म, मोक्ष प्राप्ति आदि। आज यह सिद्धांत भारत के धार्मिक जीवन और दर्शन के प्रमुख सिद्धांत बन गए हैं। मध्यकालीन भारत में जब मुसलमान आक्रमणकारियों ने भारत के विभिन्न क्षेत्रों पर विजय प्राप्त कर इस्लाम धर्म का प्रचार–प्रसार किया तब भारतीयों का ह्रदय कुंठा निराशा और अंधकार से भर उठा। सामाजिक जीवन में अनेक कुरीतियों ने घर कर लिया था। हिन्दू धर्म में अनेक मत–मतान्तरों के झगड़े जाति–पाँति पर आधारित ऊँच–नीच के भेदभाव, धार्मिक कर्मकाण्ड जैसी परिस्थितियों का सामना करना पड़ रहा था। तभी कुछ दार्शनिक चिन्तकों और ईश्वर भक्तों ने एक

शांतिपूर्ण मार्ग को अपनाया वह मार्ग था, भक्ति मार्ग या भक्ति आंदोलन। यद्यपि भक्ति मार्ग भी इस समय दो वर्गों में बट गया था पहला सगुण भक्ति एवं दूसरा निर्गुण भक्ति।

प्रायः सभी संत निर्गुण हुए हैं। संत कबीरदास, रैदास, दादूदयाल, गुरु नानक देव, संत ज्ञानेश्वर और छत्तीसगढ़ में संत गुरु घासीदास आदि ने निर्गुण भक्ति को अपनाया और एकमात्र संदेश देते हुए मनुष्य को सत् मार्ग की ओर अग्रसर किया। यह निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि निर्गुण संत–साधकों की परम्परा में गुरु घासीदास छत्तीसगढ़ के सर्वाधिक पूज्य एवं महान संत थे। बाबा गुरु घासीदास ने अपने सात्विक किन्तु प्रभावपूर्ण एवं मार्मिक दार्शनिक संदेशों से ऐसे लाखों लोगों में जो पीड़ित थे, शोषित थे, अपमानित थे एक नया आत्मविश्वास जगाया। सच्चे अर्थों में गुरु घासीदास ज्योति पुरुष थे, प्रकाश पुंज थे।[1]

गुरु घासीदास के चिन्तन की सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि वह मौलिक था। उनके ज्ञान और दर्शन पुस्तकों पर आधारित नहीं थी। संतों ने परम्परावादी "पोथीवादी" को कोई महत्व नहीं दिया। वे जो देखते और स्वानुभूत करते उन्हें ही अपने दर्शन में महत्व देते थे। संत कबीर ने कहा भी है –

तू कहता कागद की लेखी।
मैं कहता आँखिन की देखी।[2]

अब हमे गुरु घासीदास के दर्शन से पूर्व यह समझना आवश्यक है कि दर्शन आखिर क्या है? जो इस प्रकार है–

दर्शन अर्थ एवं परिभाषा

दर्शन जो कि अपने आप में एक यथार्थ है। दर्शन शब्द "दृश" धातु से बना है। "दृश" संस्कृत की धातु है। जिसका अर्थ है देखना दृश धातु में "ल्युट्" प्रत्यय लगाने से दर्शन शब्द बनता है। इस शब्द को व्याख्यात्मक दृष्टि से देखा जाए तो कह सकते हैं, दृश्यते अनेन इति दर्शनम्। अर्थात् जिसके द्वारा देखा जाए या ज्ञान प्राप्त किया जाए। सभी संतों ने आँखों देखी ज्ञान पर विश्वास किया है। यहाँ कल्पना को कोई स्थान नहीं दिया गया है।[3]

पाश्चात्य विचारधारा के दार्शनिक यूनानी विद्वान प्लेटो के अनुसार दर्शन को अंग्रेजी में फिलॉसफी कहा जाता है। फिलॉसफी शब्द यूनानी भाषा का शब्द है। यूनानी में दो अलग–अलग शब्द है फिलॉस और सोफिया। फिलॉस का अर्थ है प्रेम (लव) या अनुराग और सोफिया का अर्थ है विद्या या ज्ञान। इन्हीं दोनों शब्दों से मिलकर फिलॉसफी बना है, जिसका शाब्दिक अर्थ होता है विद्यानुराग या ज्ञान प्रेम। किन्तु दर्शन केवल देखना ही नहीं हो सकता। जब मानव अपने मन तथा हृदय के भीतर बाह्य और अंतरचक्षु को मिश्रित कर देखता है, वही दर्शन कहलाता है। अर्थात् जो सत्य–असत्य, भाव–विचार के साथ मन को सम्मिलित कर अपना सिद्धांत प्रकट करता है, दर्शन है। भारतीय विचारकों के अनुसार दर्शन की उत्पत्ति के मूल में दुःख है किन्तु पाश्चात्य विचारक दर्शन को आश्चर्य से निकला मानते हैं।[4]

परिभाषा :

भारतीय विद्वानों के अनुसार दर्शन की परिभाषा इस प्रकार है –

(1) कौटिल्य के अनुसार– आन्वीक्षिकी विद्या ही दर्शन है।[5]

(2) डॉ० बलदेव उपाध्याय के अनुसार– दर्शन एक ठोस सिद्धांत है न कि अनुमान या कल्पना। इसे व्यवहार में लाकर व्यक्ति निर्धारित लक्ष्य मार्ग प्रशस्त कर लेता है।[6]

(3) डॉ० उमेश मिश्र के अनुसार–मार्गदर्शन के द्वारा प्रत्यक्षीकरण होता है। अर्थात चाहे जितना ही सूक्ष्म क्यों न हो उसे दर्शन से अनुकूल किया जा सकता है।"

पाश्चात्य विद्वानों के अनुसार दर्शन की परिभाषा इस प्रकार है –

(1) ज्ञान का ही विज्ञान दर्शन है – फिक्टे।

(2) पदार्थों के यथार्थ स्वरूप का ज्ञान ही दर्शन है"– प्लेटो।

(3) दर्शन विज्ञानों का विज्ञान है – कामटे।

दर्शन के क्षेत्र में गुरु घासीदास

गुरु घासीदास के दर्शन या जिसे हम सतनाम दर्शन के नाम से भी जानते हैं, गुरु घासीदास के ही विचारों और सिद्धांतो पर आधारित है। गुरु घासीदास ने जिस समय छत्तीसगढ़ में जन्म लिया उस समय समाज खण्ड–खण्ड हो चुका था। यहाँ की धार्मिक, सामाजिक, सांस्कृतिक स्थितिया अनेक ऐतिहासिक कारणों से दूषित हो गई थी। जाति–पाँति, ऊँच–नीच, छुआछूत आदि भेदभावों के कारण सामाजिक वातावरण इतना दूषित हो गया था कि मनुष्यत्व के सात्विक सम्मान पर आघात पहुँचने लगा था। ऐसी विषम स्थिति में आवश्यकता थी एक ऐसे संत कि, ऐसे दार्शनिक महापुरुष की जो भटके लोगों को धर्म और संस्कृति का मार्ग दिखा सके। गुरु घासीदास ने सतनाम जो दार्शनिक सिद्धांत प्रतिपादित किए हैं वह उनकी गहनतम दिव्यानुभूति पर आधारित है। उन्होंने जो कुछ आँखों से देखा था उसी का वर्णन किया है। यह दर्शन सिद्धांत उनकी तपस्या का ही फल है। ऐसा ज्ञान जो अक्षरीय ज्ञान से परे है। निम्न दार्शनिक पक्ष इस प्रकार हैं

सामाजिक एवं नैतिक दर्शन :

सामाजिक दर्शन – गुरु घासीदास के सामाजिक दर्शन में पूर्ण सामाजिक समानता का भाव निहित है। गुरु घासीदास का मानना है की सामाजिक दृष्टि से कोई भी बड़ा–छोटा नही है सबकी मुक्ति के बिना एक की मुक्ति संभव नही है। यह एक सच्ची आध्यात्मिकता है, मानव जाति के प्रति एक सच्ची सेवा है। गुरु घासीदास के सामाजिक दर्शन में सभी को कल्याण की भावना से देखने का लक्ष्य है। पीड़ित के प्रति वे करुणा से द्रवित थे। इससे उनकी सामाजिक न्याय की अनुभूति होती है। गुरु घासीदास का सभी के लिए केवल एक ही मंत्र था वह है "सतनाम" अर्थात् ऐसे नियमों का पालन करना जो सामाजिक सत्य की स्थापना में साधक हो और समाज का कल्याण हो सके। सत्य के व्यवहारिक बनाने के लिए घासीदास ने कतिपय सामाजिक आडम्बरों को दूर करने के लिए कहा था, जिनमें जातिवाद अस्पृश्यता, चरित्रहीनता मदिरापान, माँसाहार, उन्मुक्त मैथुन, नरबलि स्त्री वध आदि आते हैं। घासीदास पूर्ण सामाजिक समानता के पक्षधर थे क्योंकि सतनाम समानता के मार्ग पर विश्वास करता है। इसलिए गुरु घासीदास सतनाम का अनुसरण करने का उपदेश देते हैं।

नैतिक दर्शन– गुरु घासीदास के नैतिक दर्शन का स्रोत उनकी उपदेश एवं सिद्धांत है। उनका सतनाम दर्शन काल्पनिक नहीं अपितु व्यवहारिक सत्य पर आधारित है। जनमानस को लौकिक (असत्य) जगत से खींचकर अलौकिक जगत् में लाने का प्रयास किया। उनके विचारों में कहीं आध्यात्मिकता व धार्मिकता का समावेश नजर नहीं आता। काल्पनिक जगत से परे वह धरती को ही स्वर्ग बनाना चाहते थे। उनके विचार शुद्ध बौद्धिक थे। वह साधु पुरुष थे। सादा जीवन उच्च विचार ही उनका जीवन सार है। वह साधारण इंसान बने रहना चाहते थे। जैसे–

मोर संत मन मोला काकरो ले बड़े झन कइहा।

नई तो मोला हुदेसना मा हुदसे कस लागही।"

गुरु घासीदास के समय राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक, नैतिक तथा सांस्कृतिक परिस्थितियाँ अत्यधिक अस्त–व्यस्त थी। दूसरे शब्दों में पूरे देश में बौद्धिक, नैतिक तथा आध्यात्मिक अंधकार छा गया था। सती, टोनही का वध, नरबलि अंधविश्वास तथा अनैतिक आचार–विचार पूरे समाज में छाए हुए थे। गुरु घासीदास ने ऐसी कुरीतियों के विरुद्ध आवाज उठाई।[7]

सामाजिक एवं नैतिक दर्शन के अंदर समस्त दर्शन को समाहित किया जाता है। जिसमें निम्न बिन्दु इस प्रकार है–

ईश्वर या सतनाम का स्वरूप – गुरु घासीदास की परमतत्व का अवबोध उनके एकात्मक तत्त्व के अनुभव पर आधारित है न कि किसी धर्मग्रंथ या सैद्धांतिक उपदेश पर, वे निरक्षर थे इसलिए कबीरदास के समान उन्होंने मसि कागद को छुआ तक नहीं था। गुरु घासीदास ने ईश्वर को एक माना जिसे सतनाम की संज्ञा दी गई है। सभी मनुष्यों का ईश्वर एक है और वह सभी पर समान रूप से कृपा करता है। वह निर्गुण, निराकार और निर्विकार है। उनका आदि नाम सतनाम है –

आदि नाम सतनाम है, सत्यहि है जगसार ।
सत्यनाम के जपन ते सब जन उतरे पार।।[8]

ईश्वर को प्राप्त करने के लिए बाहर जाने की आवश्यकता नही है। जो उन्हें शुद्ध, सात्विक और सरल भाव से खोजता है वह उन्हें स्वयं के भीतर ही मिल जाता है। क्योंकि वह घट–घट में निवास करता है।

अहिंसा– सभी धर्मों में अहिंसा को महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है। अहिंसा केवल शब्द नहीं है यह अपने आप में संपूर्ण जीवन है, परम धर्म है जो अहिंसा को अपने जीवन में साकार कर लेता है वह धर्म के सार को साकार कर लेता है। इसलिए कहा गया है "अहिंसा परमो धर्मः" अहिंसा मानवता का प्रतीक है। अहिंसा सीमा के भीतर किसी जीव की हत्या नही करने से लेकर किसी भी जीव के ह्रदय को चोट नहीं पहुंचाने तक की समस्त क्रियाएँ, चेष्टाएँ आ जाती है। किसी भी जीव पर आघात करना परमात्मा पर आघात करना है। जीना और जीने देना मनुष्य का कर्तव्य है। गुरु घासीदास ने यह संदेश दिया कि मांस–भक्षण नही करना चाहिए। सात्विक आहार ग्रहण करना चाहिए साथ ही मादक पदार्थों का पूर्ण निषेध करना चाहिए। गुरु घासीदास के सिद्धांत–दर्शन वैज्ञानिकता पर आधारित है। गुरु घासीदास ने तर्कशील होकर बताया कि मादक पदार्थ केवल मन को नष्ट नहीं करता बल्कि शरीर को भी नष्ट कर देता है।

सदाचार– सात्विक विचार सात्विक कर्म और सात्विक मन से ही सदाचार का निर्माण होता है। सादगी सरलता और निष्कपटता आवश्यक है। काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि पर नियंत्रण रखते हुए कथनी और करनी पर एकता बनाए रखनी चाहिए। किसी के प्रति दुराचार, अत्याचार, दुर्व्यवहार, अनाचार नही करना चाहिए। ईर्ष्या, द्वेष, मिथ्या भाषण से सदैव बचना चाहिए। अहंकार का त्याग चरित्र विकास के लिए आवश्यक है क्योंकि जहाँ अहंकार है वहाँ श्रेष्ठ चरित्र नहीं हो सकता चाहे वह अहंकार धन का हो या पद का हो अथवा बल का अहंकार ही अज्ञानता का दूसरा नाम है। सदाचार मे गुरु घासीदास ने महिलाओं का सम्मान तथा समाज में ऊँचा स्थान पर रखना सदाचार का श्रेष्ठ लक्षण माना है। कबीरदास जी का दोहा सदाचार के लिए चरितार्थ होता है जो इस प्रकार है–

जहाँ दया तहाँ धर्म है, जीवन मूल है तोष।
त्याग सुखों का सार है स्वर्ग जगत संतोष ।।

सदाचार का सतनाम दर्शन में महत्वपूर्ण स्थान है। सदाचार ही सच्चे अर्थों में मनुष्य को मनुष्य बनाता है।

समानता – गुरु घासीदास सभी जीवों को समान समझते थे। उनका संदेश था सभी मनुष्य समान है। ऊँच–नीच, छुआछूत आदि का भेदभाव करना न केवल मनुष्यों के प्रति बल्कि परमात्मा के प्रति भी घोर अपराध है। जाति–पाँति, छुआछूत का कोई आधार नहीं है। यह मनुष्य के प्रति अपमान का द्योतक मात्र है। यह भेदभाव अवैज्ञानिक, निराधार और स्वार्थ की उपज है। प्रत्येक मनुष्य के स्वाभिमान और आत्म सम्मान की पूर्ण रक्षा की जानी चाहिए। बाबा घासीदास माता–पिता और गुरु के प्रति पूर्ण भक्ति रखने की बात करते थे। कबीर दास ने तो गुरु को ईश्वर से भी बड़ा माना है उनका यह दोहा समानता पर चरितार्थ होता है –

गुरु गोविंद दोऊ खड़े, काके लागू पाय।
बलिहारी गुरु आपने, जिन गोविंद दियो बताय।।[9]

दूसरों को सम्मान देना ही अपने को सम्मानित करना है।

सत्य पर बल –गुरु घासीदास ने सत्य पर बल दिया और सत्य को ही ईश्वर बतलाया है। बाबा छोड़कर सत्य मार्ग पर चलने की सीख दिए हैं, जहाँ समरसता, समता, प्रेम और करुणा बसता है। वह सत्य को सर्वोपरि मानते हैं यथा –

सत्य से धरती खड़े, सत्य से आकाश।
सत्य से सृष्टि उपजे, कह गए घासीदास।।[10]

गुरु घासीदास कहते हैं कि सत्य का धारा वही हो सकता है जिसका मन शुद्ध एवं मानवीय गुणों से परिपूर्ण हो। सत्य आचरण ही सर्वश्रेष्ठ धर्म है सत्य आचरण ही कर्म और श्रेष्ठ मर्म है जो सत्याचरण करता है वही सत्य अर्थात् सतनाम तक पहुँच सकता है। संत कबीर ने कहा है –

साँच बराबर तप नहीं झूठ बराबर पाप।
जाके मन मे साँच है, ताके मन में आप।।[11]

गुरु घासीदास के दर्शन के संदर्भ में हम देखें तो कह सकते हैं कि सप्त सिद्धांतों का सार ही उनका दर्शन है जो इस प्रकार है –

1. सतनाम पर विश्वास करो।
2. बाह्य आडम्बर, मूर्ति पूजा मत करो ।
3 माँसाहार मत करो ।
4. नशा सेवन मत करो।
5. जाति भेद के प्रपंच में मत पड़ो।
6. पर स्त्री को माता जानो स्त्री सम्मान करो।
7. गाय को हल में मत जोतो, अपराह्न में हल मत चलाओ [12]

निष्कर्ष– अतः हम कह सकते हैं कि गुरु घासीदास के सामाजिक, नैतिक, आध्यात्मिक–दर्शन वर्तमान सामाजिक धरातल पर समाज सुधार हेतु उपयोगी एवं प्रासंगिक है। उनके सिद्धांत एवं उद्देश्य दर्शन का मूल आधार है, जो समस्त मानव कल्याण के लिए सार्थक है। उनके उपदेशों में एक ओर आध्यात्मिक आदर्श है तो दूसरी ओर सामाजिक चिंतन–दर्शन भी है। गुरु घासीदास ने अपने तपोबल मनोबल, आत्मबल एवं अपनी आध्यात्मिक दर्शन के आधार पर सतनाम की जागृति फैलाई, जिसमें वह सफल भी हुए। आज देश–दुनिया की परिस्थिति गुरु घासीदास के काल से बहुत भिन्न नहीं है। राष्ट्र

को निर्धनता, अज्ञानता, नशाखोरी, व्याभिचारी तथा मक्कारी जैसी समस्याओं से बचने के लिए आवश्यक है कि हम आज गुरु घासीदास के दर्शन को जाने समझे और अपने जीवन में उतारने का संकल्प ले। तभी समाज और देश विकास कर सकेगा। आवश्यकता है कि हम मानवीय मूल्यों को पुनः संचारित करे, उन्हें दृढ़ बनाएँ। इसके लिए हमें गुरु घासीदास के उपदेशों को अपने जीवन में उतारना होगा।

संदर्भ :–

(1) माटी बोलती है, मेघनाथ कन्नौजे, अंकुर प्रकाशन, 1984, पृष्ठ 31।

(2) सत्य ध्वज पत्रिका, 18 दिसंबर विशेषांक 1995, अंक 20, पृष्ठ 8,10

(3) भारतीय दर्शन, उमेश मिश्र, उत्तर प्रदेश, लखनऊ, पृष्ठ 51।

(4) शिक्षा दर्शन, डॉ० रामशकल पाण्डये, पृष्ठ 31।

(5) शिक्षा के दार्शनिक एवं समाजशास्त्रीय आधार, उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, देहरादून हल्द्वानी, एम० एड० पाठ्यक्रम, पृष्ठ 61।

(6) गुरु घसीदास संघर्ष, समन्वय और सिद्धांत, डॉ० हीरालाल शुक्ल, सिद्धार्थ बुक्स दिल्ली पृष्ठ 200,1951।

(7) सतनाम दर्शन, डॉ० टी० आर० खूटे, सतनाम कल्याण एवं गुरु घासीदास चेतना संस्थान, रायपुर छत्तीसगढ़ पृष्ठ 328

(8) माटी बोलती है, मेघनाथ कन्नौजे, अंकुर प्रकाशन, 1984, पृष्ठ– 36

(9) वही पृष्ठ 37, 38

(10) वही पृष्ठ 39 40

(11) सतनाम संदेश मासिक पत्रिका, छत्तीसगढ़ प्रगतिशील सतनामी समाज, रायपुर छत्तीसगढ़, मार्च 2018, पृष्ठ 181

(12) तपश्चर्या एवं आत्म चिंतन गुरु घासीदास बलदेव प्रसाद/जयप्रकाश मानस/ रामशरण टण्डन, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, 2015, पृष्ठ 161।

भारत की सन्त परम्परा का दार्शनिक दृष्टिकोण संतो की दृष्टि में समाज

चैतराम यादव
शोध छात्र
डॉ.(श्रीमती) बी.एन.जागृत
शास.दिग्विजय महाविद्यालय, राजनांदगाँव

विषय प्रवेश :

संत साहित्य जन साधारण का साहित्य है। संत कवि भारतियों के प्रतिनिधि कवि थे। उनकी विचार धाराएं जन सामान्य की विचार धाराओं से मेल खाती थी। जन साधारण की आशा–निराशाओं और सुख–दुख का पावन संगीत है संत साहित्य संत साहित्य जीवन की क्षणभंगुरता, विषय सुख त्याग, आत्मा परमात्मा का संपूर्ण मिलन, घट घट निवासी ब्रहम कल्पना माया पाश से मुक्ति, पूर्ण समर्पण जैसे तत्वों से ओत प्रोत है। संत जिस विचारधारा को लेकर अपनी वाणी की रचना में प्रवृत्त हुए है, वह अपनी भाव विभोर वाणी द्वारा आध्यात्मिक साधन तथा भक्ति अभ्युत्थान का कार्य किया है। संतो ने मानव जीवन पर जोर देते हुए उसको सार्थक करने हेतु सत्संग, नामस्मरण, भजन–कीर्तन, पूजन–अर्चन, गुरु महत्व, साधना महत्व, योग महिमा, सदवचन, माया निरूपण, संसार की अस्सारता को दर्शाया है। संतो के जीवन दर्शन, चिंतन और काव्यधारा पर उपनिषदों का व्यापक प्रभाव है। संत काव्य और संत दर्शन पर नाथपंथ का भी प्रचुर प्रभाव है। संत कवियों का लक्ष्य काव्य रचना नहीं था, उनकी रचनाओं में जन–जन के हित और उनके उद्‌बोधन की भावना सन्निहित है। भावों के स्पष्टीकरण के लिए उन्होंने प्रतीकों, उपमाओं, रूपकों की योजना अवश्य की है, किन्तु इसमें संदेह नहीं कि काव्योत्कर्ष अथवा काव्यसौष्ठव उनका साध्य नहीं था।

दार्शनिक विचारधारा :

भारत में दर्शन शास्त्र का अध्ययन एक विशिष्ट कार्य है कारण यह है कि भारतीय दर्शन की धारा सुदूर वैदिक काल से अविच्छिन्न रूप से प्रवाहित होती चली आई है। यूरोप आदि पाश्चात्य देशों में दर्शन शास्त्र विद्वानों और पण्डितों के मानसिकोल्लास का साधन था। जिस प्रकार अन्य विषयों के अध्ययन में वे मन–मानी कल्पना किया करते हैं उसी प्रकार इस महत्वपूर्ण विषय की भी स्थिति है। परन्तु भारतवर्ष में दर्शन तथा धर्म का तत्व ज्ञान तथा भारतीय जीवन का गहरा संबंध है।

दर्शन वह विद्या का नाम है जो सत्य एवं ज्ञान की खोज करता है। व्यापक अर्थ में दर्शन, तर्कपूर्ण विधिपूर्वक एवं विचार की कला है। सत् एवं असत् पदार्थों का ज्ञान ही दर्शन है।
संत काव्य भावनात्मक एवं अनुभूति प्रवण जन काव्य है। संतो ने "कागद की लेखी न मानकर आखिन" की देखी कहा है। संतों ने शास्त्रीय ज्ञान से दूर रहकर सहज, सांसरिक एवं व्यावहारिक ज्ञान की प्राप्ति पर बल दिया।

संतो का साहित्य एवं समाज पर प्रभाव:–

संतो के विराट व्यक्तित्व की भांति संत शब्द भी बहुत व्यापक है। दार्शनिक विचारों एवं मान्यताओं का संत साहित्यकारों पर पर्याप्त प्रभाव था। वे भारतीय दार्शनिक, साधकों और उनके मतों से पहले परिचित थे। संत साहित्य की दार्शनिक विचारधारा का स्वरूप उपनिषदों, सिद्धो, नाथो और

सूफियों की चिंतनशील अनुभूतियों से प्राप्त हुआ है। इस प्रकार अनेक युगों, अनेक साधकों की अनुभूतियों और अनेक दार्शनिक विचारधाराओं का सामंजस्य ही संत दर्शन की आधारशिला है। इसलिए संत दर्शन भारत की आत्मा है।

संतो के मत में अलौकिक ज्ञान को प्राप्त करने के लिए एक सदगुरू का मार्ग अपेक्षित है। परमात्मा जगत् की प्रत्येक वस्तु में और प्रत्येक वस्तु उसमें समायी हुई है। संत कवियों ने अपनी बाणियों में गुरुदेव की महिमा को व्यक्त किया है। गुरुनानक मलकूदास, नामदेव, दादूदयाल, रैदास, कबीर आदि संतों ने गुरु .पा की आवश्यकता पर अधिक बल दिया है। संत कवियों का सामाजिक दर्शन अत्यंत अपार था। उन्होंने तत्कालीन समाज की नाना गतिविधियों को देखा। उन्होंने सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक, साहित्यिक, आर्थिक क्षेत्रों में होने वाले कलुषित वातावरण देखा है।

संत साहित्यकारों ने प्रेम की पावन गंगा को बहाया है। प्रेम की व्यापक महत्व प्रत्येक संत को स्वी.त है। संतो के समाज दर्शन में हिन्दू–मुसलमान, ब्राह्मण शुद, उच्च–नीच, राम रहीम आदि का समन्वय देख पड़ता है। मानव जीवन के सहज रूप की प्रतिष्ठा और उनका अस्तित्व संत दर्शन का मूलाधार है। उन्होंने समाज में प्रचलित अनाचारों और मिथ्याडंबरों को दिल खोलकर विरोध किया। आत्म पीड़ित जनता के दुख दर्दों में उन्होंने राम बाण औषधि का काम किया है। उनके समय में प्रचलित मत–मतान्तरों में जिस प्रकार की वि.तियां आ गई थी। उन पर कठोर व्यंग्य करते हुए उन्होंने उनकी जो खिल्ली उड़ाई है, वह निःसंदेह महीन मार करने वाली है।

समाज में व्यक्ति अत्यंत महत्वपूर्ण अंग है, जिसे समाज का पारस्परिक व्यवहार संपन्न होता है। व्यक्ति के आचार विचार के अनुरूप ही समाज की असलियत निर्मित होती है। व्यक्तियों से ही सामाजिक संस्कार का निर्धारण होता है। एक सच्चे समाज में स्वच्छता, न्याय, देश प्रेम, सत्य का समुचित पालन आदि अपेक्षित है। जो व्यक्ति असत्य बोलने लगता है अथवा असत्य व्यवहार करने लगता है, उसका अंतःकरण एक बार उसे अवश्य चेतावनी देता है। अच्छा आचरण और सद्व्यवहार व्यक्ति व्यक्ति और समाज को उन्नत बना सकता है। व्यक्ति का संस्कार ठीक हो जाए तो समाज भी ठीक हो जायेंगे।

सामाजिक चेतना :

तत्कालीन सामाजिक जीवन को ध्यान में रखकर ही संतों ने अपनी वाणियों का सृजन किया है। संत योगियों के पर्दापण से समाज सब प्रकार के बाह्याडंबर की परंपरा से मुक्त हुए। संतो में कबीर ने ही अपने समय की सामाजिक परिस्थिति को बदलने के लिए कठिन प्रयास किया। उन्होंने अपने समय के धार्मिक पाखण्डों का खंडन किया है और हिन्दू मुस्लिम द्वेष और जाति–पाति के भेदभाव की असत्यता और कृत्रिमता का प्रदर्शन किया। उन्होंने अपनी अलौकिक प्रतिभा से अपने समय की समस्याओं को समझने और सामाजिक विषमताओं को सुधारने का प्रयत्न किया है। इसके लिए उन्होंने साधारण सा मार्ग अपनाया।

हर एक समाज का विकास और उन्नति विभिन्न धर्म संप्रदायों के समन्वयकारी दृष्टिकोण में निहित है। मानव धर्म ही सबसे बड़ा धर्म है, उसके सामने बाकी सब धर्म नगण्य है। संतो ने सहिष्णुता पूर्णक सकारात्मक विचारों को अपनाया और सबको विकसित होने का अवसर दिया। यह भावना सच्चे और सुधारक मनुष्य की बौद्धिक चेतना को जागृत कराती है और यह विश्व धर्म की स्थापना के लिए सहायक होती है।

संतो की दार्शनिक विचारधाराओं में प्रमुख है, एकेश्वरवाद उन्होंने बराबर हिन्दू और मुसलमान दोनों का एक ही परमात्मा होने की बात बतायी है। गुरुनानक के अनुसार वह सत्य स्वरुप सबका सृष्टा, परम समर्थ, निर्भय, स्वयंभू आदि है। गुरुनानक का मत है कि पवित्र आत्मा की कल्पना करना सामाजिक जीवन के बिना निरर्थक है उनकी वाणियों में संसार मे रहते हुए संसारिक मोह माया में न फंसने का आदेश है। 'उनका आदेश सांसरिक जीवन व्यतीत करते हुए रात का जीवन व्यतीत करना तथा संसारिक वस्तुओं का उपयोग करते हुए भी आध्यात्मिक जीवन बिताना था।

संत दादूदयाल ने भी उसकी ईश्वर की अभिन्नता की ओर संकेत किया है

बाबा नाही दूजा कोई, एक अनेक नाऊ तुम्हारे मोपै और न होई ।
अलह इलाही एक तू तू ही राम रहीम, तू ही मालिक मोहना केसो नाव करीम।'

मिथ्याचार, आडम्बर और कर्म कांडीय धर्म की स्थिति में मानव और मानवीय मूल्य शिथिल हो जाते है। भक्ति की साधना इसलिए मानव केन्द्रित है कि इसमें शास्त्रीय धर्म मानव को दबोच नहीं देता। तीर्थाटन स्थान आदि स्थूल औपचारिकता वाले धर्म से मानव धर्म बड़ा है। धर्म के नाम पर होने वाले बाह्याडंबरों के विरुद्ध कबीर ने आवाज उठाई है। उनके अनुसार तीर्थ स्नान आदि हरि स्मरण के बिना निरर्थक है।

कबीर तीरथ करि करि जग मुआ, दूध पाणी न्हाई।
समाहि राम जपतऊ, काल घसीट्या जाई।।

कबीर, गुरुनानक और दादूदयाल के द्वारा प्रवर्तित एकता के मशाल को अत्यंत दृढ़ता से रज्जबी ने अपने हाथों पर ले लिया। बाबा लालदास की रचनाएं भी कबीर के सिद्धांतों पर आधारित है। वे प्रेम और बंधुत्व के पुजारी है। उन्होंने सेवा के सिद्धांत को स्वीकार करते हुए सभी धर्मों बीच एकता का सूत्रपात किया ।

सुंदर दास भी एकता की कड़ी को विश्रृंखल होने नहीं दिया। उन्होंने कहा कि इस दुनिया में कोई भी किसी भी प्रकार के चिन्हन लेकर नहीं आया है। जन्म लेने के बाद ही ऐसा भेदभाव उत्पन्न हुआ है। वे सहज स्नेह में सभी को जोड़ना चाहते थे।

हिन्दू की हदि छाडि के तजी तुरक की राह। सुंदर सहजै चीन्हियाँ, एकै राम अलाह।।

निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि संत साहित्य के अधिकांश कवियों ने सामाजिक भाव को दृष्टि में रखकर ही अपनी वाणियाँ प्रस्तुत की है। संतो की वाणी सहज है। वह कोई साहित्यिक चेष्टा का परिणाम नहीं है। इसलिए ही कबीर, नानक, दादू, रैदास, रज्जब, आदि संतो ने पंथ या संप्रदाय खड़ा कर दिया। लेकिन उनका लक्ष्य धार्मिक सुधार की अपेक्षा समाज सुधार की साधना थी। उनका लक्ष्य मानव कल्याण और मानव मात्र का एक्य था संत साहित्य में नित्य तत्व अथवा सार तत्व विशेष प्रबल है, जो हमे पग–पग पर चेतावनी देता चलता है कि संसार असार है, शरीर क्षण भंगुर है।

संदर्भ ग्रंथ :

1. डॉ. केशव प्रसाद चौरसिया मध्यकालीन हिन्दी संत विचार एवं साधना हिन्दुस्तानी एकेडमी इलाहाबाद, पृष्ठ 77
2. डॉ.राजेश श्रीवास्तव हिन्दी साहित्य का प्रचीन इतिहास, कैलाश पुस्तक सदन, भोपाल,पृष्ठ 99.
3. डॉ. नगेन्द्र एवं डॉ. हरदयाल हिन्दी साहित्य का इतिहास, नेशनल पेपर बैक्स, पृष्ठ 114, 116
4. डॉ. विवके शंकर हिन्दी साहित्य, राजस्थान हिन्दी ग्रंथ एकेडमी, पृष्ठ 126.
5. डॉ. आर. के. पाण्डेय प्राचीन हिन्दी काव्य, शताक्षी प्रकाशन, रायपुर, पृष्ठ 30

भक्तिकालीन काव्य में सूफी काव्यदर्शन जायसी के संदर्भ में

डॉ. बी. एन. जागृत
सहायक प्राध्यापक
बिन्दु डनसेना
शोध छात्र
शा. दिग्विजय महाविद्यालय
राजनांदगाँव (छ.ग.)

हिन्दी के भक्तिकाल की एक विशिष्ट काव्यधारा को सूफी काव्यधारा कहा गया है। प्रेम की उदारता सूफी व भक्ति आंदोलन के मूल भाव हैं। इसे अनके नामों से जाना जाता है। प्रेममार्गी प्रेमाश्रयी प्रेमाख्यानक काव्य आदि। लेकिन ये अस्पष्ट हैं, क्योंकि नामकरण द्वारा किसी भी काव्य को इस परंपरा को स्थान दिया जा सकता है, जिसमें प्रेम का चित्रण हुआ हो, वस्तुतः इस प्रेमाश्रयी काव्यधारा से तात्पर्य उस विशेष प्रकार के प्रेम से है या साहसिक व स्वच्छंद प्रेम से है, जिसे अंग्रेजी में रोमांस कहा गया है।

'सूफी शब्द की उत्पत्ति अरबी भाषा के सफा' शब्द से हुई है, जिसका अर्थ है 'पवित्रता' अर्थात् जो लोग आध्यात्मिक रूप से और आचार–विचार से पवित्र थे, वे सूफी कहलाए एक विचार यह भी है कि सूफी शब्द की उत्पत्ति सूफा शब्द से हुई है, जिसका अर्थ है 'ऊन'। मुहम्मद साहब के पश्चात् जो संत ऊनी कपड़े पहनकर अपने मत का प्रचार करते थे, वे सूफी कहलाए।"[1] इस काल के प्रसिद्ध सूफी संतों में ख्वाजा मुईनुद्दीन चिश्ती, ख्वाजा कुतुबद्दीन, संत फरीद और निजामुद्दीन औलिया प्रमुख थे। भारत में इस मत का आगमन नवीं–दसवीं शताब्दी में हुआ। इसके प्रचार–प्रसार का श्रेय भारत में ख्वाजा मुईनुद्दीन चिश्ती को है।

"आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने हिंदी साहित्य के इतिहास को तीन कालखण्डों में विभाजित किया है। भक्तिकाल (संवत् 1375 से 1700 विक्रमी संवत) का वर्गीकरण दो काव्यधारा निर्गुण काव्य व सगुण काव्य में किया है। इन्हें पुनः विभक्त कर संत काव्य व सूफी काव्य, संत काव्य प्रवर्तक कबीर दास है तथा सूफी काव्य के प्रवर्तक कवि जायसी है।

सूफी मत इस्लाम धर्म का एक अंग है। इस्लाम धर्म मे शरीअत (कर्मकाण्ड) कर प्रतिक्रिया का वैसा परिणाम सूफी मत है जैसे हिंदू धर्म मे वैदिक कर्मकाण्डों की प्रतिक्रिया परिणाम वैष्णव मत है। सूफी धर्म में इस्लाम की कट्टरता का अभाव है। इसमें उदारता एवं कोमलता विद्यमान है। इनके अनुयायी उदार, विशाल ह्रदय, सहिष्णु, संवेदनशील थे। सूफी मत में मूल प्रेम तत्व है, इश्क मिजाजी (लौकिक प्रेम) एवं इश्क हकीकी (अलौकिक प्रेम) की भावना निहित है। सूफियों का इल्हाम' हाल का दशा का मूल स्त्रोत है। सूफियों ने इश्क मिजाजी के माध्यम से इश्क हकीकी को प्राप्त करने पर बल दिया।

सूफी साधना के सात सोपान है, अनुताप, आत्मसंयम, वैराग्य, दारिद्र, धैर्य, विश्वास, प्रेम। ईश्वर साधना के चार मुकाम शरीअत तरीकत मारिफत, हकीकत इन मुकामों से गुजर कर ही साधक हाल की दशा में पहुंचता है। हाल' की चार दशाएँ नासूत, मलकत, जबरुत और लाहूत।

"सूफी प्रेमाख्यानकों में प्रथम रचना मुल्ला दाऊद की 'चंदायन' को माना गया है, किंतु आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने कुतुबन की मृगावती को सूफी काव्य का प्रथम ग्रंथ माना है। प्रेमाख्यानक काव्य परंपरा में सर्वप्रमुख जायसी है तथा उनकी प्रसिद्ध ग्रंथ "पद्मावत" इनके अक्षय कीर्ति का आधार है इनकी अन्य रचनाएं है अखरावट आखरी कलाम, चित्ररेखा, कहरनामा। "पद्मावत इस परंपरा का प्रौढ़तम काव्य है। मंझन, उसमान, नूर मोहम्मद, शेखनबी, ईश्वर दास आदि भी सूफी प्रेमाख्यानकों में महत्वपूर्ण स्थान रखते है।"

अधिकांश सूफी कवि मुसलमान थे, किंतु उन्होंने अपने काव्य के लिए जो कहानियां चुनी वे हिंदू घरों की थी। इन कवियों ने हिंदू मुसलमानों को एक दूसरे के निकट लाकर अजनबीपन मिटाने का सफल प्रयास किया है। उनके काव्य में हिंदू संस्कृति का चित्रण, लौकिक प्रेम द्वारा अलौकिक प्रेम की व्यंजना की गई है। सूफी काव्य का प्रधान विषय प्रेम है। जिसके अंतर्गत कवियों ने संयोग का कम विरह का चित्रण अधिक किया है। वस्तुतः यह विरह दशा की वह मनोभूमि है, जो चित्त की समाधि या प्रिये के अतिऐकान्तिक निष्ठा लाती है। इन कवियों ने विरह वर्णन के अंतर्गत ऋतु वर्णन, बारहमासा, आदि का विशेष वर्णन किया है।

ज्ञान के क्षेत्र में अद्वैतवाद है, भावना के क्षेत्र में आकर यही रहस्यवाद हो जाता है। सूफी कवियों का रहस्यवाद भावानात्मक रहस्यवाद है। इन कवियों ने रहस्यात्मक के माधुर्य भाव का प्रचार किया। जिसका प्रभाव कबीर एवं कृष्ण भक्ति परंपरा पर स्पष्ट दिखाई देता है।

"साहित्य के क्षेत्र में रोमांस का तात्पर्य एक विशेष प्रकार की रचनाओं से है, जिनमें साहस, प्रेम, कल्पना, सौंदर्य, अलौकिक तथ्यों का समावेश रहता है। भारत में रोमांचक कथाओं या प्रेमाख्यानकों की एक दीर्घ परंपरा मिलती है। ऐसी कथाओं में समान्यतः ऐसा समाज चित्रित हुआ है, जो सौंदर्य एवं प्रेम को ही जीवन का परम लक्ष्य मानते हैं तथा समस्त धार्मिक नियमों, रीति–रिवाजों की मर्यादा में रहता है। इनका स्पष्ट उदाहरण ऋग्वेद के उर्वशी पुरुरवा अख्यान, महाभारत के नल–दम्यती सत्यवती शांतनु अर्जुन–सुभद्रा, द्रौपदी–पाण्डव, ऊषा– अनिरुद्ध राधा–कृष्ण प्रभावती प्रद्युम्न आदि पौराणिक कथाओं में मिलते हैं।"[4] इन अख्यानों में ऐसे प्रेम का निरूपण हुआ है, जो विवाह की मर्यादाओं की अपेक्षा चित्रदर्शन या स्वप्नदर्शनजन्य सौंदर्यानुभूति अधिक प्रेरित है तथा जिनमें नायिका के प्राप्ति के लिए नायक को भारी संघर्ष या युद्ध करना पड़ता है।

"हिंदी की यह एक ऐसी परंपरा है, जो कई वर्षों तक चलती रही, जिसका प्राकृत, संस्कृत व अपभ्रंश की काव्यधारा से सीधा संबंध है। यह मध्यकालीन परंपरा के सर्वाधिक दीर्घ एवं व्यापक परंपरा रही है। धर्माश्रयी व लोकाश्रयी संयुक्त रूप में संपोषित होने वाली इस परंपरा ने जनता के काव्य रुचि एवं मनोरंजन को पुष्ट किया है। इस काव्य परंपरा से जनसाधारण ज्ञानकोष की वृद्धि हुई है, लोक के नाना पक्षों का उदघाटन हुआ है तथा शुद्ध काव्य की दृष्टि से इसका महत्व अक्षुण्ण है।"

प्रेमाख्यानक काव्य परंपरा में जायसी का स्थान सर्वोपरि है, यदि जायसी को इस परंपरा से हटा दिया जाये तो यह पूरी काव्य परंपरा निस्तेज एव निष्प्रमाण हो जायेगी। शेरशाह के समकालीन जायसी के तीनों रचनाओं में पद्मावत हिंदी साहित्य का अमूल्य रत्न है। इसमें लौकिक प्रेमकथा को अलौकिक रूप प्रदान किया गया है, जहां अन्य कवियों ने अपने प्रेमाख्यानकों में काल्पनिक नायक–नायिकाओं की कहानी लिखी है, वहां जायसी का महत्व इस बात में भी है कि उन्होंने पद्मावत को एक सुंदर महाकाव्य का रूप प्रदान किया है, इसमें प्रेम साधना और सिद्धी दोनों अवस्थाओं का चित्रण है। "दुःख के नाना रूपों और कारणों की उदभावना जायसी के विरहोद्‌गार अत्यंत मर्मस्पर्शी है। जायसी विप्रलंभ

श्रृंगार के प्रधान कवि है, जो वेदना को कोमलता, सरलता और गंभीरता इनके वचनों में है। नागमती सब जीव–जंतुओं पशु–पक्षियों में सहानुभूति की भावना करती है।

पिउ सो कहेऊ संदेशडा हे भौरा! हे काम!
से धनि विरहै जरि मुई, तेहिक धुव हम्हं लाग"।।

"प्रेमगाथ परंपरा में पद्मावत सबसे प्रौढ़ और सरस है, प्रेममार्गी सूफी कवि जायसी की कथा विशेषता है कि इसके ब्यौरों से भी साधना के मार्ग, उसकी कठिनाईयों और सिद्धी के स्वरुप आदि कि जगह–जगह व्यंजना होती है, जैसा कि कवि ने स्वयं ग्रंथ की समाप्ति पर कहा है –

"तन चितउर, मन राजा कीन्हा। हिय सिंघल, बुधि पदिमिनि चीन्हा।।
गुरु सुआ जेई पंथ देखावा। बिनु गुरु जगत को निरगुन पावा।।
नागमती यह दुनिया धंधा। बाँचा सोइ न एहि चित बचा।।
राघव दूत सोई सैतानू। माया अलाउदी सुलतानू।।

हिंदू ह्रदय और मुसलमान ह्रदय आमने–सामने करके अजनबीपन मिटाने वालों में जायसी का नाम लेना पड़ेगा।"

निष्कर्षतः सूफी काव्य परंपरा में प्रेम की महत्ता बताई गई है और संत काव्य परंपरा में ज्ञान की महत्ता को बताई गई है। भक्तिकालीन निर्गुण काव्यधारा के सूफी काव्य हमें प्रेम का संदेश देता है, जिसकी आज दुनिया को बहुत जरूरत है और ये कई सौ साल पहले सूफी कवियों ने हमें बताने का प्रयास किया कि जिससे प्रेम करोगे उसको पाने बचाने का प्रयास करोगे। इस काव्य की प्रासंगिकता है कि हम अपने देश, अपने समाज, सारी दुनिया को प्रेम करे उसको ब्रम्हस्वरूप समझे ब्रम्ह का अवतार समझें।

संदर्भ ग्रंथ सूची :

1. शुक्ल, आचार्य रामचंद्र हिंदी साहित्य का इतिहास जयपुर देवनागर प्रकाशन संस्करण 2008
2. शुक्ल, आचार्य रामचंद्र हिंदी साहित्य का इतिहास जयपुर देवनागर प्रकाशन संस्करण 2008
3. नगेन्द्र हिंदी साहित्य का इतिहास, नई दिल्ली, मयूर पेपरबैक्स 51वां संस्करण 2016 पृ. 251
4. नगेन्द्र हिंदी साहित्य का इतिहास नई दिल्ली मयूर पेपरबैक्स 51वां संस्करण 2016
5. तिवारी, रामचंद्र रामचंद्र शुक्ल रचयिता वाणी प्रकाशन, पृ. 235
6. शुक्ल आचार्य रामचंद्र हिंदी साहित्य का इतिहास जयपुर देवनागर प्रकाशन संस्करण 2008
7. शुक्ल आचार्य रामचंद्र हिंदी साहित्य का इतिहास, जयपुर देवनागर प्रकाशन संस्करण 2008

भारतीय शिक्षा व्यवस्था के दार्शनिक आयामों का विश्लेषण

डॉ सिन्धु पौडियाल
दर्शन शास्त्र विभाग
त्रिपुरा विश्वविद्यालय
त्रिपुराच

ज्ञान अर्जन की एक ऐसी पद्धति 'शिक्षा' – जो एक जीवन भर चलने की प्रक्रिया का नाम भले ही है, लेकिन अगर आज की शिक्षा पद्धति पर गौर करेंगे तो देखा जाएगा यह बस एक आयाम है अन्य अनगिनत आयामों के मध्य जो व्यक्ति के सर्वांगीण विकास में हितकारी मानकर एक निर्धारित समय से प्रारम्भ किया जाता है। शिक्षा व्यवस्था का दूरदर्शी लक्ष्य एवं उद्देश्य सुसंगत और नीति परक इंसान को विकसित करना है, जिसमें–नैतिकता और मूल्यों के साथ साथ– दया और सहानुभूति, साहस, वैज्ञानिक और रचनात्मक– कल्पना शामिल है। वर्तमान समय में इसका उद्देश्य हमारे संविधान द्वारा परिकल्पित एक समता मूलक, समावेशी और बहुलतावादी समाज के निर्माण में लगे, उत्पादक और नागरिकों का निर्माण करना है – जिसे भारत की नयी शिक्षा नीति के अन्तर्गत भी प्रमुख स्थान दिया गया है। अतः ज्ञान के इस लक्ष्य को शिक्षा–प्रणाली से एक सम्पूर्ण व्यक्ति का निर्माण करना चाहती है। इन्हीं कुछ दार्शनिक अवधारणाओं और मान्यताओं को कसौटी में रख कर यह आलेख लिखने का प्रयास किया गया है। शोध के भीतर इस संदर्भ विश्लेषण की पद्धति आलोचनात्मक, उपदेशात्मक और विश्लेषणात्मक है। इस शोध पत्र में– मैं भारत की नई शिक्षा नीति 2020 और शिक्षा की हमारी पारंपरिक भारतीय दार्शनिक नींव के बीच निम्नलिखित तीन बिंदुओं पर मैं विश्लेषण करने का प्रयास करुँगी जो कि दार्शनिक प्रणाली, तकनीकों और विचारधाराओं के आधार पर नीति के पक्ष में और विरुद्ध में भी हैं।

1. भारत की नई शिक्षा नीति भारतीयता का प्रमाण?
2. उच्च शिक्षा और उसकी प्रासंगिकता आज के परिप्रेक्ष में
3. शैक्षिक प्रक्रिया के स्तम्भ छात्र और शिक्षक

मेरे निजी विचार में, यदि शिक्षा मेरे सवाल करने, आलोचना करने और विश्लेषण करने की क्षमता विकसित नहीं कर सकती है, जो कि संदर्भ के भीतर प्रासंगिक हो– इस प्रकार की शिक्षा मात्र यांत्रिक हो जाती है और इसलिए इसे आजीवन और सार्वभौमिक प्रक्रिया के लिए स्वीकृत नहीं किया जा सकता। मुझे साथ ही यह भी विश्वास है की हर व्यक्ति विशेष के व्यक्तित्व के विकास में यह प्रक्रिया –जिसे हम शिक्षा कहते हैं, उपयोगी है।

भारत की नई शिक्षा नीति : भारतीयता का प्रमाण?

मानविकी और सामाजिक विज्ञान के क्षेत्र में शिक्षा के अनिश्चित भविष्य और युद्ध के बाद के औपनिवेशिक दुनिया में उदार कला और शिक्षा के अस्पष्ट भाग्य पर पाश्चात्य दार्शनिको ने पहले ही बहुत कुछ कहा है। लेकिन हम में से कई विद्वान जो उत्तर–आधुनिक काल की साहित्य और वैचारिक द्वन्द के माध्यम से अथवा कोई और प्रक्रिया के माध्यम से इस बात की पुस्टि करते हैं – तो हमारे क्षेत्र का महत्व दृढ़ता के साथ सार्वजनिक रूप से बढ़ जाता है। हम हमारे शैक्षिक महत्व (जो मूलतः दर्शन पर आधारित है) के लिए पर्याप्त रूप से आश्वस्त हैं? जो भी आवश्यक शोध हो– करने के लिए तैयार हैं? हमारे (दार्शनिक अवधारणाओं की) अस्तित्व की रक्षा में कोई जरूरत तो नहीं है (हमारे प्राचीन और

वर्तमान के मूल्यों में) –हमारे इस सामूहिक गीत के सामान्य बोझ को दोहराते हुए, कि हम युद्ध के बाद दुनिया, कोइ सभ्य वह दुःख से उबारने लायक बने हैं? दुनिया भर में शिक्षा को अत्यधिक महत्व दिया गया है और संस्थागत शिक्षा की विधा को भी दिए गए संदर्भ में ही तय माना गया है। अच्छी तरह से उस आदर्श को भारत की पिछली शिक्षा नीति के भीतर भी सामने रखा गया है जिसे लगभग पैंतीस साल पहले कार्यान्वित किया गया था।

भारतीय शिक्षा नीति और भारतीय शिक्षा प्रणाली अतीत की दो अलग–अलग धारणाएँ थीं। 2020 की नई शिक्षा नीति में दोनों के बीच की खाई को भरने के लिए, भारतीय शिक्षा प्रणाली ने भारत के संस्थापक मूल्यों को शिक्षा के माध्यम से शामिल करने का लक्ष्य रखा है (हर शिक्षा नीति में) –ताकि शिक्षा एक पूर्ण व्यक्ति के विकास में उपयोगी हो सके। इस संदर्भ में यदि हम शिक्षा के भारतीयकरण पर बोलने का प्रयास करते हैं तो पहला सवाल मेरे विचार मे आता है कि जब भारत को दस दशक से अधिक समय के लिए उपनिवेश बनाया गया था, तो हम दिए गए संदर्भ मे भारतीयकरण के एक विशेष विचार की पुष्टि कैसे कर सकते हैं? हम किस हद तक वेदों और उपनिषदों को सुराग के रूप में आधार बना सकते हैं? क्योंकि इसका दूसरा पर्याय यह है की, अनगिनत कारणों से यही ग्रन्थ परिवर्तन या संदर्भात्मक अर्थों के अधीन भी हैं–जिस कारण से इन्हे सफलता पूर्वक अथवा औपचारिकता के साथ प्रस्तुत नहीं किया जा पा रहा है। हालाँकि, अनौपचारिक रूप से इन ग्रंथों का धार्मिक तथा सांस्कृतिक रूपों में इस्तेमाल सदियों से होता आ रहा है। कम्प्यूटेशनल व्यवहार से लेकर प्रकृति के हर एक कण को तराशने मे हमने भारतीय संस्कृति और समाज व्यवस्था में निहित दर्शन और भाव को अपनाया है। लेकिन जब जब इन आदर्शों और दर्शन को बढ़ावा देने की बात हुई है तब तब इन ग्रंथों मे निहित शिक्षा और भाव को अप्रासंगिक करार दिया गया है, जिसके प्रभाव से वर्तमान समय में भौतिकवाद, उपभोक्तावाद और वैश्वीकरण के दौर में शिक्षा का अर्थ भी बदलने लगा है। भारतीय दर्शन जहाँ एक ओर व्यक्तिगत मोक्ष की बात करता है आज उसको व्यक्तिगत भौतिक वाद में रखा गया है और दोनों में श्रेणीगत भिन्नता स्पस्ट है। उदहारण के तौर पर देखा जाए तो – भारतीय ज्ञान प्रणाली बहुआयामी है और इसका एक पहलू स्वदेशी ज्ञान परंपरा है, जिसे महात्मा गांधी, ओशो और कई अन्य दार्शनिकों के सिद्धान्तों मे देखा जा सकता है वास्तव मे, गांधी के स्वराज और सर्वोदय के पूरे विचार को सभ्यता के ज्ञान और जीवन के जनजातीय तरीके से वापस जोड़ने से संबंधित किया जा सकता है।

उच्च शिक्षा और उसकी प्रासंगिकता : आज के परिप्रेक्ष मैं

उच्च शिक्षा और उसकी प्रासंगिकता के बारे में भी विस्तार पूर्वक आलोचना करने की आवश्यकता है। इस प्रसंग में मैं व्यक्तिगत तौर पर वर्तमान प्रचलित सर्वशिक्षा सामूहिक शिक्षा (Education for all@mass education) की आलोचना करती हूं। मैं मानती हूँ की शिक्षा हर किसी का मौलिक अधिकार है–और शिक्षा के माध्यम से ही एक साधारण व्यक्ति खुद को और समाज को विकास की नयी ऊँचाईओं तक ले जाने में सक्षम होता है। और इसका दूसरा पहलु यह भी है की–छात्र/छात्रा अपने उच्चतर शिक्षा के संस्थानों में भी यह उम्मीद लगाए बैठे रहते हैं की उच्च शिक्षा मे भी उन्हें प्राथमिक शिक्षा की तरह, सब कुछ हाथ से तैयार करके दिया जाना और यह धीरे–धीरे उच्च शिक्षा की नीव (लगभग एक परंपरा) बन गई है। अब यहाँ एक असंगति दिखाई देता है जहाँ एक ओर उच्चतर शिक्षा संस्थानों में मूलतः विशेष प्रशिक्षण के ऊपर अधिक ध्यान देना चाहिए क्योंकि इन संस्थानों मैं अगर स्पून–फीडिंग की संस्कृति को स्थायी मानदंड दिया जाने लगे तो जिस कौशल के

विकास की कल्पना शिक्षा नीति में कईबार दोहराया गया है वह कहीं बस अक्षरों में ही सिमट के न रह जाए। हालाँकि जिस प्रकार से नई शिक्षा नीति में श्रेणी बद्ध और व्यवस्थित प्रक्रियाओं की बात की गयी है उससे तो यह निष्कर्ष भी निकला जा सकता है कि निकट भविष्य में उच्च शिक्षण संस्थानों में नामांकन की संख्या घट सकती है और गुणवत्ता में सुधार हो सकता है। उदाहरण के लिए पिछले कुछ वर्षों में बीस से पच्चीस वर्ष की आयु के आसपास के युवाओं में शिक्षा के लक्ष्य और पाठ्यक्रमों के चयन में अलग ही दृष्टिकोण रही है। जो कि बाहर निकलने के विकल्प और नौकरी उन्मुखता के कारण कौशल विकास पाठ्यक्रमों में जाने की इच्छा रखते हैं। यदि यह बड़े पैमाने पर अथवा राष्ट्रव्यापी होता है तो इसे नई शिक्षा नीति के निहितार्थ के रूप में देखा जा सकता है।

लेकिन उपरोक्त योजना से दर्शन, इतिहास या धर्मशास्त्र जैसे राजनीतिक, मानविकी, सामाजिक विषयों के लिए एक और अनुचित बाधा है। पारम्परिक विषय अब अपनी मौलिकता के लिए पुनर्जीवित नहीं हो पाते हैं और यह दृष्टिकोण हमें एक बार फिर से पहले घेरे में वापस लाता है। शिक्षा का उद्देश्य आखिर क्या है। जब हम मानव जाति के भविष्य के लिए एक समृद्ध मनुष्य का निर्माण नहीं कर सकते? अन्तर्राष्ट्रीय शिक्षा विशेषज्ञ आमतौर पर मानते हैं, बहस भी करते हैं कि क्या विकासशील देशों को कालेजों और विश्वविद्यालयों पर अपना समय और पैसा केन्द्रित करना चाहिए। जो या तो कुलीन या जनता या वंचितों को शिक्षित करते हैं। मैं इन असंतोषजनक स्थितियों को पहचानने के लिए, यह निर्धारित करने के लिए हर बार क्षोभ करने में संकोच नहीं करूँगी और सभी से निवेदन करूँगी की इन मूलभूत अधिकारों को रक्षा करने में और समस्याओं के समाधान/दूर करने में एक वास्तविक भूमिका निभाएं और शिक्षा के अधिक आक्रमक विभाग के लिए पहल करना न छोड़े।

भाषा साहित्य और दार्शनिक की अग्रणी भूमिका के रूप में हम अपने युवाओं के भविष्य की शिक्षा को प्रभावित करेंगे, उन्हें वास्तविक मूल्यों का एक बड़ा भाव दें, न कि केवल उनके साथ खुद के संबंध में लेकिन उन अन्य राष्ट्रों के साथ जिनके साथ हम अपनी आवश्यकता का जश्न मनाते हैं, साझा करते हैं, मानव प्रयास के हर क्षेत्र में मैत्रीपूर्ण और व्यावहारिक संबंध स्थापित करना। हम अपने संस्थानों/संगठनों के भीतर खोज कर सकते हैं। मानव जाति के लिए एक नए दृष्टिकोण और पूरे देश में उदार संस्थानों को सुरक्षित स्थापना को प्राप्त करने के लिए इस स्पष्ट दायित्व को निभाने के लिए आवश्यक संसाधन पर्याप्त हैं।

इसी से संबंधित नई शिक्षा नीति का एक अन्य महत्वपूर्ण पहलू, 'कौशल विकास' के लिए व्यापक संबंध का समावेश भी रहा है। वर्ष 2014 में कौशल के विकास के माध्यम से रोजगारोन्मुखी पाठ्यक्रमों के नाम पर राज्यों और केन्द्र सरकार द्वारा बहुत ही गहरी रुचि दी गई है, कि वे शिक्षा को और अधिक यथार्थ रूप से कर सकें, जो कि स्वभाव में निबंधात्मक और प्रगतिशील लगता है। लेकिन क्या केवल कौशल की शिक्षा के माध्यम से एक मनुष्य के समस्त वैचारिकता और अस्तित्व के अर्थ को साकार किया जा सकता है। इस खण्ड में मेरा लक्ष्य उच्च शिक्षा के कौशल विकास की प्रकृति और प्रगति का विश्लेषण है। कौशल विकास स्वयं के जन्मजात गुणों द्वारा नियंत्रित नहीं होता है। कौशल एक ऐसी कला है जिसे दृढ़ता और कठोर प्रशिक्षण द्वारा समय पर विकसित किया जा सकता है। लेकिन नैतिकता कुछ हद तक जन्मजात है और इसे औपचारिक रूप से भी सीखा जा सकता है। प्रत्येक विकसित राष्ट्र ने बाजार की आवश्यकता के अनुसार मानव संसाधन के उत्पादन की नीति को अपनाया था और अतीत में काफी असफल रहा था और भारत में भी हम आज इसे नीतिगत संदर्भ में आगे ला रहे हैं जिसका भविष्य में प्रतिकूल प्रभाव पड़ सकता है।

उपरोक्त युक्ति को प्रस्तावित करने के परिप्रेक्ष्य में अनेक कारणो को आधार बनाया जा सकता है। लेकिन एक कारण जो मैं तर्कसंगत तरीके से उठाना चाहती हूँ वह यह कि यदि हम पारम्परिक ज्ञान के भारतीय प्रणाली के मूलभूत पहलू के बारे में सोचते हैं तो मानव जीवन का उद्देश्य भौतिकवाद की गुलामी करना नहीं है। बल्कि मानव जीवन का *उद्देश्य 'भौतिकता की अनिवार्यता की समझ' और* 'जागरूकता के अनुसार' लोगों को वास्तविक रूप से 'आवश्यक प्रकृति' (क्षेत्र) और जीवन का नेतृत्व (अध्यात्म) करना है। हालाँकि यहां एक आपत्ति हो सकती है कि यह विचार भारतीय दिमाग को सदियों पीछे ले जा सकता है और यह इक्कीसवीं सदी में एक आदर्श स्थिति नहीं होगी। और यह एक बहुत ही उचित तर्क है। लेकिन हमें खुद को यह भी याद दिलाना होगा कि औद्योगिककरण और विकास में एक और प्रबुद्धता हमें कही एक ओर विश्व युद्ध अथवा एक अलग ही तरह की पूंजीवादी देश के निर्माण के लिए तैयार तो नहीं करेगी। इसलिए, एक सावधानी के तार्किक अवधारणा के रूप में मैं किसी भी कौशल विकास पाठ्यक्रम के साथ अपनी बात को प्रस्तुत करना चाहिती हूँ। क्योंकि, प्रत्येक पाठ्यक्रम को मानव व्यक्तित्व के विकास के रूप में एक व्यक्तित्व विकसित पाठ्यक्रम (दिशा–निर्देश लेकिन तांत्रिक नहीं) को शामिल करने की आवश्यकता है। यहाँ पर मुझे दार्शनिक आधारभूत सिद्धान्तों का जबरदस्त दायरा दिखाई देता है। बड़े पैमाने पर मानवता और विश्व के कल्याण के लिए एक व्यक्ति में विश्लेषणात्मक कौशल के विकास से, ज्ञान की ये पारम्परिक प्रणाली (विशेष रूप से भारतीय दर्शन) महान संसाधन के रूप में प्रकाशित हो सकता है।

शैक्षिक प्रक्रिया के स्तम्भ : छात्र और शिक्षक

शिक्षक और छात्र के संबंधों को समझना अपने आप में शिक्षा का एक लक्ष्य रहा है। और इसी में संस्थागत शैक्षिक प्रक्रिया का एक महत्वपूर्ण पहलू निहित है। शिक्षा प्रणाली को फलदायी और प्रभावी बनाने के लिए कईबार हमने यहां बदलाव किए ताकि शैक्षिक प्रक्रिया के दो मजबूत स्तम्भों के बीच प्रभावी संबंध बनाया जा सके। मुझे यह तो पता नहीं की पहले के और आज के शिक्षा व्यवस्था में कौन से ऐसे मूलभूत भिन्नताएँ है जिन्हें हम आज के दौर में क्रियान्वित करने में कारगर नहीं हो पा रहे है। और हर बार हम शिक्षा की बेहतरी के परिप्रेक्ष्य में अनायास ही पहले की शिक्षा व्यवस्था की बढ़ाई करते हैं।

समकालीन समय में शिक्षा के मानक और शिक्षक, छात्र के बीच के संबंध में प्रायः यहां तक कहा जाता रहा है कि इस सम्बन्ध में काफी बदलाव आया है। शिक्षक, छात्र सम्बन्ध तुलनात्मक रूप से कमजोर छात्रों को शिक्षा के क्षेत्र में उपलब्धि के लिए प्रेरित करके दोनों स्तम्भों के बीच की खाई को भरा जा सकता है। मनोवैज्ञानिक यहाँ तक दावा करते है कि जो शिक्षा सबसे लम्बे समय तक चलने वाले तरीकों में से एक हैं जो शिक्षक छात्र की उपलब्धि और कैरियर की सफलता को प्रभावित कर सकता है। जब छात्रों को इसमें महारत हासिल करने के लिए अपने काम में दिलचस्पी महसूस होती है, तो वे सीखने के लिए प्रेरित होते हैं। जो उन्हें उनके पूरे जीवन के लिए लाभान्वित करेगा। साथ ही वे अपने शिक्षकों, कक्षाओं और पाठों के प्रति सकारात्मक दृष्टिकोण रखने की अधिक सम्भावना रखते हैं। जब छात्र ग्रेड पर कम और महारत पर अधिक ध्यान केन्द्रित करते हैं, तो वे एक सफल उपजीविका का माध्यम, स्रोत बनते हैं और ऐसे छात्र दूसरों के लिए भी प्रेरणा के पात्र होते हैं। सकारात्मक शिक्षक, छात्र कनेक्शन बच्चों को स्व–विनियमन कौशल विकसित करने में मदद कर सकते हैं। विशेष रूप से स्वयत्तता और आत्मनिर्णय के क्षेत्र में वह प्रेरणादायी होते हैं। जैसे ही छात्र अपने व्यवहार का मूलयांकन और प्रबंधन करना सीखते है, वे अपने व्यक्तिगत और शैक्षणिक लक्ष्यों तक

पंहुचने मे स्वयं ही सक्षम होंगे। लेकिन मेरा सवाल यह भी है कि इस संबंध मे वर्षो से पर्यांतरण / विचलन हो रहा है तो शिक्षक और छात्र के बीच सम्बन्ध की गिरावट मे सम्भावित कारण क्या है? क्या हम आजादी के पचहत्तर साल बाद भी विदेशी आक्रमण और उपनिवेशवाद करने मे उदासीनता कहीं प्रबल न होते दिखे, क्यों कि जब चीजें प्रस्तावित की जाती है, तो वे कागज और नीतियो मे बहुत ही सभ्य लगते हैं, लेकिन भारत जैसे विशाल देश में जमीनी स्तर पर उन्हें साकार करना निश्चित रूप से चुनौतीपूर्ण है। यहां भी मुझे विश्वास है कि दार्शनिको की एक जबरदस्त भूमिका है। यद्यपि नीति मे दर्शन को विषयगत रूप से अधिक स्वीकृति न मिल पाई हो, लेकिन हम अभी भी आत्मनिरीक्षक और आलोचक की भूमिका तो निभा ही सकते हैं। हमें लगातार समाज के साथ–साथ नीति निर्माताओं को भी समय–समय पर निम्न दो बिन्दुओं में विशेष टिप्पणी करते रहना चाहिए। 1. आज की यह आवश्यकता है कि 'भारतीय शिक्षा प्रणाली के सम्य भारतीयता का सम्बन्ध' का तथ्य क्या है और 2. भारत मे ज्ञान परम्परा का उद्‌देश्य क्या हैं। मुझे व्यक्तिगत तौर पर आशा है कि दार्शनिक होने के नाते अगर हम इन दोनों कार्यों में पर्याप्त ईमानदार हैं, तो बहुत हद तक समकालीन मानवीय समस्याओं के साथ–साथ वर्तमान और भविष्य की शिक्षा व्यवस्था में सुधार ला सकते हैं।

संदर्भसूची

1. Ahuja, Ram. Indian Social System. India: Rawat Publications, 1993.
2. Dasgupta, Surendranath. A History of Indian Philosophy, Volume 1 (Reprint Edition). New Delhi: Motilal Banarsidass Publ., 1975.
3. Dasgupta, Surendranath. A History of Indian Philosophy: Volume 2. Kiribati: Cambridge University Press, 1932.
4. Kumar, Krishna. Routledge Handbook of Education in India: Debates, Practices, and Policies. United Kingdom: Taylor & Francis, 2017.
5. Lauglo, Jon and R. Maclean (Ed.) Vocationalisation of Secondary Education Revisited. Netherlands: Springer Netherlands, 2006.
6. Mansoori, I.K. Bhartiya Shiksha Vyavastha Ka Vikas. India: Khel Sahitya Kendra K.S.K. Publishers & Distributors, 2008.
7. NEP_Final_English_0.pdf (education.gov.in) (Accessed on 10/5/2021)
8. Radhakrishnan, Sarvepalli. Occasional Speeches And Writings. N.P.: Creative Media Partners, LLC, 2021.
9. Radhakrishnan, Sarvepalli. Indian Philosophy (Vol-1 and 2). India: Oxford University Press, 1996.
10. Raveh, Daniel. Daya Krishna and Twentieth-Century Indian Philosophy: A New Way of Thinking about Art, Freedom, and Knowledge. United Kingdom: Bloomsbury Publishing, 2020.

आधुनिक काल में वैदिक शिक्षा की प्रासंगिकता

डॉ. ज्योति चौधरी
अतिथि विद्वान, दर्शनशास्त्र विभाग
माता जीजाबाई कन्या स्नातकोत्तर महाविद्यालय,
इन्दौर मध्यप्रदेश
मो.नं. 9303860121
ई–मेल : jyotismart28@gmail.com

वेद भारतीय संस्कृति के प्राचीनतम ग्रन्थ माने जाते हैं। वेद ज्ञान के अथाह भण्डार हैं। वेदों का ज्ञान एवं आचरण जीवन को सुसंबद्ध एवं नैतिक रूप से जीने की महत्वपूर्ण कुंजी है। इस प्रकार वेद हमें एक सफल तथा वास्तविक जीवन जीने हेतु मार्गदर्शन प्रदान करते हैं। प्राचीन भारतीय शिक्षा प्रणाली पूर्णतया वैदिक ज्ञान आधारित शिक्षा प्रणाली थी। यह न केवल हमें कोरा ज्ञान प्रदान कराती थी। अपितु जीवन को अत्यधिक व्यवहारिक एवं सकारात्मक मनोभावों से युक्त कर वास्तविक लक्ष्य का मार्ग दर्शन कराती थी। वस्तुतः मानव जीवन के दो पक्ष हैं बाह्य पक्ष एवं आन्तरिक पक्ष। बाह्य पक्ष भौतिक जीवन से सम्बन्धित होता है। भौतिक सुख ही इस पक्ष का ध्येय होता है। आन्तरिक पक्ष का भौतिक साधनों या सुखों से कोई सम्बन्ध नहीं होता। वस्तुतः जीवन का आन्तरिक पक्ष आध्यात्मिक पक्ष कहा जाता है जिसका लक्ष्य आत्मोत्सर्ग करना होता है। आत्मोत्सर्ग की अवस्था नैतिक मूल्यों एवं नीतिनिष्ठ आचरणों द्वारा आत्म अवस्थित होकर व्यष्टि चेतना का समष्टि चेतना के प्रति आह्वान है। इस विचार की ध्वनि वैदिक साहित्य में 'यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे' के रूप में दिखाई पड़ती है। वैदिक शिक्षा की प्रमुख विशेषताएँ निम्न रूप में अंकित की जा सकती हैं– वैदिक शिक्षा प्रणाली की प्रमुख विशेषता इस रूप में है कि यह मानव व्यक्तित्व के दोनों पक्षों को सन्तुष्ट करती है। वैदिक शिक्षा इस प्रकार से स्वयं में एक सम्पूर्ण व्यवस्था थी। वह छात्र को जीवन की प्रत्येक स्थिति के लिए तैयार करती थी तथा उसके व्यक्तित्व का सर्वतोन्मुखी विकास करती थी। बालक का शरीर, मन, बुद्धि अध्यात्मक सभी शिक्षा द्वारा परिष्कृत किए जाते थे। गुरू के घर या आश्रम में रहकर बालक वहाँ के आवश्यक कार्यों का सम्पादन कर प्रायोगिक ज्ञान प्राप्त करता था तथा गुरू के निकटतम सम्पर्क तथा अन्तेवासित्व के माध्यम से गुरू के आदर्श चरित्र का अनुकरण कर चरित्र निर्माण करता था।

* 'सा विद्या या विमुक्तये'[1] वैदिक कालीन शिक्षा का प्रमुख ध्येय था, जिसमें „आत्माभ्युदय सम्बन्धित वैयक्तिक गुणों के विकास की ओर विशेष ध्यान दिया जाता था।
* उल्लेखनीय है कि यहाँ पर मुक्ति केवल मोक्ष के ही अर्थ में नहीं है। यह मुक्ति व्यवहारिक जीवन से भी सम्बन्धित है। व्यवहारिक जीवन में अज्ञान के वशीभूत होकर हम कुप्रवृत्तियों (क्रोध, मान, लोभ, ईर्ष्या, द्वेष, अहंकार इत्यादि) में ही उलझे रहते हैं। विद्या अर्थात् ज्ञान प्राप्ति के बाद हम इन कुसंस्कारों से भी मुक्त होकर अभ्युदय के कार्यों में लगते हैं तथा अन्ततः निःश्रेयस को अंगीकार करते हैं।
* वैदिक कालीन शिक्षण व्यवस्था में मूल संस्कृति के संरक्षण व संवर्द्धन के लिए विशेष प्रयास किए जाते थे, जिसके लिए विशेषतः वैदिक साहित्य, दर्शन, व्याकरण इत्यादि पढ़ाए जाते थे।

"यज्ञो वै श्रेष्ठतम् कर्म" के मतानुसार कार्यानुभव की प्रणाली पर विशेष ध्यान दिया जाता था।

* छात्र के नैतिक उत्थान के लिए आध्यात्मिक वातावरण का सृजन किया जाता था जिसके लिए यज्ञानुष्ठान इत्यादि को शिक्षणाभ्यास की प्रक्रिया में महत्व दिया जाता था। आत्मिक उत्थान के साथ–साथ स्वास्थ्य शिक्षा की ओर ध्यान देते हुए व्यक्ति के सामाजीकरण का प्रयास किया जाता था। जैसा कि "सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः" इस श्रुति वाक्य के द्वारा महर्षि ने सभी प्राणियों का सुख, निरोगी काया, कल्याणप्रद पदार्थ तथा समस्त दुःखों के विनाश के लिए सृष्टिकर्त्ता परब्रह्म परमेश्वर से प्रार्थना की है।
* मानवता की अभिवृद्धि के लिए विश्रंखलित समाज को मालाकार में गुम्फित करने के उद्देश्य से मैत्री, सदाचार, उच्चविचार, नैतिकता, दया, करूणा तथा अहिंसा का प्रशिक्षण आध्यात्मिक पृष्ठभूमि के अन्तर्गत दिया जाता था। इस संदर्भ में वैदिक ऋषियों की अवधारणा थी कि वैयक्तिक स्वतंत्रता तथा मानवीय समानता की उदात्त भावना के बिना उच्च आदर्शों वाले समाज का निर्माण सम्भव नहीं है। इसके लिए वैदिक कालीन शिक्षा व्यवस्था में धार्मिक शिक्षा को प्रधानता प्रदान की गयी।
* "माता भूमि पुत्रोऽहम् पृथिव्याः" इस युक्ति के द्वारा वैदिक ऋषियो ने सामाजीकरण की भावना से राष्ट्रोन्नयन में योगदान का उपदेश दिया है। इस प्रकार के युक्तियों के माध्यम से वैदिक ऋषियों ने पर्यावरण के प्रति मानवीय कर्त्तव्यों का मानवीयकरण एवं मानवीय सम्बन्धों की भावनाओं के साथ जोड़ने का प्रयत्न किया है।

वैदिक शिक्षा का प्रयोजन :

व्यक्तित्व विकास– सत्यं, शिवं, सुन्दरम् की अनुभूति मानव जीवन का सर्वोत्कृष्ट लक्ष्य है, जहाँ तक पहुँचने के लिए मन्त्रदृष्टा ऋषियों ने अपौरुषेय शब्दावली द्वारा मानव जाति के लिए श्रेष्ठ कर्मों के अनुष्ठान का उपदेश दिया है। ईप्सित फल की प्राप्ति के लिए विभिन्न अनुष्ठानों के माध्यम से मानव आध्यात्मिक, आधिभौतिक व आधिदैविक कार्यक्षेत्र मे प्रवेश कर शक्ति संचय द्वारा अपनी योग्यता को बढ़ाने का प्रयास करता है। प्रयास की इस श्रंखला में आध्यात्मिक कार्यक्षेत्र को वरीयता देते हुए शारीरिक अंगों के समविकास की ओर विशेष ध्यान दिलाया है। ऋषियों ने सम विकास के सिद्धान्त के आधार पर शरीर की स्थूल व सूक्ष्म शक्तियों को विकसित करने को प्रथम कर्त्तव्य बतलाया है।

आचरण की शुद्धता– व्यक्ति के वैयक्तिक विकास पर आचार–विचार व खान–पान का विशेष प्रभाव पड़ता है। इसलिए आचरण की शुद्धता के लिए यम, नियम इत्यादि की विवेचना की गयी है। महर्षियों ने स्थूल शारीरकि शक्ति तथा सूक्ष्म आत्मशक्ति को समविकास के भाव से सत्कार्य में प्रवृत्त करने हेतु चोरी न करना, व्यभिचार न करना, ब्रह्महत्या न करना, गर्भपात न करना, सुरापान न करना, पाप होने पर असत्य बोलकर उसे न छिपाना, दुराचार न करना इत्यादि मर्यादाओं के अनुरूप मानव आचरण का निर्देश दिया है।

आध्यात्मिक प्रशिक्षण– मानव का साध्य तत्व वैयक्तिक, सामाजिक तथा जागतिक शक्ति है। वैयक्तिक शक्ति से अध्यात्मभाव की, सामाजिक शक्ति से अधिभौतिक भाव की तथा जागतिक शक्ति से अधिदैविक भाव की अभिवृद्धि होती है, जिसमें आध्यात्मिकता का पुट सन्निहित रहता है। आध्यात्मिक उन्नति होने से व्यक्ति सत्य तथा वास्तविकता की ओर अग्रसर होता है। आध्यात्मिक उन्नति कर ही व्यक्ति अपनी व्यष्टि चेतना का समष्टि चेतना में लय करता है।

शारीरिक सम्पुष्टता–शरीर, मन तथा ह्रदय का समाहार ही मानव है। इसमें ह्रदय तीसरा परन्तु परमात्म तत्व की अनुभूति से भक्ति स्थल माना गया है। मन तथा शरीर कार्यस्थल कहे गए हैं। इसलिए ऋषियों ने शरीर को ह्रष्ट–पुष्ट, दृढ़ तथा शक्तिशाली बनाने का निर्देश देकर संगठनात्मक शक्ति के स्वरूप का बोध कराया है। सभ्यता तथा संस्कृति के विकास में अनेक संस्कृत ग्रन्थों में उद्घोष है– "शरीमाद्यममेन हि खुल धमसाधनम्।"

अनुशासनात्मक जीवन– "सत्यं वद। धर्मं चर। स्वाध्यान्मा प्रदमद"[3] सत्यनिष्ठ अभिव्यक्ति, धर्माचरण के अनुरूप आचार–विचार तथा व्यवहार के साथ–साथ अध्ययन के प्रति निश्छल भाव वेदाध्यायी का परम कर्त्तव्य था, जिसमें अनुशासनात्मक जीवन पद्धति के बीच अंकुरित होते दिखाई देते थे। अनुशासन में आन्तरिक व बाह्य दो विकास हेतु आन्तरिक अनुशासन महत्वपूर्ण था। अनुशासन ही सामाजिक अनुशासन का आधार है।

सामाजिकता का विकास– जागतिक संसार में व्यक्ति के स्वतंत्र अस्तित्व का कोई महत्व नहीं है। जबसे मानव ने समुदाय, समाज व राष्ट्र के अभिन्न अंग के रूप में स्वयं को समाहित कर लिया है तब से उसका स्वयं का अस्तित्व समाप्त हो गया है। वैदिक शिक्षा का प्रमुख प्रयोजनव्यक्ति की व्यष्टि चेतना को सामाजिक स्तर से तादात्म्य कराकर अभ्युदय की ओर अग्रसारित करना है।

आधुनिक शिक्षा प्रणाली, वैदिक शिक्षा पद्धति से अलग है। वर्तमान में औद्योगीकरण के तीव्र विकास के कारण शिक्षा प्रणाली व उसका लक्ष्य दोनों ही परिवर्तित हो गए हैं। आज की शिक्षा पद्धति का जो प्रमुख दोष उभरकर सामने आया है वह है इसकी एक आयामी स्वरूप। जैसा कि हम सभी जानते हैं कि मानव व्यक्तित्व के मूलतः दो पक्ष हैं– बाह्य (भौतिक पक्ष), आन्तरिक (आध्यात्मिक पक्ष) बाह्य पक्ष का सम्बंध भौतिक उपलब्धियों में है, जैसे– विज्ञान व प्रौद्योगिकी, जबकि आन्तरिक्ष पक्ष का सम्बंध मूल्यों से है। आज की शिक्षा प्रणाली केवल बाह्य पक्ष पर ही बल देती है इस प्रकार आन्तरिक पक्ष उपेक्षित होता जा रहा है। इसके परिणामस्वरूप शिक्षा के बाह्य विन्यास तो हो रहा है परन्तु आन्तरिक व्यतिक्रम उत्पन्न हो रहा है। इस प्रकार आज की शिक्षा प्रणाली न तो मूल्य आधारित है, न ही मूल्य रहित, अपितु मूल्य निरपेक्ष है। वर्तमान शिक्षा प्रणाली, इस प्रकार से मूल्यक्षरण का एक प्रमुख कारण है। तीव्र औद्योगीकरण की प्रक्रिया के फलस्वरूप एक उपभोक्तावादी समाज का निर्माण हुआ है। यह उपभोक्तावादी समाज, आवश्यकता आधारित समाज न होकर लोभ आधारित समाज होता है। आवश्यकता की तो सीमा है पर लोभ की कोई सीमा नहीं है। लोभ के वशीभूत व्यक्ति अपना विवेक खो देता है तथा इस प्रकार वह व्यक्ति तथा प्रकृति दोनों का दोहन प्रारम्भ कर देता है। इस संदर्भ में महात्मा गाँधी का यह कथन काफी प्रासंगिक है– यह पृथ्वी सभी की जरूरतों को पूरा करने के लिए तो पर्याप्त है परन्तु सभी के लोभ को पूरा करने के लिए पर्याप्त नहीं है। (This Earth is enough to fulfill the needs of all but not the greeds of all.) लोभ आधारित समाज में तीन प्रमुख समस्याएं उभर कर सामने आती हैं।

1. अहंकेन्द्रित भाव का विकास।
2. स्वकेन्द्रित समाज का निर्माण।
3. व्यक्ति को संवेदनाहीन बना देना।

इन सभी समस्याओं का दुष्परिणाम यह होता है कि समाज में कुप्रवृत्तियाँ चरम पर हो जाती हैं। यद्यपि इन्हें रोकने के लिए राज्य स्तर पर कठोरतम कानून बनाए जाते हैं परन्तु कानून भी इन्हें

रोकने में असमर्थ हैं। क्योंकि ये सारी समस्याएँ बाह्य न होकर आन्तरिक होती हैं। जिसका सम्बन्ध मानवीय मूल्यों से है। इस प्रकार की प्रवृत्ति समाज में मूल्य संकट की समस्या उत्पन्न करती है।

वस्तुतः वर्तमान सामाजिक समस्याओं का उपर्युक्त समाधान वैदिक शिक्षा प्रणाली में उपलब्ध है। वैदिक शिक्षा प्रणाली जो मूल्य आधारित प्रणाली है संपोष्य विकास को बढ़ावा देती है। संपोष्य विकास का अर्थ है कि बाह्य व आन्तरिक दोनों पक्षों में संतुलन। मानव मशीन न होकर एक भावात्मक प्राणी है जिसका सम्बंध मानवीय मूल्यों से है। जैसे– प्रेम, दया, करूणा, सहिष्णुता, समाभाव, परोपकार इत्यादि। यह भावात्मक पक्ष ही हमें मानवीय मूल्यों के प्रति सजक एवं संवेदनशील बनाता है।

शिक्षा ही किसी समाज की भावी स्वरूप व दिशा का निर्धारक होता है। अतः आवश्यकता है कि समाज का स्वरूप नैतिक व सुव्यवस्थित हो, बच्चों को मूल्य आधारित शिक्षा प्रदान की जाय। उपर्युक्त वर्णित लोभ केन्द्रित समाज, अहंकेन्द्रित समाज इत्यादि समस्या के समाधान वैदिक ऋचाओं में उपस्थित हैं–

ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किंच जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुंजीथा, मा गृधः कस्यस्विद्धनम्।।[6]

अर्थात् इस गतिशील जगत में जो कुछ भी है, वह ईश्वर या ईशावासमय है। अतः त्यागपूर्वक भोग करो लालच मत करो, यह धन किसका है ?[7]

वर्तमान में समाज के स्वार्थी, स्वकेन्द्रित होने की समस्या तथा अपने व पराए का भेद समाप्त हो इसके लिए वैदिक ऋषियों ने 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की अवधारणा का प्रतिपादन किया जिसके अनुसार सम्पूर्ण पृथ्वी ही परिवार के रूप में परिभाषिता की गयी है।

अयं निजः परोवेतिगणना लघु चेतसाम्।
उदारचरित्रानाम् तु वसुधैव कुटुम्बकम्।।[8]

अर्थात् यह अपना है तथा यह दूसरे का ऐसा विचार तुच्छ विचारधारा वाले लोग करते हैं। उदारचरित्र लोगों के लिए तो सम्पूर्ण पृथ्वी ही एक परिवार के समान है। उल्लेखनीय है कि वर्तमान वैश्विक परिदृश्य जिसे भूमण्डलीकरण का युग कहा जा रहा है, के लिए ऐसी भावना का विकास एक समरसतापूर्ण भविष्य को उद्घाटित करता है। वर्तमान में जब वैश्विक स्तर पर आगे बढ़ने की होड़ सी मची हुई है, तथा विश्व के देश राष्ट्रवाद तथा भूमण्डलीकरण के द्वन्द्व में फँसे हुए हैं तो इस समय विश्व बन्धुत्व तथा वसुधैव कुटुम्बकम् रूपी आदर्श निःसन्देह इन समस्याओं का समुचित हल प्रदान कर सकते हैं। वेदों में महर्षियों ने सबको साथ लेकर चलने, सबके विकास व सबके उत्थान की अवधारणा विकसित की है।

ॐ सहनाववतु। सह नौ भुनक्तु। सह वीर्यं करवावहै।
तेजस्विनावधीतमस्तु। मा विद्विषावहै।। ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।[9]

अर्थात् हे प्रभु हम सब की रक्षा करें। हम सबका पोषण करें। हम सबको शक्ति प्रदान करें। हमारा ज्ञान तेजमयी हो तथा हम किसी से द्वेष ना करें। साथ ही साथ वर्तमान में एक प्रमुख समस्या स्वयं को श्रेष्ठतर के रूप में स्थापित करने की है। इससे कहीं न कहीं अन्य विचारों के प्रति हमारे मन में हीन भावना का जन्म होता है। वैदिक शिक्षा द्वारा हम एक श्रेष्ठ मार्ग प्राप्त करते हैं कि हमें सदैव अच्छे विचारों को ग्रहण करने के लिए तैयार रहा चाहिए तथा उसे हृदयंगम करते हुए अभ्युदय हेतु प्रयत्नशील रहना चाहिए।

ॐ असतो मा सद्गमय
तमसो मा ज्योतिर्गमय
मृत्योर्मामृतम् गयम।।

अर्थात् हमें असत्य से सत्य की-ओर, अन्धकार से प्रकाश की ओर ले चलो। हमें मृत्यु से अमरता की ओर ले चलो। वर्तमान में युवाओं के समक्ष एक बड़ी समस्या मानसिक उद्विग्नता का है। आज के भौतिक युग में युवा असन्तोष, अराजकता एवं किकर्त्तव्यविमूढ़ता के जाल में फँसा हुआ है। आज युवाओं में धैर्य की कमी देखी जा रही है। जिसके कारण युवा अपना सन्तुलन खो बैठा है तथा आत्महत्या जैसे जघन्य अपराध को अपना हथियार बना जीवन लीला को समाप्त कर बैठ रहा है। इसलिए वैदिक ऋषियो, वैदिक शिक्षा व्यवस्था में चित्त की एकाग्रता के लिए यौगिक साधना पर भी बल दिया है। "योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः"[9] अर्थात् चित्त की वृत्तियों का निरोध ही योग है। इस सम्बन्ध में उनकी धारणा रही है कि बिना चित्त को एकाग्र किए व्यक्ति अपनी अवस्था में स्थित नहीं हो सकता। "तदा द्रष्टः स्वरूपेऽवस्थानम्"[10] इस प्रकार मानसिक व्याधियों से छुटकारा प्राप्त करने हेतु भी वैदिक ऋषियों ने चित्त को योग के माध्यम से शान्त रखने की बात कही है।

आज के समय में पर्यावरणीय संकट एक अति विनाशकारी संकट के रूप में सामने आया है। वस्तुतः इस संकट से तो जीव सभ्यता के अस्तित्व पर प्रश्नचिह्न खड़ा हो गया है। आधुनिक काल का प्रारम्भ औद्योगीकरण व विज्ञानीकरण के साथ हुआ। इस समय प्रकृति के विदोहन में कई गुना तक वृद्धि हो गयी। प्राकृतिक घटक जो अब तक मात्र सुरक्षा एवं सम्बल की तरह देखे जाते थे, अब वे संसाधन के रूप में सम्पदा के स्रोत दिखने लगे क्योंकि विज्ञान इनके विदोहन के लिए नए संसाधन जुटा देता है तथा उद्योग इन्हें संशोधित कर सम्पदा का रूप दे देता है। औद्योगिक और प्रौद्योगिक क्रान्तियों के फलस्वरूप जिस भौतिकवादी संस्कृति का प्रादुर्भाव हुआ, उसकी वैचारिकी परिणति अचानक से अर्थवाद एवं उपभोक्तावाद में हो गयी।

इन सब प्रक्रियाओं ने पर्यावरण प्रदूषण को जन्म दिया। विज्ञान के माध्यम से मानव ने वस्तुजगत के रूपान्तरण की जो प्रविधि विकसित की उससे न केवल वस्तु का रासायनिक परिवर्तन हुआ अपितु रासायनिक उच्छिष्ट के रूप में एक नया संकट भी खड़ा हो रहा है। सही मायने में भौतिक, जैविक एवं रासायनिक स्तर पर इतना तीव्र परिवर्तन होने से समस्त पृथ्वी ही भौगोलिक पारिस्थितिकीय असन्तुलन से ग्रस्त हो जाती है।

इन सब बातों के परिप्रेक्ष्य में यह महत्वपूर्ण है कि हम मानव तथा प्रकृति के मध्य सम्बन्धों की स्थिति को जाने। वैदिक वाङ्मय का सम्पूर्ण वातावरण ही प्रकृति से आप्लावित है। वेदों के रचयिता, मन्त्रद्रष्टा ऋषियों का परिवेश, परिधान, भोजन, दिनचर्या इत्यादि सभी प्राकृतिक हैं। उनके देवता भी प्राकृतिक हैं। उनके लिए पृथ्वी माता हैं, पर्जन्य पिता हैं, सूर्य आत्मा हैं, जल व वनस्पतियाँ मित्र हैं। माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः। पर्जन्यः पिता स उ न पिपर्तु।। – अथर्ववेद 12/1/2 यह साधारण मन्त्र ऋषियों की प्रकृति के प्रति गहरी आत्मीयता को प्रकट करता है। अधिकांश प्रकृतिकपरक मन्त्र ऐसे ही सरल भावों से भरे हैं जिनमें प्रकृति के प्रति समर्पण एवं उससे समन्वय का संगीत स्वर गुंजित होता रहता है। वैदिक वाङ्मय में प्रकृति के प्रति प्रतिबद्धता को हम सर्वाधिक सशक्त रूप में 'ऋत' के सिद्धान्त में पा सकते हैं। वैदिक युग में ऋत, सत्य का ऐसा रूप है जो नैतिक एवं प्राकृतिक जगत में समानान्तर रूप में प्रवाहित है। मानव की सत्यनिष्ठा प्रज्ञा को 'ऋतम्भरा' कहा गया है तथा प्रकृतिचक्र की विधायिका विभाजिका को 'ऋतु' की संज्ञा दी गयी है। यहाँ पर आकर नैतिक व

प्राकृतिक जीवन में पूर्ण तादात्म्य हो जाता है।" इस प्रकार से यदि हम बच्चों में वैदिक शिक्षा का प्रवाह करते हैं तो निश्चित रूप से इन श्रेष्ठ सिद्धान्तों के आधार पर वे प्रकृति का भी स्वतः साध्य मूल्य समझ पाएँगे तथा आगे आने वाले समय में प्रकृति के प्रति कृतज्ञता का भाव रखते हुए एवं संपोषणीय विकास को ध्यान में रखते हुए विकास पथ पर अग्रसर होंगे। इस संदर्भ में एक और बात रेखांकित करने योग्य है कि पर्यावरण का संकट केवल विकास से ही नहीं, बल्कि अविकास से भी जुड़ा है। पर्यावरणीय ह्रास के लिए तीव्र औद्योगिक विकास ही नहीं, ग्रामीण विकास का अभाव भी उत्तरदायी है। कृषि के लिए होने वाला वृक्ष विनाश तथा जल विदोहन औद्योगिक विकास से होने वाली इस क्षति की तुलना में काफी अधिक था। अब प्रश्न है कि वर्तमान में वैदिक शिक्षा का स्वरूप क्या हो? क्या पूर्णतया वैदिक शिक्षा एवं पद्धति को वर्तमान में लागू किया जा सकता है ? स्पष्टतः इसका निषेधात्मक उत्तर ही होगा।

वर्तमान में शिक्षा एवं पद्धति को गुरूकुल शिक्षा प्रणाली के आधार पर देना सम्भव नही है परन्तु प्रारम्भिक स्तर से ही शिक्षा के पाठ्यक्रम में वैदिक वाङ्मय के महत्वपूर्ण शिक्षाओं को सम्मिलित करना काफी लाभदायक रहेगा। बच्चों में सैद्धान्तिक शिक्षा प्रदान करने के साथ ही साथ उसका व्यवहारिक अनुप्रयोग भी जीवन के सर्वांगीण विकास की महत्वपूर्ण कड़ी है। यह विशेषता वैदिक शिक्षा प्रणाली का आधार रही है। वैदिक पद्धति में वर्णित यौगिक क्रिया, नैतिक विचार, प्रकृति के प्रति कृतज्ञता की भावना, धर्म का स्वरूप, राष्ट्रवाद की भावना इत्यादि को पाठ्यक्रम का हिस्सा बनाकर प्रारम्भ से ही बच्चों का बाह्य तथा आन्तरिक दोनों विकास करना वर्तमान शिक्षा पद्धति का लक्ष्य होना चाहिए तथा वैदिक शिक्षा का वर्तमान में इस रूप में सदुपयोग किया जा सकता है। जैसा कि डॉ० सर्वपल्ली राधाकृष्णन ने कहा– "एक सभ्यता का निर्माण ईंटों, इस्पात तथा मशीनरी से नहीं होता। यह मानवों से एवं उनके चरित्र व विशेषता से निर्मित होती है। अतः शिक्षा का वास्तविक उद्देश्य शरीर एवं आत्मा में समस्त सुन्दरता एवं पूर्णता का विकास करना है।"[12]

वैदिक शिक्षा का व्यवहारिक अनुप्रयोग : वैदिक साहित्य के सिद्धान्त निःसन्देह व्यक्ति के व्यवहारिक जीवन को उत्कृष्ट बनाने में सहायक हैं। आजकल नीतिशास्त्र का क्षेत्र इतना विस्तृत हो चुका है कि व्यवसाय, चिकित्सा, प्रशासन इत्यादि से सम्बन्धित विषयों पर नैतिक चर्चा प्रमुखता से की जा रही है। अब प्रश्न है कि वैदिक वाक्य 'सत्यं वद' को क्या पूर्णतया व्यवसाय तथा चिकित्सा के क्षेत्र में भावी रूप से प्रयोग कर सकते हैं? यद्यपि व्यवसाय में पूर्ण सत्यता का पालन नहीं किया जा सकता परन्तु व्यवसायी इस संदर्भ में यदि नैतिकता का पालन करे कि वह किसी ऐसी वस्तु का मिलावट इत्यादि न करे जिससे कि किसी को हानि उठानी पड़े या पर्यावरण पर दुष्प्रभाव हो, तो उस व्यवसायी के कार्य में 'सत्यं वद' का व्यवहारिक अनुप्रयोग इस रूप में होगा। इसी प्रकार चिकित्सक यदि पूर्णतया सत्य बोलता है तथा बीमार को उसकी बीमारी तथा उसके भयंकर परिणामों के विषय में अवगत कराता है तो यह रोगी के लिए सही नहीं कहा जा सकता परन्तु चिकित्सा की नैतिकता कहती है कि ऐसी दवा का निर्माण न हो जो मानवता के विरुद्ध हो, या किसी ऐसी तकनीकी पद्धति का प्रयोग न किया जाय जो सामाजिकता के विरुद्ध हो। जैसे– माँ के गर्भ में लिंग का पता लगाने की विधि के प्रयोग से पुत्र की चाह रखने वाले लोग पुत्री को गर्भ में ही मार डालते हैं जो चिकित्सकीय नैतिकता के सर्वथा विरुद्ध है। इस प्रकार वैदिक शब्दों एवं वाक्यों का वर्तमान में हम अपने कार्यों में व्यवहारिक अनुपालन कर अपनी सभ्यता की विकासगति को और आगे ले जा सकते हैं।

इसके लिए यह भी आवश्यक है कि समाज के श्रेष्ठी जन जिन्हें इन सिद्धान्तों के विषय में ज्ञान है, वे इन्हें अपने व्यवहार में अपनाकर समाज के लिए मार्गदर्शक के रूप में सामने आएँ जिससे

अन्य लोग भी इन सिद्धान्तों के व्यवहारिक अनुप्रयोग के लाभों को जानते हुए इसका अनुकरण कर सकें। जैसा कि हम सभी जानते हैं कि मानव व्यवहारों के परिवर्तन में शिक्षणाभ्यास की प्रक्रिया का अभूतपूर्व योगदान है, जिसके कारण अनादिकाल से लेकर अद्यतन के विभिन्न दार्शनिकों ने सामाजिक आवश्यकतानुसार शिक्षा तत्वों के विवेचन द्वारा मानव जीवन में उसकी उपयोगिता पर प्रकाश डाला है। "शिक्षा ही जीवन है तथा जीवन ही शिक्षा है।"[13]

दोनों के इस अभेद सम्बंध को नकारा न जाने के कारण ही "सा विद्या या विमुक्तये" अथवा "सा विद्या या ब्रह्मगतिप्रदा" के द्वारा विद्या अथवा ज्ञान के महत्व को पूर्वाचार्यों ने विवेचित किया है।

संदर्भ : –

1. चरक संहिता
2. श्री विष्णुपुराणे प्रथमस्कन्धे एकोनविंशोऽध्यायः
3. तैत्तिरीययोपनिषद्–1/11
4. अथर्ववेद– 12/1/12
5. ऋग्वेद– 7/9/5
6. ईशावास्योपनिषद–1/1, मोतीलाल जलान, गीताप्रेस गोरखपुर
7. हितोपदेश
8. कृष्णयजुर्वेद
9. पातंजल योग–प्रदीप– 1/2
10. वही, 1/2
11. भारतीय शिक्षा दर्शन– सरयू प्रसाद चौबे, दि मैकमिलन क० आफ इण्डिया
12. विश्व चिन्तन के चार अध्याय– डॉ० कृष्णा कान्त पाठक
13. वैदिक शिक्षा पद्धति– डॉ० भास्कर मिश्र, ड्यटट॰ उज्जैन

गांधी जी की बुनियादी शिक्षा नीति दर्शन

डॉ. तेजराम पाल
दर्शनशास्त्र विभाग
रानी दुर्गावती विश्वविद्यालय,
जबलपुर (म.प्र.) – 482001
E-Mail - trpphi9@gmail.com
Mo. No. 9407053377

शिक्षा हमारे जीवन में अहम भूमिका निभाती है। जन्म से मृत्यु तक की हमारी जीवन–यात्रा हमें नित्य ज्ञान प्रदान करती है। यह ज्ञान की यात्रा ही शिक्षा है। स्वयं के द्वारा अर्जित अनुभव हमारा ज्ञान है किन्तु हम दूसरों के अनुभव से प्राप्त ज्ञान को भी ज्ञान के रूप में स्वीकार करते हैं। हमें हमारे जीवन को सुगम बनाने के लिए उच्चतर ज्ञान की आवश्यकता पड़ती है और इसे सीखने की प्रक्रिया ही शिक्षा है। हमारा सम्पूर्ण जीवन इसी बात पर निर्भर करता है कि हमारी शिक्षा कैसी है और हम उसका प्रयोग कैसे करते हैं। सम्पूर्ण जीवन का अनुभव शिक्षा का एक अंग है।

सामान्यजन शिक्षा को जीविकोपार्जन के लिए एक साधन के रूप में लेते हैं। शिक्षा वह प्रक्रिया है जिसमें हम सतत् ज्ञान अर्जन करने का कार्य करते हैं। तद्उपरांत हम उस ज्ञान का जीवन में प्रयोग करते हैं। सिद्धांत और व्यवहार में एकरूपता आए हमें ऐसी शिक्षा को प्राथमिकता देनी चाहिए। शिक्षा सिर्फ कागजी ज्ञान न हो बल्कि वह हमारे व्यवहार से प्रदर्शित हो ऐसी शिक्षा श्रेष्ठ शिक्षा मानी गयी है। शिक्षा का वास्तविक अर्थ एवं परिभाषा और शिक्षा का हमारे जीवन में महत्त्व तथा गांधी जी की शिक्षा नीति को हम समझने का प्रयास करेंगे। हम इस शोध–पत्र को तीन भागों में विभक्त करेंगे। प्रथम– शिक्षा का अर्थ एवं महत्त्व, द्वितीय– गांधी जी की बुनियादी शिक्षा नीति और तृतीय– बुनियादी शिक्षा की प्रासंगिकता।

शिक्षा का अर्थ एवं महत्त्व –

शिक्षा शब्द संस्कृत भाषा की 'शिक्ष्' धातु में 'अ' प्रत्यय को जोड़ने से बना है। जिसका अर्थ होता है– 'सीखना और सीखाना। शिक्षा के मुख्य दो अर्थ निकलते हैं एक व्यापक रूप में और दूसरा संकुचित रूप में। व्यापक अर्थ में हमारे जीवन का सम्पूर्ण ज्ञान समाहित होता है एवं संकुचित अर्थ में जीविकोपार्जन हेतु किताबी ज्ञान माना गया है। शिक्षा के लिए अंग्रेजी शब्द एजुकेशन (Education) है, यह लैटिन भाषा के शब्द एजुकेटम (Educatum) से उत्पन्न हुआ है। जिसके तीन अर्थ माने गए हैं– प्रथम एजुकेटम – शिक्षण की क्रिया, द्वितीय एजुकेयर शिक्षा देना, ऊपर उठाना एवं तृतीय एजुसियर– आगे बढ़ना। उपरोक्त सभी अर्थ के आधार पर हम कह सकते हैं कि शिक्षा वह है जो पूर्व ज्ञान के प्रकाश से हमारे जीवन रूपी मार्ग को प्रशस्त करती है। हमें ज्ञान मार्ग पर आगे ले जाती है।

शिक्षा के लिए हजारों परिभाषायें हमारे हमारे समक्ष उपलब्ध हैं, हमारे शोध–पत्र के अनुरूप उनमें से कुछ निम्न हैं– सर्वप्रथम हमारे शास्त्रों के अनुसार–

"तत् कर्म यत् न बन्धाय, सा विद्या या विमुक्तये।
आयासाय अपरं कर्म, विद्या अन्य शिल्पनैपुणम।।"

अर्थात्– कर्म वह है जो बंधन में न डाले, विद्या वह है जो मुक्त कर दे। अन्य कर्म केवल श्रम मात्र है, और अन्य विद्याएँ केवल यांत्रिक निपुणता है।

गांधी जी के अनुसार "शिक्षा का साधारण अर्थ अक्षरज्ञान ही होता है। लोगों को लिखना, पढ़ना और हिसाब करना सिखाना, मूल या प्रारंभिक शिक्षा कहलाती है।"[2] "शिक्षा का अर्थ अक्षरज्ञान ही नहीं है। अक्षरज्ञान शिक्षा का साधन मात्र है। शिक्षा का अर्थ यह है कि बच्चा मन लगा कर सारी इन्द्रियों से अच्छा काम लेना जाने।"[3]

"डॉ. सर्वपल्ली राधाकृष्णन जी के अनुसार 'शिक्षा व्यक्ति को और सामाजिक के सर्वतोन्मुखी विकास की सशक्त प्रक्रिया है।'

जॉन डयूवी के अनुसार 'शिक्षा व्यक्ति की उन सभी भीतरी शक्तियों का विकास है, जिससे वह अपने वातावरण पर नियंत्रण रखकर अपने उत्तरदायित्वों का निर्वाह कर सकें।'

स्वामी विवेकानन्द के अनुसार 'मनुष्य की अन्तर्निहित पूर्णता को अभिव्यक्त करना ही शिक्षा है।'

जद्दू कृष्णमूर्ति के अनुसार "शिक्षा व्यक्ति के समन्वित विकास की प्रक्रिया है।"[4] उपरोक्त सभी परिभाषाओं से ज्ञात होता है कि शिक्षा व्यक्ति के कार्य कौशल (गुण) को उत्कृष्ट करने में सहायक है। शिक्षा के द्वारा हमारे सद्गुणों का पूर्ण प्रादुर्भाव होता है। हमारी चेतना शुभ कार्य में संलग्न होती है। हम शरीर और मन दोनों पर विजय प्राप्त कर उन्हें सदमार्ग पर लगा सकते हैं। हम मानव होने का पूर्ण अनुभव प्राप्त कर सकते हैं और साथ ही अपने कर्त्तव्य और उत्तरदायित्व का निर्वाह कर सकते हैं।

हमारे जीवन में राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक इत्यादि सभी क्षेत्रों में शिक्षा का महत्त्व है। मानव जीवन और शिक्षा एक दूसरे के पर्याय रूप में है। मनुष्य के चिन्तन–मनन का परिणाम ही शिक्षा के रूप में हमारे समक्ष विद्यमान है। एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति और एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में ज्ञान का संचार शिक्षा के माध्यम से ही होता है। शिक्षा के द्वारा ही हम आज करोड़ो वर्षों के मानवी अनुभवज्ञान को समझ सकते हैं। "शिक्षा का सही उद्देश्य व्यक्ति के शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक सभी गुणों की अभिव्यक्ति है।"[5] हम कह सकते हैं कि शिक्षा वह प्रक्रिया है जिसमें ज्ञान संजोया गया है।

गांधी जी की बुनियादी शिक्षा –

गांधी जी कहते हैं कि "शिक्षा से मेरा मतलब है, बच्चे या मनुष्य की तमाम शारीरिक, मानसिक और आत्मिक शक्तियों का सर्वतोमुखी विकास! अक्षर–ज्ञान न तो शिक्षा का आरंभ है और न अन्तिम लक्ष्य। बच्चे की शिक्षा का प्रारम्भ मैं किसी दस्तकारी की तालीम से ही करूँगा और उसी क्षण से उसे कुछ निर्माण करना सिखा दूँगा। इसी तरह हर एक पाठशाला स्वावलम्बी हो सकती है।"[6] इससे विद्यार्थी और देश दोनों ही आत्मनिर्भर होंगे। वह कहते हैं कि "शिक्षा से मैं यह अर्थ लेता हूँ कि वह बच्चे और मनुष्य की काया, बुद्धि और आत्मा में जो कुछ श्रेष्ठ है, उसे समग्र रूप से उभार दे। साक्षरता न तो शिक्षा की परिणति है और न उसका आरम्भ। यह तो केवल स्त्री अथवा पुरुष को शिक्षित करने के साधनों में से एक है।"[7] वह साक्षरता मात्र को शिक्षा के रूप में स्वीकार नहीं करते हैं बल्कि उसे शिक्षा का मात्र एक अंग के रूप में मानते हैं। बच्चों की शिक्षा का आरंभ किसी जीवनोपयोगी वस्तु के ज्ञान से आरंभ करना श्रेष्ठकर होता है। जिससे वह जीवनोपयोगी किसी भी वस्तु के लिए प्रशिक्षित होगा। "जो शिक्षा सच्ची है जो आत्मा का पहचान कराने वाली है, वही शिक्षा है और वही ग्रहण करनी चाहिए।"[8] उनका मानना है कि शिक्षा की ऐसी प्रणाली के अंतर्गत बुद्धि और आत्मा का अधिकतम विकास किया

जा सकता है। बस यह है कि आज की तरह कला–कौशल की शिक्षा केवल यांत्रिक रूप से न दी जाए बल्कि वैज्ञानिक विधि से दी जाए अर्थात् बच्चे को हर प्रक्रिया के बारे में यह ज्ञात होना चाहिए कि वह किसलिए प्रदान की गई है। "हमारी शिक्षा पद्धति बुद्धि, शरीर और आत्मा तीनों का विकास करती है। इसकी तुलना में, सामान्य शिक्षा पद्धति केवल बुद्धि की ओर ध्यान देती है।"[9]

गांधी जी की शिक्षा नीति को "शिक्षा की नयी पद्धति इसलिए कहते हैं क्योंकि यह विदेशों से आयातित अथवा उनके द्वारा आरोपित नहीं है, अपितु भारत के पर्यावरण के अनुकूल है जो ग्राम–प्रधान है। यह शरीर, बुद्धि और आत्मा जिनसे मिलकर मनुष्य बना है के मध्य संतुलन स्थापित करने पर विश्वास करती है। यह पाश्चात्य शिक्षा जैसी नहीं है जो प्रधानयता सैन्यवादी है, जिसमें मुख्य रूप से शरीर और बुद्धि की ओर ध्यान दिया जाता है और आत्मा को गौण समझा जाता है।"[10] शिक्षा का सर्वश्रेष्ट और उत्तम माध्यम हस्तशिल्पों के द्वारा प्रदान करने वाली शिक्षा है। जिसमें विद्यार्थी शिक्षा अर्जन के साथ–साथ आत्मनिर्भरता के गुण सीखता है। इसे सिखाने के लिए ज्यादा धन की आवश्यकता भी नही होती है। विद्यार्थी अपनी शिक्षा अर्जन के दौरान ही धन को कमाना सीख जाता है। इससे पढ़ाई में अधिक धन का दुरूपयोग भी नहीं होता है। वह कहते हैं कि "मेरी नयी तालीम धन पर निर्भर नहीं है। इसे चलाने का खर्च स्वयं शिक्षा प्रक्रिया से हि निकल आना चाहिए। इसकी जो भी आलोचना हो, मैं यह जानता हूँ कि शिक्षा वही है जो आत्मनिर्भर हो।"[11]

शिक्षा जीवन का अनिवार्य अंग है। "बालकों को किसी–न–किसी जीविका के लिए अवश्य ही प्रशिक्षित करना चाहिए। उसी को ध्यान में रखकर उसके शरीर, मस्तिष्क, हृदय आदि की शक्तियों का भी विकास करना चाहिए।"[12] इससे वह अपने रूचिकर व्यवसाय में दक्षता प्राप्त कर सकता है। "शिक्षा का जरूरी अंग यह होना चाहिए कि बालक जीवन–संग्राम में प्रेम से घृणा को, सत्य से असत्य को और कष्ट–सहन से हिंसा को आसानी के साथ जीतना सीखे।"[13] उसके हृदय में धैर्य और प्रेम के प्रादुर्भाव का विकास हो।

गांधी जी कहते हैं कि "शिल्प, कला, स्वास्थ्य और शिक्षा, सभी को एक योजना में समन्वित कर देना चाहिए। नयी तालिम इन चारों का एक सुंदर मिश्रण है और गर्भ–धारण से लेकर मृत्यु के क्षण तक मनुष्य की संपूर्ण शिक्षा को अपने में समाहित करती है। शिल्प और उद्योग को शिक्षा से भिन्न मानने के बजाए मैं उन्हें शिक्षा का माध्यम मानता हूँ।"[14] प्रत्येक व्यक्ति अपनी कुछ योग्यताओं और क्षमताओं को लेकर जन्म लेता है। समुचित शिक्षा के द्वारा उनका सुंदर–से–सुंदर विकास हो सकता है। व्यक्ति का सर्वांगीण विकास तभी संभव है जब शिक्षा में ज्ञान के साथ कर्म और विचार के साथ आचार का समन्वय हो। "ज्ञान का मूल स्रोत पुस्तकों में नहीं बल्कि अवलोकन, अनुभव और विचार–शक्ति में है; इस बात को भूल जाने से हम पुस्तकों के ज्ञान पर ही अधिक जोर देने लगते हैं।"[15] बुनियादी शिक्षा पद्धति में हस्तकौशल या विभिन्न कारीगरी के माध्यम से ही शिक्षा दी जाती है। "इसमें सभी साहित्यिक एवं वैज्ञानिक शिक्षण किसी–न–किसी कारीगरी पर केन्द्रित रहती है। इसे शिक्षण की दृष्टि से 'समवाय–पद्धति' कह सकते हैं।"[16]

गांधी जी कहते हैं कि "मैं यह मानता हूँ कि शिक्षा की इस पद्धति से व्यक्ति का सबसे अधिक मानसिक एवं आध्यात्मिक विकास हो सकता है। उद्योग भी आज की तरह यान्त्रिक ढंग से नहीं बल्कि वैज्ञानिक ढंग से सिखाये जायेंगे ताकि बालक प्रत्येक प्रक्रिया के मूल की जानकारी प्राप्त कर सके।"[17] शिक्षा कार्य कौशल को बढ़ाने वाली प्रक्रिया है, जिसमें विद्यार्थी कार्यों की गहनता से अध्ययन करता है। "मस्तिक की सच्ची शिक्षा के लिए भी शारीरिक अवयवों का समुचित उपयोग आवश्यक है।

शारीरिक शक्ति एवं कर्मेन्द्रियों के बुद्धिपूर्वक उपयोग से सुंदर–से–सुंदर और शीघ्र–से–शीघ्र मानसिक विकास संभव है।"[18] शिक्षण में कारीगरी और हस्तकर्म सिखाने से विद्यार्थी का शरीर स्वस्थ और समर्थवान होगा तथा वह आत्मविश्वास एवं कार्य में सहजता प्राप्त करेगा। वह शिक्षण के साथ ही आय उपार्जित करना सीख जाएगा। इससे वह स्वावलम्बन जीवन यापन करने की कला को प्राप्त करेगा। वह कहते हैं "शिक्षा का वास्तविक उद्देश्य परीक्षाएँ उत्तीर्ण करना नहीं, बल्कि बच्चों का चरित्र गढ़ना है। मेरा विचार है कि सच्ची–शिक्षा इसमें नहीं है कि आप बच्चों को अक्षरों का ज्ञान करा दें। सच्ची–शिक्षा तो चरित्र निर्माण में है।"[19]

उच्च शिक्षा के लिए गांधी जी कहते हैं कि "मैं उच्च शिक्षा का दुश्मन नहीं हूँ। मेरी योजना में तो अधिक–से–अधिक और सुंदर से सुंदर पुस्तकालय प्रयोगशालाएँ और शोध–संस्थान रहेंगे। उनसे जो ज्ञान मिलेगा वह जनता की सम्पत्ति होगी और जनता को उसका लाभ मिलेगा।"[20] शिक्षा जितनी विद्यार्थी के लिए आवश्यक है उतनी आवश्यक वह देश के लिए भी है। शिक्षा हमारी संस्कृति और ज्ञान दोनों को ही आगे ले जाने वाला सेतु है। "कोई भी संस्कृति बिल्कुल पृथक् रहकर जी नहीं सकती, इसलिए मैं नहीं चाहता कि हमारे सभी ओर के दरवाजे और खिड़कियाँ खुली रहें ताकि सभी जगहों की संस्कृतियों की सुगंध हमारे घर में भी निर्बाध रूप से आ सके, किंतु यह भी सही है कि अपना आध ाार भी छोड़ना नहीं चाहता।"[21] शिक्षा के माध्यम से ही हम हमारे देश–काल के ज्ञान के अतिरिक्त अन्य देश–काल के ज्ञान से अवगत हो सकते हैं। "गांधीजी का शैक्षिक सुधार कार्यक्रम सबसे अधिक क्रांतिकारी था। उन्होंने सामाजिक रूप से उपयोगी गतिविधि को शिक्षण का माध्यम बनाया।"[22]
गांधी जी कहते हैं कि "शिक्षा के माध्यम का विचार किये बिना शिक्षा देने का परिणाम नींव के बिना इमारत खड़ी करने की कोशिश जैसी बात होगी।"[23] उनका मानना है कि हमारी शिक्षा मात्रभाषा में दी जाए। वह कहते हैं कि "मुझे इसमें तनिक भी संदेह नहीं है कि जिन लोगों के हाथों में युवाओं की शिक्षा है, वे यदि निर्णय लेना चाहेंगे तो पाएंगे कि मात्रभाषा मनुष्य के मानसिक विकास के लिए उसी प्रकार स्वाभाविक है जिस प्रकार मां का दूध शिशु के शरीर के विकास के लिए है। इसके अलावा कोई और बात हो भी कैसे सकती है? शिशु अपना पहला पाठ माँ से सीखता है। इसलिए बच्चों के मानसिक विकास के लिए उनके ऊपर मातृभाषा के अलावा कोई और भाषा थोपना मैं मातृभूमि के विरूद्ध पापाचार समझता हूँ।"[24] कोई भी व्यक्ति चिंतन–मनन की प्रक्रिया अपनी मात्रभाषा में ही करता है। उसकी बुद्धि का पूर्ण विकास में मात्रभाषा की अहम भूमिका होती है। अतः शिक्षा भी मात्रभाषा में ही दी जाए तो हम किसी भी व्यक्ति के गुणों का पूर्ण लाभ अर्जित कर सकते हैं।

वर्तमान प्रासंगिकता एवं निष्कर्ष –

गांधी जी के दर्शन में शिक्षा और मानवी ज्ञान एक ही है। आध्यात्मिक अनुभव, कार्य कौशल, परिवार से प्राप्त ज्ञान, चेतना का विकास इत्यादि सभी एक रूप है तथा यह सभी शिक्षा के विभिन्न अंग ही है। गांधी जी की बुनियादी शिक्षा वह सब सिखाने को कहती जो मानव को जीवन–यापन करने में सहायता प्रदान करती है। जीवन–यापन की शिक्षा के साथ चरित्र का विकास और आत्मा को शुद्ध रखने का ज्ञान होना भी आवश्यक है। शिक्षा वह है जो मानव को मानव बनाने में सहायक हो, शिक्षा हमें आत्मनिर्भर बनाने वाली हो, वह मानव को यंत्र बनाने वाली न हो। हमारी शिक्षा क्षेत्र, जाति, वर्ण, धर्म और लिंग के भेद से रहित होनी चाहिए। वह मानवता हितैषी और सर्वकल्याणकारी होनी चाहिए। गांधी जी की बुनियादी शिक्षा नीति का उद्देश्य भारत की सामाजिक और आर्थिक संरचना के अनुसार है। ऐसी शिक्षा समाज में समानता और स्वतंत्रता को चिरस्थाई बनाए रखने में सहायक होगी।

सन्दर्भ :–

1. विष्णुपुराण– प्रथम स्कंध, 19वां अध्याय, 41वां श्लोक।
2. मोहनदास करमचंद गांधी : सच्ची शिक्षा, रामनारायण चौधरी (अनुवादक), नवजीवन प्रकाशन मंदिर, अहमदाबाद, संस्करण – 1950, पृ. 3
3. मोहनदास करमचंद गांधी : सच्ची शिक्षा, रामनारायण चौधरी (अनुवादक), नवजीवन प्रकाशन मंदिर, अहमदाबाद, संस्करण – 1950, पृ. 167
4. https://www.indiangappa.com/2020/05/shiksha-in-hindi.html?m=1(Date 16.03.2021, Time 11:39PM)
5. डॉ. धीरेन्द्रमोहन दत्त : महात्मा गांधी का दर्शन, बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, पटना, संस्करण– 2016, पृ. 100
6. मोहनदास करमचंद गांधी : बुनियादी शिक्षा, सर्व सेवा संघ प्रकाशन, वाराणसी, संस्करण – 2014, पृ. 18
7. आर. के. प्रभु एवं यू. आर. राव : महात्मा गांधी के विचार, भवानी दत्त पंड्या (अनुवादक), नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया, संस्करण – 1994, पृ. 365
8. मोहनदास करमचंद गांधी : धर्मनीति, सस्ता साहित्य मण्डल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण– 2013, पृ. 145
9. हरिजन– 09.11.1947
10. आर. के. प्रभु एवं यू. आर. राव : महात्मा गांधी के विचार, भवानी दत्त पंड्या (अनुवादक), नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया, संस्करण – 1994, पृ. 366
11. हरिजन – 02.03.1947
12. हरिजन – 18.09.1937
13. मोहनदास करमचंद गांधी : सर्वोदय, भारतन् कुमारप्पा (सम्पादक), नवजीवन प्रकाशन मन्दिर, अहमदाबाद, संस्करण – 2012, पृ. 155
14. आर. के. प्रभु एवं यू. आर. राव : महात्मा गांधी के विचार, भवानी दत्त पंड्या (अनुवादक), नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया, संस्करण – 1994, पृ. 366
15. किशोरलाल मशरूवाला : गांधी विचार दोहन, काशिनाथ त्रिवेदी (अनुवादक), नवजीवन प्रकाशन मंदिर, अहमदाबाद, संस्करण – 1996, पृ. 167
16. डॉ. धीरेन्द्रमोहन दत्त : महात्मा गांधी का दर्शन, बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, पटना, संस्करण– 2016, पृ. 101
17. हरिजन– 31.07.1937
18. हरिजन– 02.05.1937
19. डॉ. सुजाता चौधरी : गांधी की नैतिकता, सर्व सेवा संघ प्रकाशन, वाराणसी, संस्करण – 2012, पृ. 147
20. हरिजन– 09.07.1938
21. यंग इंडिया– 01.07.1921
22. जे. बी. (जीवटराम भगवानदास) कृपलानी : गांधी जीवन और दर्शन, अनंत मित्तल (अनुवादक), प्रकाशन विभाग, भारत सरकार, नई दिल्ली, संस्करण – 2011, पृ. 474
23. श्रीभगवान सिंह : गांधी का साहित्य और भाषा चिन्तन, सर्व सेवा संघ प्रकाशन, वाराणसी, संस्करण – 2014, पृ. 178
24. आर. के. प्रभु एवं यू. आर. राव : महात्मा गांधी के विचार, भवानी दत्त पंड्या (अनुवादक), नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया, संस्करण – 1994, पृ. 368

प्राचीन भारतीय शिक्षा–पद्धति की प्रासंगिकता

डॉ. श्रुति मीमांसा पाल
संस्कृत विभाग
हे.न.ब.ग.वि. श्रीनगर(गढ़वाल)
उत्तराखण्ड–246174

शिक्षा एक ऐसा माध्यम है, जो मनुष्य की बुद्धि–विवेक की क्षमता को कौशल के रुप में प्रस्फुटित करती है। शिक्षा को अनुभवजन्य ज्ञान एवं परम्परागत रुप से हस्तान्तरित ज्ञान का समग्र रुप कह सकते हैं। शिक्षा मनुष्य के मूलभूत गुणों का विकास करती है, उसकी प्रतिभा में वृद्धि करती है। इस प्रकार शिक्षा शरीर, मन, आत्मा एवं आन्तरिक शक्तियों के सर्वांगीण तथा उत्तरोत्तर विकास की प्रक्रिया होती है। प्राचीन भारतीय शिक्षा–पद्धति को लोककल्याणकारी कहा जा सकता है। प्राचीन भारतीय शिक्षा–पद्धति किस प्रकार मनुष्य को सद्गुणों से सम्पन्न करती है? किस प्रकार समाज को विकारों से मुक्त कराने में सहायक सिद्ध होती है? इन्हीं उद्देश्यों की पूर्ति करते हुए हमारा यह शोध–पत्र मुख्य तीन बिन्दुओं पर केन्द्रित रहेगा। प्रथम– प्राचीन भारतीय शिक्षा–पद्धति एवं उसकी विशेषताएँ, द्वितीय– वर्तमान शिक्षा–पद्धति एवं उसमें निहित विसंगतियां तथा तृतीय– प्राचीन भारतीय शिक्षा–पद्धति की वर्तमान प्रासंगिकता को दृष्टिपादित करने का हम प्रयत्न करेंगे।

प्राचीन भारतीय शिक्षा–पद्धति

हमारी सनातन संस्कृति विश्व की प्राचीनतम संस्कृतियों में से एक है। इसमें निहित आदर्श तथा नैतिक मूल्य प्राचीन होते हुए भी नित्य अर्वाचीन जगत् को पद प्रदर्शित कर रहे हैं। इसके मूल्य सार्वभौमिक और समदर्शिता के सूचक हैं। भारतीय संस्कृति में नैसर्गिक तथा उत्कृष्ट प्राचीन शिक्षा–पद्धतिअद्वितीय भूमिका निभाती है। प्राचीन भारतीय शिक्षा–पद्धति में विद्यार्थियों को बौद्धिक, नैतिक, मानसिक, आध्यात्मिक एवं शारीरिक शिक्षा प्रदान की जाती थी। जिससे वे जीवन–पथ पर मिलने वाली समस्याओं के निराकरण में सफल हो सकें। इसे स्वरुप के आधार पर हम दो भागों में विभाजित कर सकते हैं– औपचारिक शिक्षा तथा अनौपचारिक शिक्षा। औपचारिक शिक्षा गुरुकुल, ऋषि–आश्रम, मन्दिर एवं मठों में दी जाती थी। अनौपचारिक शिक्षा परिवार में विद्वतजनों, बड़े–बुजुर्गों द्वारा दी जाती थी, इनके अतिरिक्त भीउत्सव, त्यौहार, शास्त्रार्थइत्यादि अवसरों पर पुरोहित, संन्यासी, विद्वत मनीषी व्यक्तियों द्वारा भी विभिन्न उत्सव के माध्यम से शिक्षा देने का शास्त्रों में वर्णन प्राप्त होता है।प्राचीन भारतीय शिक्षा–पद्धति गुरुकुल आधारित शिक्षा–पद्धति थी। गुरुकुल प्रायः वनों, निर्जन स्थलों, ग्रामों–नगरों की सीमाओं के समीप बनाये जाते थे। यहाँ मिलने वाली शिक्षा व्यवहारिक होती थी। गुरु के सम्मुख रहकर विद्योपार्जन करना श्रेष्ठ एवं उत्तम ज्ञान प्राप्ति का मार्ग माना गया है।इसके लिए हमारी संस्कृति में आश्रम–व्यवस्था की प्रतिष्ठा की गई है। "जीवन के इस प्रथम चरण अथवा प्रथम आश्रम में व्यक्ति का शरीर, प्राण तथा मन साधना तथा तितिक्षा द्वारा गृहस्थ आश्रम के लिए उपादेय सामग्री प्रस्तुत करते हैं। यह प्रथम आश्रम ही व्यक्ति के भावी जीवन का प्रतिष्ठापक है और इसी को जीवन–निर्माण की कुंजी माना गया है।"[1] शिक्षा के विषयों में मुख्य रुप से वेद, पुराणादि चतुर्दश विषय सम्मिलित थे–

"पुराणन्यायमीमांसाधर्मशास्त्रांगमिश्रिताः।
वेदाः स्थानानि विद्यानां धर्मस्य च चतुर्दश।।"[2]

अर्थात् अट्ठारह पुराण, तर्कविद्यारुप न्याय तथा मीमांसा, धर्मशास्त्र, चारों वेद एवं छः वेदांग शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, ज्योतिष तथा छन्द सहित चतुर्दश विषय ज्ञान अर्थात् शिक्षा के स्थान कहे गए हैं। प्राचीन शिक्षा–पद्धति को उसकी प्रमुख्य विशेषताओं के माध्यम से और अधिक ढंग से समझा जा सकता है–

1. गुरु–शिष्य सम्बन्ध–

प्राचीन काल में गुरु–शिष्य सम्बन्धों में वात्सल्य एवं निष्ठा के भाव व्याप्त थे। शिष्य गुरु को ईश्वर से भी उच्च मानते थे। गुरु भी गुरुकुल में शिष्यों का लालन–पालन एवं शिक्षा संतान की भाँति करते थे, इसीलिए गुरु को शिष्य का आध्यात्मिक पिता कहा गया है–

"आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः।
तं रात्रीस्तिस्त्र उदरे बिभर्ति तं जातं द्रष्टुमभिसंयन्ति देवाः।।"[3]

अर्थात् उपनयन संस्कार के उपरान्त ब्रह्मचारी को अपने समीप बुलाकर आचार्य अपने ज्ञान रुपी शरीर के गर्भ में उसे धारण करता है। जब तीन रात्रि पश्चात आचार्य के समीप रहकर ब्रह्मचारी का आध्यात्मिक जन्म होता है उस समय देवगण भी शुभाषीष प्रदान करते हुए उसका वन्दन करते हैं।

2. चरित्र निर्माण–

प्राचीन भारतीय शिक्षा–पद्धति की मुख्य विशेषता– विद्यार्थियों का नैतिक चरित्र निर्माण करना था। उस समय शिक्षा केवल विद्वता का ही द्योतक नहीं थी, अपितु शिक्षा के माध्यम से चरित्र का नैतिक उत्थान किया जाता था। "ब्रह्मचर्य व्रत से चरित्र विकास में बल मिलता है। इस सत्य का साक्षात्कार हमारे मनीषियों ने पूर्व में ही कर लिया था।"[4]

3. पवित्रता तथा सद्भावना का विकास–

प्राचीन भारतीय शिक्षा–पद्धति विद्यार्थियों में पवित्रता तथा सद्भावना का भी विकास करती थी। विद्यार्थी द्वेष एवं प्रतिस्पर्धा से रहित होकर सहपाठियों के साथ विद्या अध्ययन करते थे। उस काल में कुटिल भावों के लिए विद्यार्थियों के ह्रदय में कोई स्थान नहीं था, सत्यता तथा विद्वता के आधार पर ही सफलता को प्राप्त किया जाता था। वेदों में इस विषय में कहा गया है कि–

"संगच्छध्वं सं वदध्वं सं वो मनांसि जानताम्।
देवा भागं यथा पूर्वे संजानानां उपासते।।"[5]

अर्थात् हे स्तोताओं! आप परस्पर मिल–जुलकर चलें, परस्पर मिलकर स्नेहपूर्ण वार्तालाप करें। आपके मन में समान विचारधारा वाले होकर ज्ञानार्जन करें। जिस प्रकार पूर्वकाल में सज्जनों, विद्वानों ने एक साथ मिलकर यज्ञादि कार्यों को करते हुए देवों की उपासना की थी, उसी प्रकार आप सभी एकमत हो जाओ।

4. स्वावलम्बन गुण का विकास–

गुरुकुल तथा स्वयं के दैनिक कार्यों का वहन विधार्थी स्वयं ही करता था। जिससेविद्यार्थियों में स्वावलम्बन का गुण स्वतः ही विकसित हो जाता था।इसके साथ ही उनमें सहयोग की भावना भी विकसित होती थी। प्राचीन भारतीय शिक्षा–पद्धति की एक विशेषता यह भी थी कि यह शिक्षा जीवनोपयोगी थी। "गुरु–गृह में रहते हुए विधार्थी समाज के सम्पर्क में आता था। गुरु के लिए ईंधन व पानी लाना तथा अन्य गृह–कार्यों को करना उसका कर्त्तव्य समझा जाता था। इस प्रकार न वह केवल गृहस्थ होने का शिक्षण ही पाता था, अपितु श्रम का गौरव–पाठ तथा सेवा का पदार्थ–पाठ पढ़ता था।"[6]

5. संयमित जीवन–यापन की भावना का विकास–

गुरुकुलदूर एकान्त स्थानों पर बनाये जाते थे।यहाँ मूलभूत आवश्यकताओं के अतिरिक्त भौतिक संसाधनों का पूर्णतः निषेध रहता था, जिससे विद्यार्थी सात्त्विक जीवन–चर्या में संलग्न हो पाता था। "गुरुकुल में संयम तथा विधिविहित जीवन जो सांसारिक संसाधनों के अभावों में भी पूर्ण था, विद्यार्थियों में त्याग तथा संतोष की भावना को पुष्ट करता था।"[7]

6. सामाजिकता का विकास–

प्राचीन भारतीय शिक्षा–पद्धति ज्ञानार्जन के साथ–साथ विद्यार्थियों में सामाजिकता का बीजारोपण भी करती थी। शिक्षा मनुष्य में धार्मिक भावों को उत्पन्न कर, उसके चरित्र और व्यक्तित्व का विकास करके उसे सामाजिक कर्त्तव्यों के प्रति भी जागरुक करती थी। हमारी संस्कृति में प्रचलित तीन ऋणों देवऋण, ऋषिऋण और पितृऋण की कल्पना हमें सामाजिक जीवन को भली–भाँति समझने के लिए ही उत्प्रेरित करती है। प्रत्येक व्यक्ति को इसी उद्देश्य से शिक्षा दी जाती थी कि वह शिक्षा ग्रहण करने के उपरान्त गृहस्थ आश्रम में प्रविष्ट होकर पारिवारिक दायित्वों के निर्वहन के साथ ही समाज की सेवा करे। "विद्यार्थी में भी इस भाव को उत्पन्न किया जाता था कि वह समाज से प्राप्त भिक्षावृति से ही शिक्षा ग्रहण कर रहा है।"[8]

7. कौशल/प्रतिभा का विकास–

प्राचीन भारतीय शिक्षा–पद्धति में विद्यार्थियों कोअनिवार्य विषयो के साथ–साथ उनकी रुचि के अनुरुप भी शिक्षा प्रदान की जाती थी। जीवनोपयोगी शिक्षा में पशुपालन, कृषि, व्यवसायिक शिक्षा आदि की शिक्षा सम्मिलित थी।"व्यवसायिक शिक्षा विशेषतः वर्णों के अनुकूल दी जाती थी। ब्राह्मण पौरोहित्य, दर्शन, कर्मकाण्ड आदि विषय का अध्ययन करते थे, क्षत्रिय दण्ड–नीति, राजनीति, सैन्यशास्त्र, अर्थशास्त्र, धनुर्वेद आदि सीखते थे तथा वैश्य को पशुपालन एवं कृषि में विशेष योग्यता प्राप्त करनी पड़ती थी। इन विषयों के अतिरिक्त आयुर्वेदादि विषय स्व इच्छा से सीख सकते थे। एक विशेष उल्लेखनीय तथ्य यह है कि अनेक विषयों के अध्ययन–अध्यापन की सुविधा रहते हुए भी प्रत्येक विद्यार्थी को किसी एक विषय में पारंगत होना पड़ता था।"[9]

8. व्यक्तित्व का निर्माण तथा विकास–

प्राचीन भारतीय शिक्षा–पद्धति विद्यार्थियों में चारित्रिक उत्थान, सौहार्दपूर्ण व्यवहार, विनम्रता, स्वावलम्बन, संयम, सामाजिकता, कौशल–कुशलता आदि का विकास करके विद्यार्थियों के सम्पूर्ण सर्वांगीण व्यक्तित्व का निर्माण करती थी। ब्रह्मचर्य व्रत का पालन तथा इन्द्रिय संयम व्यक्तित्व निर्माण में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते थे।

9. संस्कृति का संरक्षण तथा विकास–

प्राचीन भारतीय शिक्षा–पद्धति में परम्परागत ज्ञान को श्रुति परम्परा के माध्यम से गुरु के द्वारा शिष्यों में प्रसारित किया जाता था और यह ज्ञान श्रृखंला पीढ़ीदर पीढ़ी चलती रहती थी। जिससे ज्ञानार्जन के साथ–साथ संस्कृति का संरक्षण भी होता था। "यहाँ शिक्षा का उद्देश्य केवल पठन–पाठन तक ही सीमित नहीं था, बल्कि अनुभव करने तथा ज्ञान को आत्मसात करने से भी था।"[10]

वर्तमान शिक्षा–पद्धति एवं उसमें निहित विसंगतियाँ –

वर्तमान शिक्षा–पद्धति ने गुरुकुल की सीमाओं से परे निकलकर ज्ञान–विज्ञान के क्षेत्र में अद्वितीय ख्याति प्राप्त कर ली है। जीवन के हर क्षेत्र में भौतिक सुख–सुविधाओं से लेकर ब्रह्माण्ड के दूसरे ग्रह तक पहुँचने तक आधुनिक शिक्षा ने अपना ध्वज लहराया है। यह शिक्षा सभी वर्गों, वर्णों, स्त्री

एवं पुरुष के लिए समान है। उच्च ज्ञान भण्डार होने के उपरान्त भी आधुनिक शिक्षा–पद्धति शिक्षा–शिक्षक–छात्र में उचित सहसम्बन्ध स्थापित करने में असमर्थ सी प्रतीत होती हुई दिखायी पड़ती है। शिक्षा में नैतिक मूल्यों, आदर्शों का स्थान प्रतिस्पर्धा तथा अंकीय शिक्षा ने ले लिया है। यह शिक्षा अधिकांशतः ज्ञानार्जन एवं स्वाध्याय से अधिक रटने की पद्धति को बढ़ावा देती है। वर्तमान शिक्षा–पद्धति केवल विद्यालय परिसर तक ही सीमित रहती है और विद्यार्थी भी शिक्षा को केवल परीक्षा पास करने तक ही अपनी स्मृति में रखते हैं। अधिकांशतः शिक्षक भी निर्धारित पाठ्यक्रम को नियत समय में पूर्ण करना ही अपना कर्त्तब्य समझते हैं। उन्हें विद्यार्थियों की आत्मसात करने की क्षमता, बौद्धिक योग्यता इत्यादि से विशेष लगाव नहीं होता। इस शिक्षा–पद्धति की एक कमी यह भी है कि इसमें शिक्षा के व्यवहारिक पक्ष की अनदेखी कर उसके सैद्धांतिक पक्ष पर अधिक बल दिया जाता है। इन्हीं विसंगतियों के कारण ही हमें अपनी शिक्षा–पद्धति पर पुनः विचार करने की आवश्यकता पड़ रही है।

प्राचीन भारतीय शिक्षा–पद्धति की प्रासंगिकता –

प्राचीन भारतीय शिक्षा–पद्धति में मौखिक तथा प्रश्नोत्तर शिक्षण विधियों के द्वारा शिक्षण के उद्देश्यों को प्राप्त किया जाता था।उस काल में सिर्फ विद्या को कंठस्थ करना ही शिष्यों का कार्य नहीं था, अपितु जब तक उसके अर्थ को भली–भाँति समझ न लें वे अन्य विद्या अभ्यास नहीं करते थे तथा गुरु भी शिष्यों को नयी विद्या का ज्ञान नहीं देते थे। जिस मात्रा में शिष्य का गुरु के प्रति समर्पण होता था उसी मात्रा में गुरू भी शिष्य को ज्ञान प्रदान करते थे। गुरू अपने शिष्य की प्रतिभा और गुणों को भली–भाँति परखकर ही उसे उसके योग्य शिक्षा प्रदान करते थे। हमारे प्राचीन ग्रन्थों में शिक्षा को आत्मसात करने के तीन स्तर बताये गए हैं श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन–

"श्रवणं तु गुरोः पूर्वं मननं तदनन्तरम्।
निदिध्यासनमित्येतत् पूर्णबोधस्य कारणम्।।"[11]

अर्थात् शिष्य को पूर्णतः बोध तभी हो सकता है, जब वह सर्वप्रथम गुरु के उपदेशों का श्रवण करे, फिर मनन करे तदनन्तर निदिध्यासन अर्थात् प्राप्त ज्ञान की साधना करे। प्राचीन शिक्षा–पद्धति में ज्ञान तथा चरित्र का वैज्ञानिक समन्वय दृष्टिगोचर होता है। आदर्श व्यक्तित्व निर्माण के लिए प्राचीन शिक्षा–पद्धति में निहित शिक्षा सूत्रों को ग्रहण कर वर्तमान में पुनः उनकी प्रतिष्ठा करने की महती आवश्यकता है।

निष्कर्ष–

शिक्षा के द्वारा ही मनुष्य जाति का निरन्तर विकास होता रहा, जिससे संस्कृति और समाज में "h आमूल–चूक परिवर्तन होते गए। शनैः शनैः शिक्षा के स्वरुप के साथ–साथ उसके मूल "ko में h" अन्तर आ गया है। वर्तमान समय में मिलने वाली शिक्षा को पुस्तकीय शिक्षा कहा जा सकता है। यह शिक्षा अधिकतर विद्यार्थियों को केवल पुस्तकीय ज्ञान तथा मानक उपाधियाँ प्रदान करने तक ही सीमित रखती है। जिससे विद्यार्थियों में नैतिक मूल्यों, सद्चरित्र, सहयोग की भवना, स्वावलम्बन आदि गुणों का अभाव स्पष्ट देखा जा सकता है। वर्तमान शिक्षा–पद्धति शिक्षक एवं विद्यार्थी वर्ग की सिर्फ जीविकोपार्जन के उद्देश्य की ही पूर्ति कर रही है, उनके चरित्र का नहीं। जीविकोपार्जन के उचित संसाधन न मिलने के कारण शिक्षकों एवं विद्यार्थियों में असंतोष की भावना उत्पन्न हो रही है, जिसके फलस्वरुप संस्कारहीन एवं अनैतिक कर्मों का जन्म हो रहा है। आधुनिक शिक्षा–प्रणाली की कुछ कमियां यह भी हैं कि विद्यार्थियों का न शारीरिक क्षमताओं का विकास सही ढंग से हो पाता है और न ही मानसिक तथा नैतिक विकास। हमारे शास्त्रों में वर्णित है–'अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतम् कर्म

शुभाशुभम्'। अर्थात् हमें अपने कर्मों का फल शुभ अथवा अशुभ रुप में भोगना ही पड़ता है। इसी प्रकार शिक्षा के लिए भी है कि जैसी शिक्षा हमें प्राप्त होगी हम वैसे ही बनेगें और हमारा समाज उसी दिशा में आगे बढ़ेगा।

प्राचीन शिक्षा मानव हित केन्द्रित थी। उसमें मनुष्य के पूर्ण विकास के सभी गुर सिखाए जाते थे। समाज के चहुओर विकास की सभी नीतियों का ज्ञान प्रदान किया जाता था। उसमें विद्यार्थी आत्मिक रुप से शिक्षा के प्रति समर्पित रहता था। कुछ अपवादों को छोड़कर हम कह सकते है कि प्राचीन शिक्षा पद्धति वर्तमान में प्रासंगिक है।

संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. डॉ. सरयू प्रसाद चौबे : भारतीय शिक्षा का इतिहास, रामनारायण लाल-प्रकाशन, इलाहबाद, पृ. सं. 1–2
2. याज्ञवल्क्य स्मृति– 1/3
3. अथर्ववेद– 11/7/3
4. शरतेन्दु दुबे :प्राचीन भारत में शिक्षा, शारदा पुस्तक भवन, इलाहबाद, पृ.सं. 4
5. ऋग्वेद– 10/191/2
6. प्यारेलाल रावत : प्राचीन व आधुनिक भारतीय शिक्षा, भारत पब्लिकेशन्स, आगरा,पृ.5
7. शरतेन्दु दुबे : प्राचीन भारत में शिक्षा, शारदा पुस्तक भवन, इलाहबाद, पृ.सं. 5
8. रविन्द्र अग्निहोत्री : आधुनिक भारतीय शिक्षा : समस्याएँ और समाधान, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, पृ.सं. 4
9. डॉ. श्रीधरनाथ मुखर्जी : भारत में शिक्षा, आचार्य बुक डिपो, बड़ौदा, पृ.सं. 5
10. रविन्द्र अग्निहोत्री : आधुनिक भारतीय शिक्षा : समस्याएँ और समाधान, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, पृ.सं. 4
11. शुकरहस्य– 3/13

शिक्षा एवं दर्शन

डॉ0 तृप्ति तिवारी
सहायक प्राध्यापक (गृह विज्ञान)
गांधी महाविद्यालय, मिड्ढा, बेरूआरबारी,
बलिया (उ0प्र0)

शिक्षा शब्द की व्युत्पत्ति संस्कृत भाषा के 'शिक्ष' धातु में 'अ' प्रत्यय लगाने से हुई है। संस्कृत में 'शिक्ष' शब्द का अर्थ 'सीखना और सिखाना' होता है। शिक्षा के लिए एक शब्द विद्या का भी प्रयोग किया जाता है। विद धातु से बना यह शब्द ज्ञान प्राप्ति के अर्थ को बताता है। बोगार्डस के अनुसार– ''सांस्कृतिक विरासत एवं जीवन के अर्थ को प्राप्त करना ही शिक्षा है।'' शिक्षा व्यक्ति के लिए व्यक्तिगत महत्व भी रखती है और सामाजिक महत्व भी। जहाँ शिक्षा से बौद्धिक क्षमता का विकास होता है, वहीं शिक्षा के द्वारा दुनिया भर की जानकारी और दूसरे समाज व समुदायों का ज्ञान प्राप्त होता है, जो अन्य समाज एवं संस्कृतियों से सामंजस्य स्थापित करने में सहायक होती है। फलस्वरूप अनावश्यक तनाव, संघर्ष, टकराव आदि की संभावना अत्यंत कम हो जाती है। इसी प्रकार दर्शन शब्द की उत्पत्ति संस्कृत भाषा की 'दृश' धातु से हुई है, जिसका अर्थ 'देखना' या जिसके द्वारा देखा जाए होता है जो सत्य एवं ज्ञान की खोज करता है। यह वह ज्ञान है, जो परम सत्य और सिद्धांतों तथा उनके कारणों की विवेचना करता है। दर्शन यथार्थ की परख के लिए एक दृष्टिकोण है। दार्शनिक चिंतन मूलतः जीवन की अर्थवत्ता की खोज का पर्याय है। भारत में दर्शन उस विद्या को कहा जाता है जो 'तत्व' का साक्षात्कार कराती है। उपनिषदों के अनुसार–

''दृश्यते अनेन इति दर्शनम्''

समाज एवं राष्ट्र का प्रत्येक व्यक्ति अपना विकास करने की चेष्टा करता है एवं अपने सर्वतोमुखी परिवर्द्धन में विश्वास रखता है, क्योंकि वह सिर्फ जीना नहीं चाहता, बल्कि समय के साथ अपनी उन्नति करते हुए जीना चाहता है। जीवन स्तर को ऊँचा उठाना, सुख–सुविधा के साधनों का अधिकाधिक उपभोग करना मानव स्वभाव के स्वाभाविक अंग है दर्शन मानव कल्याण को प्राथमिकता देता है। अतः प्रत्येक व्यक्ति को शिक्षित करके उसकी मनोवृत्ति व दृष्टिकोण तथा व्यवहार में बदलाव लाना दर्शन का उद्देश्य है। सभ्यता और संस्कृति के विकास के साथ–साथ मानव की आदतों, व्यवहार साधनों, इच्छाओं आदि सभी में परिवर्तन हुआ है और प्रारम्भिक मानव ने सामाजिक प्राणी का रूप ग्रहण किया यह सब शिक्षा से ही सम्भव हुआ है। शिक्षा एक ऐसे परिवर्तन को जन्म देती है, जिससे आध्यात्मिक विकास सम्भव है। बी.एस. फिलिप्स के अनुसार– ''शिक्षा वह संस्था है जिसका केन्द्रीय तत्व ज्ञान का संग्रह है।'' शिक्षा के द्वारा व्यक्ति समाजीकृत होकर अपने व्यक्तित्व का विकास करता है और दर्शन के माध्यम से ज्ञान तथा सत्य की खोज करके उसकी वास्तविकता को समझने की कोशिश करता है। प्लेटो ने अपनी पुस्तक रिपब्लिक में लिखा है– ''जो व्यक्ति ज्ञान को प्राप्त करने तथा नई–नई बातों को जानने के लिए रूचि प्रकट करता है तथा जो कभी संतुष्ट नहीं होता उसे दार्शनिक कहा जाता है। शिक्षा एवं दर्शन एक–दूसरे के पूरक हैं। दर्शन की तीनों शाखाओं (तत्व मीमांसा, ज्ञान मीमांसा व मूल्य मीमांसा) का शिक्षा से घनिष्ठ संबंध है।

* **तत्व मीमांसा व शिक्षा** :– तत्व मीमांसा का विषय–क्षेत्र सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड है। इसके अंतर्गत आत्मा–परमात्मा, विज्ञान, जगत्, मनुष्य इत्यादि का अध्ययन किया जाता है। सत्य अथवा यथार्थ के ज्ञान का ही दूसरा नाम तत्व ज्ञान है। शिक्षा का उद्देश्य भी वास्तविकता अथवा यथार्थ का ज्ञान कराना होता है। तत्व ज्ञान ही व्यक्ति को जीवन की वास्तविकता से परिचित कराता है।

* **ज्ञान मीमांसा व शिक्षा** :– ज्ञानशास्त्र के अंतर्गत ज्ञान से सम्बन्धित पक्षों एवं समस्याओं का अध्ययन किया जाता है। शिक्षा में ज्ञान मीमांसा का विशेष उपयोग होता है। पाठ्यक्रम का निर्माण करना व उसमें किस ज्ञान को सम्मिलित करना एवं ज्ञान के तत्वों को किस क्रम में व्यवस्थित करना है, इन समस्याओं को ज्ञान मीमांसा द्वारा हल करने में सहायता मिलती है।

* **मूल्य मीमांसा व शिक्षा** :– दर्शन में जीवन के प्रति दृष्टिकोण को मूल्य कहा जाता है। मूल्यों को मानव–जीवन का चरम लक्ष्य, मोक्ष या मुक्ति मानते हैं। मूल्यों (प्रमुख मूल्य–नैतिक मूल्य, सौन्दर्यानुभूति मूल्य, सामाजिक मूल्य तथा धार्मिक मूल्य) के विकास में शिक्षा प्रक्रिया का विशेष महत्व है। शिक्षा ज्ञान प्राप्त करने का एक साधन है और उसका संचालन तार्किक चिंतन के द्वारा ही सम्भव होता है।

दर्शन एवं शिक्षा के उद्देश्य :–दर्शन के द्वारा जीवन के मूल्यों का ज्ञान प्राप्त होता है और शिक्षा के द्वारा इन मूल्यों की प्राप्ति होती है। जीवन के उद्देश्य व्यक्ति के आदर्शानुरूप भिन्न–भिन्न होते हैं अतः शिक्षा के उद्देश्य भी भिन्न हो जाते हैं। समयानुसार जीवन के उद्देश्य परिवर्तित होते रहते हैं और व्यक्ति शिक्षा के माध्यम से अपने जीवन के उद्देश्यों को प्राप्त करने का प्रयास करता है। जीवन के उद्देश्यों का निर्धारण दार्शनिकों द्वारा होता है। जीवन के उद्देश्यों को सामने रखकर ही शिक्षा अपने कार्य में अग्रसर होती है। इस प्रकार दार्शनिक जीवन का लक्ष्य निर्धारित करते हैं और शिक्षक बालकों को उस लक्ष्य की प्राप्ति की क्षमता प्रदान करते हैं। राजनीतिक दर्शन का प्रभाव भी उद्देश्य निर्धारण पर पड़ता है। जिस देश में जिस समय जो राजनीतिक दर्शन होता है, उसी के अनुसार शिक्षा के उद्देश्यों का निर्धारण होता है। विभिन्न युगों में दर्शन द्वारा ही शिक्षा के उद्देश्यों का निर्धारण होता है।

प्राचीन युग :– प्राचीन स्पार्टा पर शत्रुओं का आक्रमणकारियों से लड़ने के लिए राज्य को शक्तिशाली योद्धाओं की आवश्यकता बनी रहती थी। अतः प्राचीन स्पार्टा के जीवन का उद्देश्य अथवा जीवन दर्शन "जीवन एक संघर्ष है" यही बन गया था। जीवन के उद्देश्य से प्रभावित होकर वहाँ की शिक्षा का उद्देश्य बालकों में देश–प्रेम, उत्साह, साहस तथा आज्ञा पालन की भावना विकसित करना एवं उनमें शारीरिक शक्ति हो उत्पन्न करके ऐसे बलवान योद्धाओं का निर्माण करना था जो युद्ध कला में निपुण हो। इस उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए बालकों को दौड़ना, कूदना, कुश्ती लड़ना, गोला फेंकना आदि बातों पर बल दिया जाता था जिससे उनका शरीर मजबूत बन जाए। स्पार्टा के पश्चात रोम, एथेन्स तथा भारत के भी अलग–अलग जीवन के उद्देश्य थे। रोम के निवासी अपने जीवन में अधिकारों तथा कर्तव्यों पर अधिक बल देते थे। एथेन्स में लोगों के जीवन का उद्देश्य व्यक्ति के शारीरिक सौन्दर्य चारित्रिक गुण तथा सौंदर्य अनुभूति की वृद्धि करना था अतः वहाँ की शिक्षा का उद्देश्य चरित्रवान तथा गुणवान नागरिकों का निर्माण करना था। वहाँ की शिक्षा प्रणाली में बालकों के व्यक्तित्व को अधिक महत्व दिया जाता था। इसी प्रकार भारत में प्राचीन काल में चारों ओर धर्म का बोल बाला था। उस समय जीवन का उद्देश्य आत्मशक्ति का विकास करना, आध्यात्मिक विकास करना तथा ईश्वर को पहचानना था जिससे आवागमन के चक्कर से बच कर व्यक्ति मोक्ष प्राप्त कर सके अतः उस युग में शिक्षा की व्यवस्था इसी उद्देश्य के अनुसार की गयी थी।

मध्य युग :– मध्य युग के जीवन दर्शन में अनेक उतार–चढ़ाव आए। इससे जीवन के लक्ष्य बदल गये, परिणामस्वरूप शिक्षा के उद्देश्य भी बदल गए। उस समय चारो ओर ईसाई धर्म का प्रचार हो रहा था जिससे शिक्षा में भी धर्म का समावेश हो गया। परिणामस्वरूप बालकों में आत्म–संयम की भावना विकसित करना, उनके शरीर कोयातनायें देना तथा बाइबल के उद्देश्यों को बिना सोचे विचारे स्वीकार करना शिक्षा के उद्देश्य बन गए। इधर मध्य युग के भारत में लोगों के जीवन दर्शन में धर्म की छाप प्राचीन युग की भांति लगी रही। परिणामस्वरूप मुस्लिम काल में शिक्षा के प्रमुख उद्देश्य थे–

1. शिक्षा द्वारा अधिक से अधिक ज्ञान की प्राप्ति करना।
2. शिक्षा द्वारा भारत में इस्लाम धर्म का प्रचार करना।
3. भारतीय मुसलमानों को इस्लाम धर्म के प्रति अपार श्रद्धा पैदा करना।
4. दरबारों में उच्च पदों को प्राप्त करना और जीवन का आनन्द लेना आदि–आदि।

आधुनिक युग :– आधुनिक युग में लोगों का जीवन दर्शन फिर बदल गया। परिणामस्वरूप शिक्षा के क्षेत्र में भी क्रान्तिकारी परिवर्तन होने लगे। जॉन व लॉक रूसो जैसे दार्शनिक ने पुरानी विचारधाराओं का घोर विरोध किया और इस बात पर बल दिया की बालक के व्यक्तित्व की उपेक्षा न करके उसकी मूल प्रवृत्तियों को स्वतंत्रतापूर्वक विकसित होने के अधिक से अधिक अवसर प्रदान किये जाये। इससे शिक्षा में मनोवैज्ञानिक प्रगति का जन्म हुआ। जैसे–जैसे शिक्षा में इस प्रवृत्ति का विकास होता गया वैसे–वैसे शिक्षा बालक प्रधान होती चली गयी। समय परिवर्तन के साथ–साथ जीवन के उद्देश्यों में फिर परिवर्तन आया।

कहने का तात्पर्य यह है कि आधुनिक युग में लगभग सभी राष्ट्र अपनी–अपनी विचारधाराओं तथा आवश्यकताओं के अनुसार अपने–अपने जीवन के लक्ष्यों को दृष्टिगत रखते हुए अपने–अपने यहाँ की शिक्षा के उद्देश्यों का निर्माण कर रहे हैं।

शिक्षा और दर्शन के पारस्परिक सम्बन्ध :– शिक्षा और दर्शन में गहन सम्बन्ध होता है और एक के अभाव में दूसरे का अस्तित्व असम्भव है। शिक्षा व्यवस्था दार्शनिक चिंतन पर आधारित होती है और दर्शन शैक्षिक विचारधारा पर आधारित होता है। अगर शिक्षा व्यवस्था का अपना कोई दर्शन नहीं है और दर्शन का अपना कोई शैक्षिक महत्व नहीं है तो दोनों ही खोटे सिक्के के समान हैं।

शिक्षा के द्वारा ही दार्शनिक विचारधाराओं का जन्म व विकास हुआ है और दार्शनिक विचारधाराओं के द्वारा ही शिक्षा का अर्थ उद्देश्य व उसके अन्य अंगों के स्वरूप का निर्धारण होता है। जहाँ दर्शन शिक्षा को एक उद्देश्यपूर्ण आकार प्रदान करता है वही शिक्षा दर्शन के विकास की आधारशिला है। एक के बिना दूसरे का अस्तित्व सम्भव नहीं है। "जिस प्रकार शिक्षा दर्शन पर आधारित है उसी प्रकार दर्शन शिक्षा पर आधारित है।" (जी0ई0 पोर्टरिज)

शिक्षा दर्शन को सक्रिय बनाती है। दार्शनिक विचारधारा का प्रचार–प्रसार शिक्षा के माध्यम से ही सम्भव है। शिक्षा, दर्शन के वास्तविक उद्देश्यों से जन–सामान्य को अवगत कराती है। बिना शिक्षा के दर्शन के उद्देश्यों व लक्ष्यों की पूर्ति नहीं की जा सकती है। शिक्षा ही दर्शन को उचित–अनुचित, नैतिक–अनैतिक, वांछनीय–अवांछनीय, शुभ–अशुभ, आत्मा–परमात्मा आदि का ज्ञान प्राप्त करने का माध्यम बनती है और इस ज्ञान में सक्रियता उत्पन्न करती है।

एक सच्चा दार्शनिक वही कहलाता है जो ज्ञानी होता है और यह ज्ञान शिक्षा द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है। इस प्रकार दर्शन एवं शिक्षा के मध्य गहन संबंध है। व्यक्ति के व्यवहार को सुधार की दिशा में परिवर्तित करने वाले विचारों को शिक्षा में रखा जाता है। कुछ विद्वानों ने समग्र

जीवन को शिक्षा और शिक्षा को जीवन माना है। व्यक्ति जीवन में सद्विचारों को 'दर्शन' द्वारा ही प्राप्त कर सकता है और दर्शन में जीवन जगत से सम्बन्धित समस्याओं का अध्ययन किया जाता है। अतः शिक्षा एवं दर्शन पूर्णतः एक–दूसरे पर आश्रित है। एक के अभाव में दूसरे का अस्तित्व असम्भव है। "शिक्षा दर्शन की सहायता के बिना सही मार्ग पर नहीं बढ़ सकती है। शिक्षा की समग्र समस्याओं का समाधान कराना और उसको क्रियान्वित करना दर्शन का कार्य है तथा दर्शन की प्रवृत्तियों, समस्याओं एवं विचारों को कार्यरूप में परिणित करने का काम शिक्षा का है। जीवन रूपी शरीर का दर्शन मस्तिष्क है और शिक्षा उसके हाथ एवं पैर हैं, जिस प्रकार से शरीर हेतु समग्र अंगों का होना नितांत आवश्यक है उसी प्रकार से शिक्षा हेतु दर्शन और दर्शन हेतु शिक्षा का होना अति आवश्यक है। दर्शन मूल रूप से व्यक्ति को शिक्षित करके उसकी मनोवृत्ति, दृष्टिकोण तथा व्यवहार में परिवर्तन लाने पर आधारित है। इसका उद्देश्य मानव कल्याण है।

इस प्रकार शिक्षा और दर्शन में घनिष्ठ सम्बन्ध है। दर्शन शिक्षा को प्रभावित करता है और शिक्षा दार्शनिक दृष्टिकोण पर नियंत्रण रखती है। विश्व के सभी महान् दार्शनिक महान् शिक्षाशास्त्री भी हुए हैं। रॉस के शब्दों में– "दर्शन और शिक्षा एक ही सिक्के के दो पहलुओं के समान है। एक में दूसरा निहित है। दर्शन जीवन का विचारात्मक पक्ष है और शिक्षा–क्रियात्मक पक्ष।" अस्तु शैक्षिक दृष्टिकोण से दर्शन का अध्ययन परमावश्यक है, क्योंकि उसके द्वारा शिक्षा का पथ–प्रदर्शन किया जाता है।

संदर्भ सूची

1. गुप्ता प्रो० एम०एस०, गुप्ता विमलेश (समाजशास्त्र), साहित्य भवन पब्लिकेशन्स, आगरा।
2. प्रसाद डॉ० श्रीमती ज्योति एवं श्रीवास्तव श्रीमती रीमा (2002–2001) : गृह विज्ञान शिक्षा विस्तार के सिद्धांत, अरूण प्रकाशन ग्वालियर (म०प्र०)
3. भँवर उदयकाल (2016–17), शिक्षा के दार्शनिक आधार, महात्मा गांधी चित्रकूट ग्रामोदय विश्वविद्यालय, चित्रकूट (म०प्र०) www.gramodayachitrakoot.ac.in
4. भंडारी श्रीमती परमिन्दर कौर, सिंह डॉ० दिव्या रानी (2015) : प्रसार शिक्षा एवं संचार व्यवस्था, ग्रीन लीफ पब्लिकेशन, वाराणसी।
5. मिश्र डॉ० के०के० (2011) : विकास का समाजशास्त्र, भवदीय प्रकाशन, अयोध्या, फैजाबाद।
6. सिंह डॉ० सरोज, समाज में परिवार का अध्ययन, नवीन संस्करण स्टार पब्लिकेशन्स, आगरा।
7. hi.vikaspedia.in
8. shrishshankhdharblogspot.com
9. www.startupeducations.com

मानवीय मूल्यों के सन्दर्भ में योगदर्शन की प्रासंगिकता

डॉ. सूर्य प्रकाश द्विवेदी
अतिथि विद्वान– दर्शन विभाग
अवधेश प्रताप सिंह विश्वविद्यालय, रीवा
ईमेल–dwivedisuryaprakash011@gmail.com

वर्तमान परिदृश्य में भौतिकता एवं वैज्ञानिकता की दृष्टि से आज का मानव अत्यन समृद्ध है। परन्तु भौतिकता के बढ़ते आकर्षण ने मानव के समक्ष अनेक गंभीर समस्याए भी उत्पन्न की है ये समस्याए जिस रूप में उभरकर हमारे समक्ष आती है। उनमें मुख्यत: मानवीय मूल्यों का अवमूल्यन है। मानवीय मूल्यों के अवमूल्यन के कारण ही आज अनेक व्यक्तिगत, पारिवारिक एवं सामाजिक समस्याएँ उत्पन्न हो रही है। इन समस्याओं के निदान में योगदर्शन किस प्रकार से सहायक हो सकता है। इस तथ्य के आलोक में जब हम योगदर्शन पर विहंगम दृष्टि डालते हैं तो पाते हैं कि प्राचीनकाल से योग का प्रयोग मुख्यत: आध्यात्मिक लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए किया जाता था, जिसका मुख्य उद्देश्य मानवमात्र का कल्याण करना था। मानव मात्र के कल्यार्थ ही महर्षि पतंजलि ने इसे योगसूत्र के रूप में ग्रन्थबद्ध किया, जिससे इसका लाभ वर्तमान एवं भावी जन समुदाय को मिल सकें। वास्तव में योग न सिर्फ मानवीय मूल्यों के विकास के सन्दर्भ में महत्वपूर्ण है। अपितु मानव के सर्वांगीण विकास के लिए भी अतिआवश्यक है।

योगसूत्रकार महर्षि पतंजलि का मानना था कि आध्यात्मिक लाभों की दृष्टि से की जाने वाली योग साधना हेतु नैतिक सुदृढ़ता एवं उत्तम चरित्र प्राथमिक आवश्यकता है। इसलिए महर्षि पतंजलि ने योगसूत्र में अष्टांगयोग (यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान एवं समाधि)[1] का विधान किया है और योग को यम अर्थात् सार्वभौमिक, चारित्रिक, सामाजिक निर्देशों से प्रारम्भ करते हैं,[2] जो मानवीय मूल्यों के विकास की दृष्टि से अतिमहत्वपूर्ण है। सार्वभौम का अर्थ है देश, जाति, धर्म आदि कि परिधि से ऊपर उठकर यम का पालन करते हुए योगाभ्यास किया जाना चाहिए। व्यक्ति चाहे किसी भी जाति, धर्म व देश का हो और किसी भी काल में योग का अभ्यास करें यम आवश्यक रूप से पालनीय है। इससे स्पष्ट होता है कि यम सम्पूर्ण मानव समाज द्वारा किसी भी परिस्थिति में अनुशासन के लिए अत्यन्त आवश्यक है। जिन व्यक्तिगत एवं सामाजिक मूल्यों से सम्बन्धित समस्याओं के निराकरण की दृष्टि से इन (यम) नियमों का प्रतिपादन किया गया था। ये समस्याए प्राचीन काल में इतनी विकट न होने पर भी इनको प्रतिस्थापित करना आवश्यक समझा गया। परन्तु वर्तमान सामाजिक स्थिति इस सम्बन्ध में अत्यन्त विकट है। मानवीय मूल्यों के अवमूल्यन के कारण ही आज अनेक व्यक्तिगत, पारिवारिक एवं सामाजिक समस्याए उत्पन्न हुयी है। ये समस्याए निम्न है – अशांति, असंतोष, असमानता, शोषण, अन्याय, घरेलू हिंसा, पारिवारिक विघटन, दहेज, पारिवारिक कलह, संवेदन हीनता, डिवोस, दहेज हत्या, नशाखोरी, रिश्वतखोरी, भ्रष्टाचार, जातीय संघर्ष मजहबी उन्माद, हिंसा, आतंकवाद, परिग्रह की भावना, चौर्य प्रकृति, बढ़ती कालाबाजारी, असहिष्णुता, भीड़ हिंसा, व्यक्ति में बढ़ती अपराधिक प्रवृत्ति तथा बलात्कार जैसी आदि अनेक समस्याए मानवीय मूल्यों के अवमूल्यन के कारण ही समकालीन समाज में व्याप्त है। इन समस्याओं का निदान अष्टांगयोग में निहित सिद्धान्त यम के द्वारा किया जा सकता है।

यम का शाब्दिक अर्थ है नियन्त्रण करना। यम के पालन से व्यक्ति स्वयं के ऊपर नियन्त्रण स्थापित करता है जो मानवीय मूल्यों के विकास की दृष्टि से अति आवश्यक है, स्वयं के ऊपर नियन्त्रण स्थापित करके ही व्यक्ति अनैतिक कार्यों को करने से बच सकता है। इसका पालन न केवल व्यक्ति के लिए लाभदायक है वरन सामाजिक व्यवस्था के लिए भी अपरिहार्य है क्योंकि इससे सामाजिक अव्यवस्था व अशान्ति आदि विकृतियाँ दूर होती है जो कि एक सभ्य व आदर्श समाज के लिए अत्यन्त आवश्यक है। महर्षि पतंजलि ने योगसूत्र में यम के पाँच प्रकार बताए है – "अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः" अर्थात् अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ये यम के पाँच प्रकार है।

योगदर्शन में अहिंसा का प्रयोग बड़े व्यापक अर्थ में किया गया है। किसी भी जीव को कष्ट नहीं पहुचाना ही बस अहिंसा नहीं है बल्कि मन, वचन एवं कर्म से किसी भी प्राणी या जीव को कभी किसी भी प्रकार का किंचित मात्र भी कष्ट न पहुँचाना ही अहिंसा है। अहिंसा के पालन से मानवीय मूल्यों में वृद्धि होती है तथा उसमें असीम करूणा एवं प्रेम का संचार होता है, जिससे उसमें कोमलता एवं उदारता आदि सद्‌गुणों का विकास होता है जिसके परिणामस्वरूप उसे आन्तरिक सुख की प्राप्ति होती है। इसके अतिरिक्त अहिंसा के पालन से व्यक्ति के अन्दर की वैर भावना का ह्रास हो जाता है और वह सभी से मित्रवत व्यवहार करता है। मानवीय मूल्यों में अहिंसा की भावना विकसित होने पर ही भावनाए विकसित एवं पवित्र होती है। भावनाओं के विकसित एवं पवित्र होने पर ही वह अन्य व्यक्तियों को अच्छे से समझ सकता है जिससे पारिवारिक कलह, डिवोस, दहेज हत्या आदि पारिवारिक समस्याओं के अतिरिक्त आतंकवाद, अशान्ति, अराजकता तथा वर्ग संघर्ष आदि जैसी ज्वलंत समस्याओं का निदान किया जा सकता है।

सत्य का अर्थ बताते हुए व्यासभाष्य मे कहा गया है कि "सत्यं यथार्थे वाग्मनसे। यथा दृष्टं यथानुमितं यथा श्रुतं तथा वाग्मनस्चेति" अर्थात् यथार्थ वाणी और मन का होना सत्य है। जिस प्रकार प्रत्यक्ष किया, जिस प्रकार अनुमान से जाना तथा जिस प्रकार सुना उसे उसी प्रकार वैसा का वैसा ही वाणी और मन का होना सत्य है। सत्य का पालन मानवीय मूल्यों के विकास की दृष्टि से अत्यन्त आवश्यक है। इसके पालन से जहा एक ओर नैतिक मूल्यों की वृद्धि होती है। वही दूसरी ओर समाज में आपसी अविश्वास एवं द्वेष की भावना का जो वातावरण है वह भी समाप्त हो जाता है। वर्तमान समय में मानवीय मूल्यों का जो भी ह्रास हो रहा है वह असत्य भाषा के ही कारण हो रहा है लोग बिना किसी उकसावे के तथा अकारण ही असत्य भाषा का प्रयोग करने लगे है। परिणामस्वरूप अधिकाधिक असत्य भाषा के प्रयोग से समाज मे अविश्वास की भावना दिनोंदिन बढ़ती ही जा रही है जो व्यक्ति एवं समाज को नैतिक पतन की ओर ले जा रहा है। असत्य भाषा के बल पर ही आज कितने ही अदालती फैसले झूठे ही सत्य सिद्ध हो जा रहे हैं जिसमें व्यक्ति को अपना धन एवं समय दोनों गवाने के बावजूद भी उसे न्याय के स्थान पर अन्याय ही मिलता है, जो व्यक्ति एवं समाज को निराशावाद की ओर ले जाता है तथा असंतोष की भावना में वृद्धि करता है, यह असंतोष ही व्यक्ति एवं समाज मे हिंसात्मक प्रवृत्ति को जन्म देती है जो कि एक सभ्य समाज के लिए सर्वथा अस्विकार योग्य है। अतः यह कहा जा सकता है कि मानवीय मूल्यों के विकास के लिए तथा समाज के कल्याणार्थ सत्य का पालन अत्यन्त आवश्यक है। इससे व्यक्ति एवं समाज दोनों का सामाजिक, नैतिक, धार्मिक अर्थात् सभी दृष्टियों से मानवीय मूल्यों का उत्कर्ष ही होता है।

यम का तीसरा अंग अस्तेय है। अस्तेय का शाब्दिक अर्थ है चौर्यवृत्ति का परित्याग। जब कोई व्यक्ति निषिद्ध रीति अर्थात् गलत उपायों से किसी दूसरे व्यक्ति का द्रव्य ग्रहण करता है अर्थात्

जिसका कुछ भी मूल्य हो ऐसी किसी भी वस्तु का उसके स्वामी के अनुमति के बिना लेना या लेने की इच्छा रखना स्तेय है। अतः स्तेय का सर्वथा त्याग ही अस्तेय है। मानवीय मूल्यों के विकास की दृष्टि से अस्तेय का पालन आवश्यक है क्योंकि इसके अभाव में व्यक्ति मे नैतिक मूल्यों का विकास हो ही नही सकता अस्तेय के अभाव में ही वर्तमान समय में भ्रष्टाचार, घूसखोरी, चोरबाजारी एवं तस्करी आदि बढ़ गये है तथा इन प्रवृत्तियों के कारण ही आज नैतिक मूल्यों का ह्रास हो रहा है। इन समस्याओं का समाधान अस्तेय के सामुहिक पालन से किया जा सकता है। अस्तेय के पालन से जहाँ एक ओर व्यक्ति में ईमानदारी, सच्चरित्रता आदि नैतिक सद्‌गुणों का विकास होता है वही दूसरी ओर इससे समाज में बढ़ते घूसखोरी, भ्रष्टाचार, तस्करी आदि अनेक समस्याओं से निजाद पाया जा सकता है।

यम का चतुर्थ अंग ब्रह्मचर्य है। ब्रह्मचर्य का अर्थ है मन वचन एवं कर्म से सभी प्रकार के विषय वासनाओं का परित्याग। जब तक व्यक्ति अपने इन्द्रियों के उपर अपना पूर्ण नियन्त्रण स्थापित नहीं करता है तब तक वासनाओं की उत्पत्ति को वह नहीं रोक सकता है। अतः इन्द्रियों के नियंत्रण से कामवासनाओं पर नियन्त्रण स्थापित करना ब्रह्मचर्य है। ब्रह्मचर्य के पालन से व्यक्ति में नैतिक मूल्यों की वृद्धि होती है। आज के मानव समाज की सबसे बड़ी समस्याओं में से एक चरित्रहीनता की समस्या है। चरित्रहीनता से ही मानव का नैतिक क्षरण होता है, जिसके मूल में ब्रह्मचर्य का अभाव होना है। ब्रह्मचर्य के अभाव के कारण ही आज मानव समाज मे अनेक शारीरिक एवं मानसिक रोग भी उत्पन्न हो रहे है। वर्तमान समय में एड्स जैसे घातक रोग भी अनियन्त्रित कामवासना का हि परिणाम है। इसी प्रकार से व्यक्ति की कामवासना के पूर्ण न होने पर वह अवसाद आदि मानसिक रोगों से भी घिर जाता है। इसके अतिरिक्त समाज में बढ़ते अनेक अपराधों जैसे –बलात्कार, हत्या, बाल व महिला शोषण तथा वैश्यावृत्ति आदि भी मानव की अनियंत्रित कामवासनाओं का ही परिणाम है। इन समस्याओं का समाधान ब्रह्मचर्य के पालन से ही किया जा सकता है।

यम का पाँचवा अंग अपरिग्रह है। अपरिग्रह का अर्थ है आवश्यकता से अधिक वस्तुओं का संचय न करना। मानवीय मूल्यों के विकास की दृष्टि से अपरिग्रह का पालन अत्यन्त आवश्यक है क्योंकि परिग्रह अर्थात् संग्रह की प्रवृत्ति व्यक्ति को लोभी बना देती है और लोभी व्यक्ति अनैतिक कार्यो को करने में भी कोई संकोच नहीं करता है। इसी प्रकार परिग्रह की प्रवृत्ति बढ़ने पर विषय भोगो को हम जितना ज्यादा बढ़ाते है उतना ही उसके प्रति राग बढ़ता जाता है तथा राग के बढ़ने से उन विषय भोगों के संचय की प्रवृत्ति भी बढ़ती जाती है और इस प्रवृत्ति का अन्त नहीं होता है। यह संचय की प्रवृत्ति ही उसे दूसरे के अधिकारों एवं वस्तुओं को छीनने की ओर ले जाती है जिसका परिणाम हिंसा के रूप में सामने आता है क्योंकि यदि व्यक्ति दूसरे के अधिकारों एवं वस्तुओं को छिनता है तो यह हिंसा ही है और यह हिंसा घृणा, द्वेष एवं वैमनस्यता को जन्म देती है जो मानवीय मूल्यों के अवमूल्यन का प्रमुख कारण बनता है। अतः मानवीय मूल्यों के विकास की दृष्टि से अपरिग्रह का पालन भी आवश्क है।

इस प्रकार से यह कहा जा सकता है कि योगदर्शन में निहित सिद्धान्त (यम) के पालन से मानव समाज में निहित चारित्रिक बुराईयों को दूर किया जा सकता है तथा नैतिक मूल्यों के क्षरण को रोक कर मानव समाज में फैले अशांति, असंतोष, शोषण, अन्याय, पारिवारिक कलह, डिवोर्स, दहेज हत्या, भ्रष्टाचार, बलात्कार, असहिष्णुता आदि अनेक चारित्रिक बुराईयों को दूर कर मानवीय मूल्यों का उत्कर्ष किया जा सकता है। इस प्रकार निष्कर्षतः हम यह कह सकते है कि योग दर्शन का प्रयोग

आध्यात्मिक लक्ष्यों के साथ–साथ मानवीय एवं सामाजिक मूल्यों के विकास के परिप्रेक्ष्य में भी किया जा सकता है। इस प्रकार से मानवीय मूल्यों के समग्र विकास हेतु योगदर्शन की प्रासंगिकता निर्विवाद रूप से स्वीकार किया जा सकता है।

सन्दर्भ सूची :–

1. योगसूत्र, 2/29, व्याख्याकार नन्दलाल दशोरा, रणधीर प्रकाशन हरिद्वार, तृतीय संस्करण 1977
2. योगसूत्र, 2/31
3. योगसूत्र, 2/30
4. व्यासभाष्य, 2/30, भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी, 1971

नई शिक्षा नीति एवं प्राचीन भारत में शिक्षा व्यवस्था

डॉ. किरण वडेरिया
NET, Ph.D. (Philosophy)
विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन

शिक्षा का शाब्दिक अर्थ होता है सीखने एवं सिखाने की क्रिया परन्तु अगर इसके व्यापक अर्थ को देखें तो शिक्षा किसी भी समाज में निरन्तर चलने वाली सामाजिक प्रक्रिया है जिसका कोई उद्देश्य होता है और जिससे मनुष्य की आंतरिक शक्तियों का विकास तथा व्यवहार को परिष्कृत किया जाता है। शिक्षा द्वारा ज्ञान एवं कौशल मे वृद्धि कर मनुष्य को योग्य नागरिक बनाया जाता है।

स्वामी विवेकानंद जी के शब्दों में शिक्षा उस पूर्णता को व्यक्त करता है जो सब मनुष्यों में पहले से विद्यमान है। जो शिक्षा साधारण व्यक्ति को जीवन–संग्राम में समर्थ नही बना सकती, जो मनुष्य में चरित्र–बल, परहित–भावना तथा सिंह के समान साहस नहीं ला सकती, वह भी कोई शिक्षा है ? जिस शिक्षा के द्वारा जीवन मे अपने पैरो पर खड़ा हुआ जाता है, वही है शिक्षा।

प्राचीन भारतीय शिक्षा–प्रणाली के चार प्रमुख उद्देश्य थे प्रथम उद्देश्य – चरित्र निर्माण था, ब्रह्मचर्य अवस्था में शिक्षा द्वारा चरित्र गठन इतना सुन्दर और आदर्श होता था कि मेगस्थनीज, मार्कोपालो, व्हेनसांग आदि विदेशी यात्रियों ने भारतीय चरित्र की मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की है।

द्वितीय उद्देश्य – व्यक्तित्व का सर्वांगीण विकास करना था, तपोवनों और आश्रमों में और कालान्तर में विद्यालयों तथा विश्वविद्यालयों मे उपाचार्य – संरक्षण मे विद्यार्थी की शारीरिक और मानसिक शक्तियों का विकास एवं मौलिक भावनाओं व प्रवृत्तियों का प्रस्फूरण होता था।

तृतीय उद्देश्य – विद्यार्थी में उत्तरदायित्व और कर्त्तव्य की भावना जागृत कर सामाजिक और नागरिक अधिकारों व कर्त्तव्यों का समुचित ज्ञान करना था।

चतुर्थ उद्देश्य – पाचीन संस्कृति और साहित्य की संरक्षण करना था।

जबकि नई राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020 का उद्देश्य सभी छात्रों को उच्च शिक्षा प्रदान करना है, जिसका लक्ष्य 2025 तक पूर्व माध्यमिक शिक्षा (3–6 वर्ष की आयु सीमा) को सार्वभौम बनाना है और युवाओं की रोजगार क्षमता में वृद्धि होगी। वैदिक काल और महाभारत काल में अध्ययन के लिए वेद, पुराण, व्याकरण, ज्योतिष, छन्द दर्शन, कला आदि का अध्ययन किया जाता था। कालान्तर में चित्रकला और गृह निर्माण कला पर भी यथेष्ट ध्यान दिया जाने लगा तथा लकड़ी व पत्थर पर खुदाई करने की शिल्पकला की शिक्षा भी दी जाने लगी। अजंता व बाघ की गुफाएँ, एलीफेण्टा, महाबलीपुरम, राजगृह तथा अन्य स्थानों के कलात्मक अवशेषों से स्पष्ट है कि विविध शिल्पकलाओं की विशेष परम्पराएँ रही होगी तभी तो ललित–कलाओं में इतनी प्रशंसनीय प्रगति सम्भव हो सकी।[1]

जबकि नई राष्ट्रीय शिक्षा नीति में भाषायी विविधता के संरक्षण के लिए कक्षा 5 तक शिक्षा में मातृभाषा / स्थानीय या क्षेत्रीय भाषा को अध्ययन का माध्यम रखा जायेगा, साथ ही इस नीति में कक्षा 8 और आगे की शिक्षा के लिए भी मातृभाषा में शिक्षा की स्थापना का प्रस्ताव किया गया है। स्कूली और उच्च शिक्षा मे छात्रों के लिए संस्कृत और अन्य प्राचीन भारतीय भाषाओं का विकल्प उपलब्ध होगा लेकिन भाषा के लिए किसी भी छात्र पर बाध्यता नही होगी। नई शिक्षा नीति में शारीरिक शिक्षा पर विशेष बल दिया गया है जिसमें विद्यालयों में सभी स्तरों पर बागवानी, नियमित रुप से खेल–कूद, योग, नृत्य, मार्शल आर्ट को स्थानीय उपलब्धता के अनुसार प्रदान करने की कोशिश की जायेगी।

प्राचीन भारत में शिक्षा समाप्ति के बाद किसी प्रकार की परीक्षाएँ नही होती थी और न ही विद्यार्थियों को कोई प्रमाण–पत्र या उपाधियाँ ही दी जाती थी, बल्कि प्रतिदिन गुरु द्वारा कठिन मौखिक परीक्षा लेने की प्रथा थी, गुरु प्रतिदिन नया पाठ पढ़ाने से पूर्व मौखिक परीक्षा द्वारा यह जान लेता था कि शिष्य का पिछला पाठ पूर्णरूपेण स्मरण हुआ या नहीं। अनेक बार गुरु अपने शिष्यों को विद्वानों की मण्डलियों और परिषदों में तथा राजभाषाओं में उपस्थित करते थे। वहाँ उनसे विभिन्न विषयों पर प्रश्नोत्तर अथवा शास्त्रार्थ में भाग लेना पड़ता था, इस प्रकार योग्यता, विद्वता और पाण्डित्य की परीक्षा वाद–विवाद या शास्त्रार्थ द्वारा होती थी।

जबकि नई राष्ट्रीय शिक्षा नीति में छात्रों की प्रगति के मूल्यांकन के लिए मानक– निर्धारक निकाय के रूप में 'परख' (PARAKH) नामक एक नए 'राष्ट्रीय आकलन केन्द्र' (National Assessment Centre) की स्थापना की जाएगी। छात्रों की प्रगति के मूल्यांकन तथा छात्रों को अपने भविष्य में जुड़े निर्णय लेने में सहायता प्रदान करने के लिए 'कृत्रिम बुद्धिमत्ता' (Artificial Intelligence - AI) आधारित सॉटवेयर का प्रयोग होगा।

नई शिक्षा नीति में देश भर के उच्च शिक्षा संस्थानों के लिए एक एकल नियामक अर्थात् उच्च शिक्षा परिषद् (Higher Education Commission of India - HECI) की परिकल्पना की गई है। जिसमें विभिन्न भूमिकाओं को पूरा करने हेतु कई कार्य क्षेत्र होंगे। भारतीय उच्च शिक्षा आयोग चिकित्सा एवं कानूनी शिक्षा को छोड़कर पूरे उच्च शिक्षा क्षेत्र के लिए एक एकल निकाय (Single Umbrella Body) के रूप में कार्य करेगा।"[3] नई शिक्षा नीति जहाँ विशेष तौर पर जातिगत समस्या है, जहाँ बड़ी संख्या में आर्थिक, सामाजिक बाधाओं का सामना करने वाले छात्र पाए जाते है उन्हें विशेष शैक्षिक क्षेत्र (Special Educational Zones) के रूप में नामित किया जायेगा। देश में क्षमता निर्माण हेतु केन्द्र सभी लड़कियों और ट्रांसजेंडर छात्रों को समान गुणवत्ता प्रदान करने की दिशा में एक 'जेंडर इक्लूजन फंड' (Gender Inclusion Fund) की स्थापना करेगा एवं स्नातक शिक्षा में आर्टिफिशियल इंटेलीजेंस, थ्री–डी मशीन, डेटा–विश्लेषण, जैव प्रौद्योगिकी आदि क्षेत्रों की समावेशन से आधुनिक क्षेत्रों में भी कुशल पेशेवर तैयार होंगे और युवाओं के रोजगार में वृद्धि होगी।

संदर्भ सूची :

1. भारत और उसकी समस्याएँ, स्वामी विवेकानंद, स्वामी वृहस्थानन्द, पृ. 42
2. प्रतियोगिता दर्पण, सितम्बर 2001, पृ. 205.
3. दृष्टि पत्रिका 25 अगस्त 2020.

आधुनिक काल में श्रीमद्भगवद्गीता शिक्षा की प्रासंगिकता

डॉ. रश्मि पटेल
अतिथि विद्वान
दर्शनशास्त्र विभाग
रानी दुर्गावती विश्वविद्यालय, जबलपुर(म.प्र.)

श्रीमद्भगवद्गीता भारतीय संस्कृति का लोकप्रिय ग्रंथ है। लगभग 5000 वर्ष पूर्व भगवान श्री कृष्ण तथा अर्जुन के संवाद के रूप में वेदव्यास द्वारा रचित ग्रंथ श्रीमद्भगवद्गीता के नाम से प्रसिद्ध है। गीता हमारे जीवन में पथ प्रदर्शक के रूप में है, कोई भी मानव जो अपने जीवन में निराशा से ग्रसित क्यों न हो, इसके अध्ययन मात्र से व्यक्ति के जीवन में एक नवीन ऊर्जा संचार हो उठता हैं।

श्रीमद्भगवद्गीता का संपूर्ण मानवीय जीवन में अतुलनीय योगदान है, गीता में संपूर्ण समाज तथा राष्ट्र के हित के लिए नैतिक शिक्षा एवं मानवीय शिक्षा का समावेश है। जिसमें नैतिक पक्ष के पहलूओं का अध्ययन बड़े विस्तृत ढंग से मिलता है, अतः कहा जा सकता है, कि श्रीमद्भगवद्गीता नीतिशास्त्र का सर्वश्रेष्ठ ग्रंथ है।

वर्तमान में नव युवा पीढ़ी को श्रीमद्भगवद्गीता के अध्ययन की आवश्यकता : वर्तमान के जीवन में नव युवा पीढ़ी प्रतिस्पर्धा भरे जीवन में तनाव से ग्रसित है, वर्तमान में युवाओं के समक्ष एक बड़ी समस्या मानसिक उद्विग्नता का है। आज के भौतिक युग में युवा असंतोष, अराजकता एवं किंकर्त्तव्यविमूढ़ता के जाल में फँसा हुआ है। आज युवाओं में धैर्य की कमी देखी जा रही है, जिसके कारण युवा अपना संतुलन खो बैठा है। तथा आत्महत्या जैसे जघन्य अपराध को अपना हथियार बना जीवन लीला को समाप्त कर रहा है। और इस प्रकार असफलता के कारण भौतिक तापों से दग्ध पीढ़ी को गीता के अध्ययन की सर्वाधिक आवश्यकता है।

विवेकानंद भगवद्गीता के संदर्भ में यही कहते है, कि यह एक ऐसा ज्ञान है, जो कि जो साधारण व्यक्ति के जीवन में परिवर्तन ला सकने में सक्षम है, यदि व्यक्ति प्रयास करे। भगवद्गीता में महाभारत का जो एक भाग प्रस्तुत होता है वह अज्ञानी को ज्ञानी बनाने में सक्षम है इसी संदर्भ में श्रीकृष्ण का यही संदेश है कि मानव अपने सत्कर्मों के माध्यम से मोक्ष की प्राप्ति कर सकता है। श्री कृष्ण एवं अर्जुन के संवाद के माध्यम से मनुष्य को इस जीवन में उच्च से उच्च आध्यात्मिक सिद्धि को प्राप्त करने का मार्ग जन्म मरण के चक्र एवं कर्मों के बंधनों से छुटकारा पाने का मार्ग गीता में बताया गया है। भारतीय संस्कृति में गीता का जितना महत्वपूर्ण स्थान है वह आदर सूचक है, महात्मा गाँधी एवं विनोबा जैसे दार्शनिकों ने भगवद्गीता को गीता माता की संज्ञा दी है। यहां तक की वेदांत दर्शन के स्रोत ग्रंथों प्रस्थान त्रयी में इसका प्रमुख स्थान है इस ग्रंथ का मुख्य प्रयोजन निष्काम कर्मयोग की शिक्षा है। कर्मयोग संबंधी कर्त्तव्यों की चर्चा में भगवान श्री कृष्ण ने अर्जुन को कर्मरहस्य को समझाते हुए कहा था:–

"कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि "।।[1]

अर्थात् हे अर्जुन तुम्हें अपना कर्म करने का अधिकार है, किन्तु कर्म के फलों के तुम अधिकारी नही हो इस कारण तुम कर्मो के फल का हेतु मत हो तथा तेरी कर्म न करने में तेरी आसक्ति न हो।

गीता के अनुसार जो कर्म किसी कामना या फल प्राप्ति की आकांक्षा से किए जाते है वह हमें बंधन में डालते है, इसके विपरीत जो कर्म फल प्राप्ति की इच्छा से रहित होकर किए जाते है, वह हमें मोक्ष प्रदान करते है अतएव निष्काम कर्म मोक्ष प्राप्ति का साधन है। जिस प्रकार एक साधारण मानव अपने जीवन में समस्याओं से ग्रसित होकर गिरता पड़ता उनका सामना करने में विफल हो जाता है, किसी कार्य को एक निश्चित दिशा देने के बावजूद वह हिचकता है, उसी तरह अर्जुन भी मानवीय दुर्बलताओं समस्याओं से ग्रसित है। भगवान श्रीकृष्ण अर्जुन को समझाते हुए कहते है,

"ध्यायतो विशयान्पुंसः सङगस्तेषूपजायते।
सङ्गत्सञ्जायते कामः कामात्क्रोधोधभिजायते"।।[2]
"क्रोधाद्भवति सम्मोहः सम्मोहात्स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभंशाद् बुद्धिनाषो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति "।।[3]

इन्द्रियविषयों के चिन्तन से मानव में आसक्ति उत्पन्न हो जाती है अतः ऐसी आसक्ति से काम उत्पन्न होता है और फिर काम से क्रोध उत्पन्न होता है, क्रोध से पूर्ण मोह उत्पन्न होता है और मोह से स्मरणशक्ति भ्रमित हो जाती है, तो बुद्धि नष्ट हो जाती है अतएव बुद्धि नष्ट होने पर मानव भव–कूप में पुनः गिर जाता है।

प्रत्येक व्यक्ति के जीवन में समस्याएं आती है, चाहे वह सामाजिक हों, राजनीतिक हो, आर्थिक हो या फिर आध्यात्मिक, तब मनुष्य जीवने में असहज सा व्यवहार करता है, और अपने जीवन में मानों हार सी महसूस करता है और भगवद्गीता में ऐसी ही स्थिति अर्जुन अपने विचारों को केशव से व्यक्त करते है, और कहते है, हे केशव मै बड़ा व्यथित हूं (गीता अध्याय 1 श्लोक 31) मुझे राज्य, वैभव, जय, यश कुछ नहीं चाहिए, हमें सुखों के भोगों से क्या लाभ जिसमें मेरे अपने ही उन सुखों में शामिल न हों। "भगवान कृष्ण अर्जुन को समझाते हुए कहते है, कि क्षत्रिय राजपूत और धर्मरक्षक होने के नाते उसका कर्त्तव्य है कि वह अधर्म और अशुभ से लड़े एवं धर्म को विजयी बनाए। अर्जुन तर्क वितर्क करता गया श्री:श्ण उसे समझाते गए कि युद्ध करना उसका धर्म है, कि उसे अपने स्वभाव और स्वधर्म का पालन करना चाहिए "।[4] इसी कथन के संदर्भ में कठोपनिषद में कहा गया है, कि :

"नविरतो दुश्चरितान्न शान्तो ना समाहितः।
नाशान्तमन शोवोपि प्रज्ञान– नैनमाप्नुयात् "।।[5]

जिसने दुश्चरिता का त्याग नहीं किया, जो अशान्त है तथा जिसका मन नियन्त्रण में नहीं है या जो एकाग्र नहीं है वह इस आत्मज्ञान को प्राप्त नही कर सकता परमार्थ साधन में निष्कामता वैराग्य, उपरति और "ene आदि का बहुत महत्त्व है यदि हम सामान्य सदगुणों को ही न प्राप्त न कर सकें, तो परमोर्थ की ऊँची सीढ़ियो पर कैसे आरूढ होगें।

अतः गीता में स्वयं भगवान श्री कृष्ण स्वधर्म पालन करने हेतु कहते है चार वर्णो के समूह को गुण एवं कर्मों के अनुसार उस परमात्मा द्वारा रचा गया है :– ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र। गीता के अनुसार जिस व्यक्ति के स्वभाव में सत्व गुण की प्रधानता है, वह ब्राह्मण है। जिसके स्वभाव में सत्वमिश्रित रजोगुण अधिक है, वह क्षत्रिय है। जिस व्यक्ति में तमोमिश्रित रजोगुण अधिक है वह वैश्य है और जिसमें रजोमिश्रित तमोगुण अधिक है वह शूद्र है और इस प्रकार गीता में वर्णो के कर्तव्यो के आधार पर विधान किया गया है।[6]

जाति प्रथा के आधार पर स्वधर्म का जो अर्थ लगा लिया जाता है, वह बिल्कुल ही गलत है। मनुष्य को वर्तमान तथा भविष्य में क्या करना चाहिए, यह उसकी परिस्थिति पर निर्भर करता है या फिर

उसके कर्त्तव्यों पर निर्भर करता है, मनुष्य अपने जीवन में जिस भी मुकाम पर है, तथा वह जिस भी परिस्थिति में जी रहा है, यह उसके अपने कर्त्तव्य पर निर्भर करता है, क्योंकि प्रत्येक व्यक्तियों की परिस्थितियों के अनुसार उनके कर्त्तव्य भी भिन्न हो सकते है गीता के अनुसार मनुष्यों के कर्त्तव्य उसके देशकाल, और नियत कर्म पर ही आधारित है।

भगवान श्री कृष्ण, अर्जुन को उसके कर्तव्यों को ज्ञात कराते हुए धर्म युद्ध के लिए प्रेरित कर रहें है, क्योंकि अर्जुन क्षत्रिय है और क्षत्रिय का कर्तव्य है कि वह धर्म युद्ध में आगे बढ़े तथा आसक्ति का त्याग करे। अपने धर्म का पालन करे। क्योंकि इस जगत में आकर प्रत्येक मनुष्य को अपने कर्तव्य रूपी कर्म को करना ही होता है, तभी गीता में कहा भी गया है, कि कोई भी मनुष्य क्षण भर के लिए भी कर्म का परित्याग नहीं कर सकता और यदि कोई व्यक्ति कर्मों का परित्याग करना भी चाहे तब भी उसके लिए ऐसा संभव नही। इसी कथन को भगवान श्री कृष्ण समझाते हुए कहते है-

"उत्सीदेयुरिमें लोका न कुर्यां कर्म चेदहम्
सङ्करस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः"।।[7]

श्रीमद्‌भगवद्‌गीता में भगवान श्री कृष्ण कहते है, कि यदि मै कर्म करना ही छोड़ दू, तब यह सभी मनुष्य नष्ट–भ्रष्ट हो जाए तथा मैं अव्यवस्थित जीवन का कर्ता हो जाऊँ, और इस समस्त प्रजा का हंता हो जाऊँ।

अतः भगवान गीता में विराट स्वरूप को दिखलाते हुए अर्जुन से कहते है, कि हे धनंजय इस संसार में जितनी भी वस्तुएं है, वह सभी मेरे द्वारा ही रचित है और प्रत्येक कण मे मै ही व्याप्त हूं और ईश्वर शुभ है इसलिए मनुष्य के सभी कर्म शुभ होना चाहिए, क्योकि मनुष्य के सारे कर्म ईश्वर के कर्म है और शुभ कर्म वही होता है जिससे सांसारिक जगत के प्राणी का कल्याण हो इस संसार के सभी प्राणी, व्यक्तियों का कल्याण ही लोक संग्रह है। और इस प्रकार संसार के प्रत्येक व्यक्ति का कर्तव्य होना चाहिए की मैं ऐसा कर्म करूं जिससे समाज के प्रत्येक व्यक्ति का कल्याण हो।

गीता में कहा गया है, कि मनुष्यों को लोक संग्रह की सफलता के लिए प्रयास करना चाहिए, प्राणी को लोक संग्रह के लिए यह आवश्यक है, कि वह स्थितप्रज्ञ हो क्योंकि जब मनुष्य स्वार्थ की भावना को त्याग कर लोक कल्याण के लिए आगे बढ़ता है तब यह आवश्यक है, कि मनुष्य का मन चंचल न हो चंचल मन से लोक कल्याण संभव नही, उसके लिए स्थिर बुद्धि का होना आवश्यक है। जिस मनुष्य में सुख की प्राप्ति होने पर तथा दुःख होने पर भी जिसके मन मे कोई भी उद्वेग नही होता है, तथा जिसके राग, द्वेश ,क्रोध, भय आदि नष्ट हो गए है, और ऐसा व्यक्ति ही स्थिरप्रज्ञ कहलाता है। ऐसा व्यक्ति ही सुख–दुःख प्रत्येक अवस्था मे आत्मिक शांति प्राप्त कर लेता है।

समत्व योग की शिक्षा :– सभी मनुष्यों के प्रति समान भाव ही समत्व बुद्धि है। काम, क्रोध, मोह, लोभ, एवं अंहकार के कारण ही प्राणी किसी अन्य प्राणी से द्वेष करता है और यही कारण ही मनुष्य किसी अन्य प्राणी को अपने से भिन्न समझाता है अतः इन पाँचों दोषों के कारण ही मनुष्य में राग–द्वेष होता है, अतएव मनुष्य को आसक्ति को त्याग कर निष्काम कर्म (कर्त्तव्यों) को करते हुए समत्व दृष्टि को प्राप्त करना है। गीता में समत्व दृष्टि को ही योग कहा गया है।

"योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः।
सर्वभुतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते"।।[8]

अर्थात् योग से युक्त, विशुद्ध अन्तःकरणवाला, आत्मजयी, इन्द्रिय समूह पर अपना नियन्त्रण रखने वाला, सभी प्राणियों की आत्मा को अपनी आत्मा समझने वाला वह योगी कर्म करता हुआ भी कर्म लिप्त नही होता।

हे धनंजय तुम योग में स्थिर होकर, आसक्ति का त्यागते हुए, कर्मों को उनकी सिद्धि या असिद्धि में समान भाव रखकर करो। और इस प्रकार समत्व भाव को योग कहा गया है। "योग: कर्मसु कौशलम्" अर्थात् समत्व योग में ही कर्मों में कुशलता है।[9]

"उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत् ।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः"।।[10]

अर्थात् अपनी आत्मा का उद्धार स्वयं करें, और अपने को अधोगति में न डालें, क्योंकि वह मनुश्य आप ही अपना मित्र है और आप ही षत्रु है। जिस मनुश्य की इंद्रियाँ और मन नियन्त्रण में रहते है, वह उनका इच्छानुसार उपयोग कर सकता है।

आज के वर्तमान परिवेश में प्रत्येक मनुश्य चारों पुरुषार्थों– धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का अनुसरण करते हुए एक सफल जीवन जीने की चेष्टा रखता है। व्यक्ति जब सुखी होता है तो अपने गुणों का बखान करता हुआ परमतत्व को भूल जाता है और जब दुखी होता है तो ईश्वर को दोष देता हुआ, शिकायत करता हुआ अपने भाग्य पर आंसू बहाता है। ऐसे में वह बैरागी हो जाता है। परंतु पुनः पुनः इसी सुख–दुःख के भंवर में डोलता रहता है। इसलिए संसारी व सन्यासी दोनों के लिए यह आवश्यक है कि अपने अपने धर्म और कर्त्तव्य का पालन करते हुए, स्वयं के साक्षात्कार के परमावश्यक लक्ष्य को प्राप्त करते हुए, मानव जीवन को सफल बनाएं। न तो मनुष्य तामसी होकर आलस्य में जाए और न ही अति कर्मठ होकर मुख्य ध्येय को भूल जाए अपितु सत्व गुण में स्थित होकर निर्लिप्त भाव से, बहुजन हिताय बहुजन सुखाय को चरितार्थ करते हुए अपने परमलक्ष्य की ओर बढ़ता जाए। भगवद्‌गीता का यही मूल संदेश है कि मनुष्य कर्म योगी होकर जिए_ कर्म भी करे और भीतर ही भीतर चेतना के साथ योग में भी रहे.

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है, कि वर्तमान समय में मानव अपने मूल लक्ष्य को भूलकर अपनी जिप्सा, असन्तुलित और मानसिक विकृति के कारण स्वयं ही अपनी श्रेष्ठता पर प्रश्न चिन्ह लगा रखा है अपने तनावग्रस्त जीवन में जीविकापोर्जन को मुख्य लक्ष्य मानते हुए वह अपने परम लक्ष्य से भटक रहा है। आज के वर्तमान समय में श्रीमद्‌भगवद्‌गीता की शिक्षा मानव को उसके जीवन में उसके लक्ष्य की ओर प्रोत्साहन दे सकता है, यदि व्यक्ति निष्ठा पूर्वक इस शिक्षा पर चलने का प्रयास करें।

संदर्भ–

1. श्रीमद्‌भगवद्‌गीता 2।। 47।।
2. श्रीमद्‌भगवद्‌गीता 2।। 62।।
3. श्रीमद्‌भगवद्‌गीता 2।।63।।
4. भारतीय दर्शन : आलोचन और अनुशीलन "चन्द्रधर शर्मा" पेज न 15
5. कठोपनिषद 1। 2। 24।
6. श्रीमद्‌भगवद्‌गीता 4।। 13
7. श्रीमद्‌भगवद्‌गीता 3।। 24
8. श्रीमद्‌भगवद्‌गीता 5 ।। 7।।
9. श्रीमद्‌भगवद्‌गीता 2 ।। 48 ।।50
10. श्रीमद्‌भगवद्‌गीता 6।। 5।।

भारत में नई शिक्षा नीति का स्वरूप

डॉ. राकेश कवचे
सहायक प्राध्यापक, दर्शनशास्त्र
शास.ठाकुर रणमत सिंह महाविद्यालय रीवा (म0प्र0)
डॉ.ज्योति पाण्डेय
अतिथि विद्वान
शास.ठाकुर रणमत सिंह महाविद्यालय रीवा (म0प्र0)

मानव के चरित्र निर्माण और राष्ट्र के विकास में शिक्षा महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। किसी देश में जब कोई बड़ा बदलाव करना हो तो सबसे पहले उसकी शिक्षा नीति को बदलना चाहिए। शिक्षा के इसी महत्व को समझते हुए प्रधानमंत्री की अध्यक्षता वाली केन्द्रीय कैबिनेट ने राष्ट्रीय शिक्षा नीति –2020 को मंजूरी दी। मानव संसाधन विकास मंत्रालय द्वारा 34 वर्ष के उपरान्त देश में नई शिक्षा नीति को लागू किया जा रहा है। इससे पूर्व देश में दो बार शिक्षा नीति में बदलाव किया गया था। प्रथम बार इंदिरा गांधी के समय 1968 में और दूसरी बार राजीव गांधी के समय 1986 में जिसमें 1992 में पी.वी. नरसिम्हाराव द्वारा संसोधन किया गया था।

दुनियाभर के बेहतर गुणवत्ता वाले विश्वविद्यालयों की सूची में भारत के पिछड़ने के बाद यह उम्मीद की जा रही थी कि सरकार और समुची व्यवस्था इस मामले में सुधार के लिए कुछ पहल करेगी जिससे इसमें सुधार हो। इसका मसौदा 2019 में ही तैयार कर लिया गया था। इसरो के प्रमुख रह चुके डॉ0 के0 कस्तूरीरंजन की अध्यक्षता में वर्ष 2017 में एक सदस्यीय समिति का गठन किया था। समिति ने इस शिक्षा नीति का मसौदा तैयार किया था। साथ ही मानव संसाधन विकास मंत्रालय का नाम बदलकर शिक्षा मंत्रालय करने को मंजूरी दे दी गई है।

स्कूल शिक्षा में बदलाव कर नई शिक्षा नीति में 10+2 के फार्मेट को पूरी तरह खत्म कर दिया गया है और अब इसे 5+3+3+4 के फार्मेट में बदल दिया गया है। नई शिक्षा नीति में चार चरण होंगे जो क्रमशः 3 से 8, 8 से 11, 11 से 14 और 14 से 18 साल के बच्चों के लिए होगा। प्रथम चरण फाउण्डेशन स्टेज माना जायेगा। इसमें छात्रों की मजबूत नींव तैयार की जायेगी। द्वितीय चरण में छात्रों का परिचय विज्ञान, कला, गणित, सामाजिक विज्ञान जैसे विषयों से करवाया जायेगा। तीसरे चरण में छात्रों को तय पाठ्यक्रम पढ़ाया जायेगा। चौथे व अन्तिम चरण में छात्रों में किसी विषय के प्रति गहरी समझ पैदा की जायेगी, उनकी विश्लेषण क्षमता को बढ़ाया जायेगा और उन्हें जीवन में बड़े लक्ष्य निर्धारित करने के लिए प्रेरित किया जायेगा। Foundation Stage के तहत पहले 3 साल तक बच्चे आंगनबाड़ी में प्री स्कूली शिक्षा लेंगे, फिर अगले दो साल कक्षा 1 एवं 2 में बच्चे स्कूल में पढ़ेंगे। इन पांच सालों की पढ़ाई के लिये एक नया पाठ्यक्रम तैयार होगा। प्रीपेटरी स्टेज के तहत कक्षा 3 से 5 की पढ़ाई होगी। इस दौरान प्रयोग के माध्यम से बच्चों को विज्ञान, गणित, कला आदि की पढ़ाई करायी जायेगी। मिडिल स्टेज में कक्षा 6 से 8 तक की कक्षाओं की पढ़ाई होगी। इन कक्षाओं में विषय आधारित पाठ्यक्रम पढ़ाया जायेगा। कक्षा 6 से ही प्रोफेशनल और कौशल विकास कोर्स शुरू किये जायेंगे। स्थानीय स्तर पर इंटर्नशिप भी करायी जायेगी। व्यवसायिक शिक्षा और कौशल विकास पर जोर देने का मकसद बच्चों को स्कूली शिक्षा के दौरान ही रोजगार हासिल करने के लायक बनाना है। सेकेण्डरी स्टेज में कक्षा 9 से 12 की पढ़ाई दो चरणों में होगी। इसमें विषयों का गहन अध्ययन कराया

जायेगा। इसमें विषयों को चुनने की आजादी भी होगी। पहले 10+2 व्यवस्था के तहत सरकारी स्कूलों में प्री–स्कूलींग नही थी। कक्षा 1 से 10 तक सामान्य पढ़ाई होती थी और कक्षा 11 से विषय चुनने की आजादी थी। पहले 6 साल मे पढ़ाई शुरू होती थी लेकिन अब नई नीति के तहत 3 साल में ही बच्चे की पढ़ाई शुरू हो जायेगी। 10वीं और 12वीं बोर्ड परीक्षाओं में बड़े बदलाव किये जायेगें। नई शिक्षा नीति के तहत कक्षा 3, 5 व 8 मे भी परीक्षायें होगी जबकि 10 वीं और 12 वीं की बोर्ड परीक्षायें आबजेक्टिव और सबजेक्टिव फार्मेट में साल में दो बार होगी। बोर्ड परीक्षा में मुख्य जोर ज्ञान के परीक्षण पर होगा ताकि छात्रों में रटने की प्रवृत्ति खत्म हो। इस लिहाज से सरकार की यह सोच बेहद स्वागत योग्य है।

नई शिक्षा नीति में स्कूलों से स्ट्रीम सिस्टम खत्म होगा अर्थात कोई छात्र कला का है तो वह विज्ञान की पढ़ाई कर सकता है और कोई छात्र एकाउन्ट का है तो वह बायोलॉजी की पढ़ाई कर सकता है। इसके लिए अलग–अलग विषयों का एक पूल तैयार किया जायेगा। नई शिक्षा नीति में 5वीं तक और जहां तक संभव हो सके 8वीं तक शिक्षा का माध्यम मातृ–भाषा, स्थानीय या क्षेत्रीय भाषा होगा। विदेशी भाषा की पढ़ाई सेकेण्डरी लेबल से होगी यानि 9वीं कक्षा से बच्चे विदेशी भाषा ले सकेगें। विद्यार्थियों को स्कूल के सभी स्तरों और उच्च शिक्षा में संस्कृत को विकल्प के रूप में चुनने का मौका दिया जायेगा। त्रिभाषा फार्मूला के तहत राज्य, क्षेत्र और छात्र की पसंद को प्राथमिकता दी जायेगी। जिसमें कम से कम दो भारतीय भाषा होगी। उदाहरण के लिए गुजरात में अगर कोई छात्र गुजराती और अंग्रेजी सीख रहा है तो उसे तीसरी भाषा कोई भारतीय पढनी होगी। इसमें किसी भी विद्यार्थी पर कोई भी भाषा थोपी नहीं जायेगी। भारत की अन्य पारंपरिक भाषायें और साहित्य भी विकल्प के रूप में उपलब्ध होगें।

उच्च शिक्षा की बात करें तो उच्च शिक्षा में पहली बार मल्टीपल एंट्री और एक्जिट सिस्टम लागू किया गया है। अगर कोई छात्र बीच में ही कोई कोर्स छोड़ देना चाहता है तो उसके साल बर्बाद नहीं होगें। अगर 4 साल का अण्डर ग्रेजुएट कोर्स है तो 1 साल के बाद कोर्स छोड़ने पर सर्टिफिकेट, 2 साल के बाद डिप्लोमा, 3 साल पर कोई इंटरमिडिएट सर्टिफिकेट और 4 साल बाद कम्पलीट डिग्री मिलेगी। इससे उन छात्रों को बहुत फायदा होगा जिनकी पढ़ाई बीच में ही किसी वजह से छूट जाती है। अगर वह कुछ साल बाद किसी दूसरे कोर्स मे दाखिला लेते है तो पहले वाले कोर्स का सर्टिफिकेट या डिप्लोमा को इस नये कोर्स में अहमियत दी जायेगी। इसे क्रेडिट ट्रांसफर कहा जा सकता है। विभिन्न उच्च शिक्षण संस्थानों से प्राप्त अंको या क्रेडिट को डिजिटल रूप मे सुरक्षित रखने के लिये एक Academic Bank of Credit होगा ताकि अलग–अलग संस्थानों में छात्रों के प्रदर्शन के आधार पर उन्हें डिग्री प्रदान की जा सके।

नई शिक्षा नीति के मुताबिक यदि कोई छात्र इंजिनियरिंग कोर्स को 2 वर्ष में ही छोड़ देता है तो उसे डिप्लोमा प्रदान किया जायेगा। इससे इंजिनियरिंग छात्रों को बडी राहत मिलेगी। 5 साल का संयुक्त ग्रेजुएट मास्टर कोर्स लाया जायेगा। नई शिक्षा नीति में छात्रों को यह आजादी भी होगी कि अगर वे कोई कोर्स बीच में छोड़कर दूसरे कोर्स मे दाखिला लेना चाहे तो वे पहले कोर्स से खास निश्चित समय तक ब्रेक ले सकते है और दूसरा कोर्स ज्वाइन कर सकते है। अब 3 साल का डिग्री कोर्स उन छात्र के लिए होगा जिन्हें हायर एजुकेशन नहीं लेना है और शोध में नहीं जाना है। वहीं शोध में जाने वाले छात्रों को 4 साल की डिग्री करनी होगी। 4 साल की डिग्री वाले छात्र 1 साल में M.A. कर सकेगें। इसके बाद सीधे पीएच.डी. कर सकेगें। इसके लिए अब छात्रों को M.Phil करने की जरूरत नही होगी।

उच्च शिक्षा में 2035 तक 50 : Gross Enrolment Ratio पहुंचाने का लक्ष्य रखा गया है। Gross Enrolment Ratio किसी शिक्षा के स्तर पर कुल योग्य आबादी की वह संख्या है जो शिक्षण संस्थानों में दाखिला ले चुके है। उदाहरण के लिये उच्च शिक्षा मे दाखिला लेने के लिये आयु वर्ग के कुल छात्रों की आबादी 100 है लेकिन 60 छात्रों ने ही दाखिला लिया है तो यह अनुपात 60: कहलायेगा। यही कारण है कि उच्च शिक्षा में इस अनुपात को बढाने के लिये 3.5 करोड़ नई सीटें जोड़ने की बात कही गयी है। यह नीति 2030 तक या उसके बाद हर जिले में कम से कम एक बड़ी बहु–विषयक (Multidisciplinary) संस्था बनाने पर ध्यान केन्द्रीत करने की बात करती है। इसके तहत तकनीकी संस्थाओं में भी कला और मानविकी के विषय पढ़ाये जायेगें। IIT समेत देशभर के सभी तकनीकी संस्थान Holistic approach यानी समग्र दृष्टिकोण अपनायेगें। साइंस, आर्टस, कॉमर्स जैसा कोई विभाजन नहीं होगा। छात्र अपनी पसंद के कोई भी विषय चुन सकेगें। इसे बहुत बड़ा बदलाव माना जा रहा है। मेडिकल और लॉ को छोड़कर सभी उच्च शिक्षा के लिये Higher Education Commision Of India बनाया जायेगा जो UGC की जगह लेगा। नई शिक्षा नीति में देशभर के सभी संस्थानों मे दाखिला के लिये एक Common Entrance Exam. आयोजित कराने की बात कही गयी है। यह Exam. NTA करायेगा जो वैकल्पिक होगी और सभी छात्रों के लिये इस परीक्षा में बैठना अनिवार्य नहीं रहेगा।

उच्च शिक्षा मे UGC, AICTE, NCTE की जगह अब एक ही नियामक होगा। अनुसंधान संस्कृति एवं अनुसंधान क्षमता को बढ़ावा देने के लिए एक शीर्ष निकाय के रूप में नेशनल रिसर्च फाउंडेशन (NRF) की स्थापना की जायेगी। इसका मकसद विश्वविद्यालयों के जरिए शोध की संस्कृति को सक्षम बनाना है। NRF स्वतंत्र रूप से सरकार द्वारा एक बोर्ड ऑफ गवर्नर द्वारा शासित किया जायेगा। इलेक्ट्रानिक पाठ्यक्रम क्षेत्रीय भाषाओं में विकसित किये जायेगें। वर्चुअल लैब विकासित की जा रही है और एक राष्ट्रीय शैक्षणिक टेक्नालॉजी फोरम बनाया जा रहा है। सभी भारतीय भाषाओं के संरक्षण, विकास और उन्हें जीवंत बनाने के लिये नई शिक्षा नीति में पाली, फारसी और प्राकृत भाषाओं के लिये अनुवाद संस्थान की स्थापना करने की बात कही गयी है। उच्च शिक्षण संस्थानों में संस्कृत और सभी भाषा विभागों को मजबूत करने और ज्यादा से ज्यादा उच्च शिक्षण संस्थाओं के कार्यक्रमों मे शिक्षा के माध्यम के रूप में मातृभाषा या स्थानीय भाषा का उपयोग करने की सिफारिश की गयी है। शिक्षा में तकनीक के इस्तेमाल पर जोर दिया गया है। इसमें ऑनलाइन शिक्षा का क्षेत्रीय भाषा में कंटेन्ट तैयार करना, वर्चुअल लैब, डिजिटल लाइब्रेरी, स्कूलों, शिक्षकों और छात्रों को डिजिटल संसाधनों से लैस कराने जैसी योजना शामिल है। नेशनल मेण्टरिंग प्लान के जरिये शिक्षकों को उन्नयन किया जायेगा। इस प्रकार नई राष्ट्रीय शिक्षा नीति छात्रों को मजबूत नींव प्रदान करने के साथ ही रोजगारोन्मुखी बनाने में सहायक होगी जिससे वह राष्ट्र के निर्माण में अपना महत्वपूर्ण योगदान दे सकेगें।

सन्दर्भ :–

1. National Education Policy 2020, Ministry of Human Resource Development Government of India. PP 22
2. जीतेन्द्र यादव, नई शिक्षा नीति–2020 और मेरे विचार, 10 नवम्बर 2020, पृष्ठ 45
3. अतुल कोठारी, राष्ट्रीय शिक्षा नीति–2020 भारतीयता का पुनरुत्थान, प्रभात प्रकाशन, प्राईवेट लि. दिल्ली, 2021, पृष्ठ 55
4. अतुल कोठारी, शिक्षा विकल्प एवं आयाम, प्रभात प्रकाशन, प्राईवेट लि. दिल्ली, 2019, पृष्ठ 25
5. अतुल कोठारी, शिक्षा में भारतीयता एक विमर्श, प्रभात प्रकाशन, प्राईवेट लि. दिल्ली, पृष्ठ 20